भारतीय सामाजिक समस्याएँ

लेखक

प्रोफेसर लक्ष्मीनारायण शास्त्री "समाज-विज्ञान-वेत्ता"
हिन्दी विद्यापीठ, देवघर

भूमिका लेखक

प्रोफेसर राजाराम शास्त्री
श्री काशी विद्यापीठ, बनारस

प्रकाशक

हिन्दी विद्यापीठ, वैद्यनाथ-देवघर

प्रथम संस्करण]   सं० २०१०   [मूल्य ५)

प्रकाशक
हिन्दी विद्यापीठ,
वैद्यनाथ-देवघर

मुद्रक—
उमादत्त शर्मा
रत्नाकर प्रेस
११-ए, सैयद साली लेन,
कलकत्ता-७

समर्पण

महान् तपस्वी देशभक्त
समाज-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान्
आचार्य नरेन्द्र देव
के
चरण कमलों में
उनके
विद्वत्तापूर्ण कार्य - कलापों से
अनुप्राणित
लेखक की यह
कृति
सादर समर्पित है।

दो शब्द

आज समाज में तरह-तरह की समस्याएँ वर्तमान हैं। सारा संसार ही सामाजिक समस्याओं से त्रस्त हो रहा है। विश्व में कहीं भी पूर्ण सुख और शान्ति का नाम नहीं है। भारत की अवस्था तो और भी चिन्ताजनक है। यहाँ के समाज को अनेक प्रकार की समस्याओं ने जकड़ रखा है। आज चारों ओर शोषण, उत्पीड़न, घृणा, उपेक्षा, भ्रष्टाचार और अन्याय फैला हुआ है। किसी भी समाज-सेवक का समाज की इन दुर्दशाओं की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। समाज की दुखी अवस्था की ओर ध्यान जाने पर इच्छा हुई कि मैं भी समाज की सेवा में कुछ हाथ बटाऊँ, परन्तु शीघ्र ही शंका उपस्थित हुई कि आखिर मेरे पास साधन ही क्या हैं और मैं यहाँ कर ही क्या सकता हूँ? थोड़ी देर के लिए निराशा तो अवश्य हुई, परन्तु शीघ्र ही यह निराशा दूर हुई और अन्तर से प्रेरणा हुई कि मेरे पास भी सेवा के कुछ साधन हैं, जिन्हें मैं समाज की सेवा में स्वेच्छापूर्वक लगा सकता हूँ। समाज-विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते और कुछ नहीं सही, पर जो कुछ मैंने अब तक अर्जित किया है उसे तो समाज के लिए दे ही सकता हूं। यद्यपि मेरे पास देने के लिए कुछ भी नहीं है फिर भी समाज की ही चीजों को अपनी ओर से समाज को देने की धृष्टता की है, उसके लिए मैं समाज से क्षमा चाहता हूँ।

आज हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है, परन्तु सामाजिक समस्याओं पर हिन्दी में खोजने पर भी कोई पुस्तक नहीं मिलती। समाज के लिए सब से उपयोगी विषय समाज-शास्त्र पर हमें इनेगिने पुस्तकें ही दृष्टिगोचर होती हैं। सदियों से गुलामी की जंजीरों में जकड़े रहने के कारण हमने विदेशियों की भाषा को ग्रहण किया और यही कारण है कि हिन्दी की ओर किसी ने ध्यान तक न दिया और हमारा हिन्दी-साहित्य सर्वथा अपूर्ण रहा। हिन्दी में राष्ट्रभाषा होते हुए भी यदि यह

अभाव बना रहा तो इससे बढ़कर हमारे लिए अपमान की और कौन-सी बात होगी ?

हिन्दी-साहित्य में एक नूतन विषय होने के कारण पारिभाषिक शब्दों की कठिनाईयाँ तो हैं ही, यद्यपि मैंने इसे हल करने का यथा-शक्ति प्रयत्न किया है किन्तु सतत् चेष्टा के बावजूद भी मुझे असफलता ही हाथ लगी और यत्र-तत्र अंग्रेजी के शब्दों का ही प्रयोग करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-भाषा का ज्ञान नहीं के बराबर होने के कारण भाषा सम्बन्धी बहुत-सी त्रुटियाँ पाठक को खटकेंगी, जिसके लिए मैं क्षमा चाहता हूं और साथ ही निवेदन करता हूं कि विज्ञ पाठक त्रुटियों को दर्शाने का कष्ट करेंगे जिससे कि मैं दूसरे संस्करण में उसे ठीक कर सकूं। आशा ही नहीं वरन् मुझे पूर्ण विश्वास है कि भाषा-विशेषज्ञ मेरी गलतियों को दर्शाने की चेष्टा करेंगे।

पुस्तक के लिखते समय विविध सलाह-परामर्श में मुझे काशी विद्यापीठ के प्रोफेसर श्री रमाशंकर पांडे का जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', श्री गंगा बाबू, श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव', श्री ठाकुर प्रसाद सिंह, श्रीपंचानन मिश्र आदि विद्वानोंको मैं हृदय से धन्यवाद देता हूं जिन्होंने पुस्तक की पांडुलिपि को देखने का कष्ट उठाते हुए उचित सुझाव देने की कृपा की है। हिन्दी-विद्यापीठ का तो मैं आभारी हूं ही पर इसके संस्था-पक तथा व्यवस्थापक श्री शिवराम झा तथा श्री मदनलाल काँया का मैं विशेष रूप से आभारी हूं, जिन्होंने पुस्तक को प्रकाशित कराने का कष्ट उठाया है। मैं अपने गुरु प्रोफेसर राजाराम शास्त्री का चिरऋणी रहूंगा जिन्होंने पुस्तक की भूमिका लिख कर मेरे उत्साह को दूना बढ़ाया है। अन्त में मैं पं० उमादत्त शर्मा तथा अन्य लोगों को भी धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से मेरे भार को हलका किया है।

हिन्दी-विद्यापीठ, देवघर
२ वैशाख संवत् २०१०

—लक्ष्मीनारायण

भूमिका

प्रत्येक समाज के सम्मुख सदा कुछ समस्यायें रहती ही हैं। प्रश्न यह उठता है कि इन समस्याओं का स्वरूप क्या है ? इस विषय में विचार करने के लिये हमें समाज की बुनियादों को देखना होगा। आखिर समाज बना ही क्यों ? शायद इसीलिये कि बाह्य प्रकृति का सामना करने, उससे सामंजस्य स्थापित करने, उसे अपने अनुकूल बनाने और उस पर विजय प्राप्त करते हुए अपनी सतत उन्नति करने के लिये व्यक्ति की शक्ति पर्याप्त नहीं थी। मानव के विकास के लिये समाज एक आवश्यक उपकरण था। इसके माध्यम से ही वह जीवन के संघर्ष में अपनी रक्षा कर सका और सफलता प्राप्त कर सका। तो फिर समाज मनुष्य का वह उपकरण है, जिससे वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है। किसी भी औजार का अपने काम के अनुकूल होना आवश्यक होता है। साधन को साध्य के अनुरूप होना पड़ता है। किन्तु प्रकृति सतत परिवर्तनशील है। स्वयं मनुष्य भी उसे परिवर्तित करता रहता है। इस बदलती हुई प्रकृति पर जो औजार चलाना है, उसे भी बदलते रहना होगा। यदि पारिस्थितिक परिवर्तनों के अनुकूल परिवर्तन समाज में न हुए, तो वह अपने कार्य में कुण्ठित हो जाता है। उसके प्रयोग से मनुष्य की शक्ति बढ़ने के स्थान पर घटने लगती है। उसका विकास रुकने लगता है। सब से बड़ी सामाजिक समस्या यही होती है कि समाज बदलती हुई परिस्थिति के अनुकूल नहीं रहा। यह सारे समाज की समस्या होती है। उसके पूरे ढाँचे को ही बदलने का प्रश्न होता है। यह सामाजिक क्रान्ति की समस्या है। किन्तु इस व्यापक समस्या का अनुभव समाजरूपी शरीर का प्रत्येक अंग अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से करता है और तफसील में सामाजिक समस्या के अनेक रूप हो जाते हैं।

सारांश यह कि अपनी परिस्थिति के साथ सामंजस्य रखना मानव समाज की मुख्य समस्या है। उससे अपना संघटन इस प्रकार का रखना पड़ता है, जिससे परिस्थिति से शक्ति के आदान-प्रदान में वह लाभ में रहे और इसकी अभिव्यक्ति उसकी उत्तरोत्तर उन्नति में होती रहे। जब ऐसी स्थिति नहीं रहती और अपने जीवन-यापन के क्रम में समाज की शक्ति का व्यय अधिक होता है, तब समाज क्षीण और ह्रासोन्मुख होने लगता है। यह समाज की महान् समस्या है। इसका अर्थ यह होता है कि समाज का ढांचा परिस्थिति के अनुकूल नहीं है और उसमें आवश्यक परिवर्तन करते रहना पड़ता है। इस मूल समस्या से ही समाज की अन्य आन्तरिक समस्यायें उद्भूत होती हैं। समाज के ढाँचे को ठीक करने का अर्थ होता है, उसके अवयवों का पुनर्संगठन, उनके पारस्परिक सम्बन्धों में परिस्थित्यनुकूल परिवर्तन तथा उनमें जो विरोध उत्पन्न हो गये हैं उनका परिहार। अतएव समाज के अवयवों में परस्पर असामंजस्य ही सामाजिक समस्या का रूप हो जाता है। समाज के अवयव, उसके व्यक्ति, परिवार तथा अवान्तर समुदाय होते हैं। अतएव क्षेत्र भेद से सामाजिक समस्यायें भी तीन वर्गों में विभाजित हो जाती हैं व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामुदायिक। यदि व्यक्ति अपने जीवन को समाज के अनुकूल नहीं कर पाता तो यह व्यक्तिगत समस्या है, यदि परिवार सामाजिक आदर्शों का पालन नहीं कर पाता तो पारिवारिक समस्या उत्पन्न होती है और यदि कोई समुदाय समाज के अन्य अंगों से मेल नहीं खाता तो वह सामुदायिक समस्या को जन्म देता है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति शरीर या मन से कुछ स्थायी रूप से अस्वस्थ हो जाता है तो वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति नहीं कर पाता। इसीलिये समाज में अन्धे, बहरे-गूंगे तथा पंगु आदि अंगहीनों और पागलों की समस्या व्यक्तिगत मानी जाती है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति के पारिवारिक सम्बन्धों में गड़बड़ी होती है और इसके फल-स्वरूप परिवार में असामंजस्य, फूट और कलह उत्पन्न होते हैं या परिवार विघटित हो जाता है तो भी सामाजिक आदर्शों की रक्षा नहीं होती—इसीलिये तलाक,

परित्याग, वैधव्य तथा अनाथता आदि पारिवारिक समस्यायें मानी जाती हैं और यदि समाज के विभिन्न समुदायों का पारस्परिक सम्बन्ध अनुकूल नहीं होता और उनमें संघर्ष रहता है तो समाज की प्रगति में सब का पूर्ण सहयोग नहीं होता और उसमें अनेक विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। इसी अर्थ में जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, सम्पत्ति-भेद तथा देश-भेद अथवा विस्थापन आदि की समस्यायें सामुदायिक समस्यायें कहलाती हैं।

एक बात और ध्यान देने की है और वह यह कि समस्या चाहे व्यक्तिगत हो, पारिवारिक हो या सामुदायिक हो, दो-चार व्यक्तियोंसे वह सामाजिक समस्या नहीं बनती। दस-पांच अन्धों या पागलों से अथवा दो-चार तलाकों से समाज के लिये कोई समस्या उपस्थित नहीं होती और न थोड़े से सम्प्रदाय-वादियों से समाज के लिये कोई खतरा होता है। जब इनकी संख्या समाज के वर्तमान औसत से अथवा अन्य समाजों के औसत से बढ़ने लगती है और उत्तरोत्तर बढ़नेकी ओर उन्मुख होती है, तभी वह एक सामाजिक समस्या के रूप में अनुभूत होती है।

किन्तु सामाजिक समस्याओं का क्षेत्र-विभाजन उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना उनके कारणों का निर्धारण। और जब हम कारणों पर आते हैं तब बात इतनी आसान भी नहीं रहती। प्रश्न यह होता है कि किसी समस्या का कारण कहाँ तक व्यक्ति को ठहराया जाय और कहाँ तक समाज को? इस प्रश्न का महत्त्व इसलिए है कि हमें व्यवहार में निश्चय करना पड़ता है कि किसी समस्या के हल के लिए समाज के ढाँचे को बदलना आवश्यक है अथवा उस ढांचे के अन्दर ही व्यक्ति का सुधार किया जा सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि सभी समस्याओं में व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के कारण विद्यमान रहते हैं और दोनों को सर्वथा पृथक् करना कठिन होता है। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह देखा जा सकता है कि प्रधानता किस की है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि क्षेत्र के अनुसार जिन्हें व्यक्तिगत समस्या कहा गया है जैसे—अंगहीनता आदि उनमें व्यक्तिगत कारण ही मुख्य होता है,

चाहे वह व्यक्ति का कर्म हो अथवा दुर्घटना हो। सामाजिक पक्ष इनमें गौण होता है। इसी प्रकार सामुदायिक समस्याओं में जैसे वर्ग-संघर्ष में समाज ही मुख्य कारण होता है, व्यक्ति गौण होता है। किन्तु पारिवारिक समस्याओं में जैसे कौटुम्बिक कलह में, यह निर्णय करना अधिक कठिन है कि व्यक्तिगत कारण अधिक प्रबल हैं या सामाजिक। एक व्यावहारिक पक्ष से इस गुत्थी को सुलझाने की चेष्टा की जा सकती है। हम देखते हैं कि जहाँ व्यक्तिगत कारणों की प्रधानता होती है वहाँ समस्या के हल की एक सीमा बन जाती है, वहाँ हमें केवल रक्षात्मक उपायों से काम लेना पड़ता है। वहाँ सामाजिक रोग की चिकित्सा करना समाज-सेवी के लिए सम्भव नहीं होता, केवल बीमारी से बचाव के उपाय किये जा सकते हैं। और जहाँ कारण मुख्यतः सामाजिक होता है, वहाँ उसकी चिकित्सा सम्भव होती है। उदाहरण के लिए अन्धापन या पागलपन जैसी व्यक्तिगत व्याधियों की उत्पत्ति के बाद समाज अपनी ओर से आपद्ग्रस्त व्यक्ति के लिए विशेष कुछ नहीं कर सकता। बहुधा ये व्याधियाँ असाध्य होती हैं। ऐसी स्थिति में समाज उसके जीवन की रक्षा कर सकता है, उसे बेकारी के कारण मरने से बचा सकता है, अपनी ओर से उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध कर सकता है, उसकी शक्तियों के अनुरूप काम निकालकर और उसे उस काम में लगाकर सामाजिक जीवनमें उसका थोड़ा बहुत पुनर्स्थापन भी कर सकता है। किन्तु उसका सामाजिक पुनर्स्थापन पूर्णरूप से होना कठिन होता है। वास्तव में समाज इन समस्याओं के प्रति अपनी जिम्मेदारी का प्रमाण उन उपायों के द्वारा देता है, जिनसे लोग इन विपत्तियों से बच सकें। वह उनकी आर्थिक आय बढ़ाकर और उनके लिए सामाजिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है, जिससे लोग उस प्रकार की व्याधियों के शिकार न हों अर्थात् इस प्रकार की व्याधियों का परिमाण यथासंभव कम हो जाय। एक बार उत्पन्न हो जाने पर इस प्रकार की व्याधियों की चिकित्सा मुख्यतः व्यक्तिगत रूप से ही हो सकती है। दूसरी ओर साम्प्रदायिकता आदि समस्याओं के उपाय में हम दूसरी स्थिति देखते हैं।

यहाँ समाज चिकित्सक के रूप में उपस्थित होता है। पहले से इन समस्याओं से बचाव का उपाय कठिन है। उत्पन्न हो जाने पर इनके शमन का उपाय ही करना पड़ता है। समाज पर इनकी पूरी जिम्मेदारी होती है। क्योंकि ये समस्यायें समाज के किसी विशेष रूपमें स्वाभाविक रूपसे क्रमशः उत्पन्न होती हैं; सामाजिक ढाँचे के परिणामस्वरूप होती हैं और कालक्रम में उस ढाँचे की जीर्णता तथा ह्रासावस्था का प्रमाण देती हैं। उन्हें पहले से नहीं रोका जा सकता किन्तु उनकी उत्पत्ति के बाद समाज के लिये उनका समाधान करना आवश्यक हो जाता है। व्यक्तिगत रूप से इन समस्याओं का हल नहीं किया जा सकता।

अब इस सूत्र से यदि उन पारिवारिक समस्याओं पर विचार किया जाय, तो उनमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक कारणों का अलगाव इतना कठिन नहीं रहता। पारिवारिक कलह में व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही प्रकार के कारण आते हैं, इसमें तो सन्देह ही नहीं। पारिवारिक असामञ्जस्य आर्थिक दरिद्रता, बेकारी आदि के कारण हो सकता है, जिसके लिये सामाजिक परिस्थितियाँ जिम्मेदार होती हैं अथवा व्यक्तिगत संस्कारों के भेद या शिक्षा-दीक्षा के दोष से उत्पन्न हो सकता है। पहली स्थिति में सामाजिक स्थिति के परिवर्तन से ही उसका शमन हो सकता है, व्यक्तिगत प्रयास से नहीं। दूसरी स्थिति में व्यक्तिगत प्रयास ही मुख्य है, समाज एक दीर्घकालीन रक्षात्मक प्रयत्न ही कर सकता है, जिससे व्यक्तियों की शिक्षा इस प्रकार हो कि असामञ्जस्य के तत्त्व उनके चरित्र में यथासम्भव कम किये जा सकें।

इसी सूत्र से हम व्यक्तिगत क्षेत्रकी समस्याओं में भी सामाजिक कारणों को अंशतः देख सकते हैं, और तदनुसार उनके समाधान का उपाय कर सकते हैं। उदाहरण के लिये अपराध की समस्याओं का क्षेत्र यद्यपि व्यक्ति है, किन्तु उसमें सामाजिक कारणों का समावेश स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। यदि ऐसा न होता तो समाज इस बात की जिम्मेदारी क्यों अनुभव करता कि ऐसी स्थितियाँ बदली जांय जिनमें अपराधी मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सामुदायिक क्षेत्र से वर्ग विद्वेष को लीजिये। यद्यपि उसकी जिम्मेदारी स्पष्टरूप

से सामाजिक है, किन्तु संघर्ष के दोनों पक्षों के संचित संस्कार और समय की गति के अनुकूल शिक्षा का अभाव भी उसे खामखाह जटिलतर बना देते हैं और समुचित शिक्षण के द्वारा इस समस्या का निराकरण तो नहीं, किन्तु यत्किञ्चित् यापन अवश्य हो सकता है। वास्तव में सभी समस्याओं में व्यक्तिगत तथा सामाजिक तत्त्व मिले-जुले रहते हैं। प्रधानता के अनुसार ही किसी एक को अधिक महत्व दिया जाता है और तदनुसार समस्याओं का वर्गीकरण किया जाता है तथा उनके निराकरण की पद्धति मुख्य कारण से निर्धारित होती है, किन्तु गौण कारणों की भी उपेक्षा नहीं की जाती।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री लक्ष्मीनारायण शास्त्री भारतीय सामाजिक समस्याओं के विशेषज्ञ हैं, उन्होंने काशी विद्यापीठ से समाज-विज्ञान-वेत्ता की उपाधि प्राप्त की है और इस समय हिन्दी विद्यापीठ देवघर में समाज-शास्त्र के प्राध्यापक हैं। समाज-सेवा की इन प्रमुख संस्थाओं की परम्परा ने उनकी व्यक्तिगत योग्यता से मिलकर भारतीय सामाजिक समस्याओं पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के लिये उन्हें सर्वथा उपयुक्त बना दिया है। इस विषय पर इस ढंग की यह पहली पुस्तक है और लेखक ने प्रामाणिक रीति से सरल भाषा में विषय के सब अङ्गों को उपस्थित किया है। हमें विश्वास है कि हिन्दी के पाठक और भारतीय विश्व-विद्यालय इसका समुचित आदर करेंगे।

काशी विद्यापीठ, बनारस
१ बैशाख, सं० २०१०

—राजाराम

भारतीय सामाजिक समस्याएँ

विषय-सूची

दो शब्द ... क—ख

भूमिका ... ग—ज

प्रथम खण्ड

अध्याय | विषय | पृष्ठ

१—विषय प्रवेश ... ३—६

२—विषय स्वरूप और क्षेत्र .... ७—२०

सामाजिक समस्या—समाज का स्वरूप और सामाजिक समस्याएँ—सामाजिक परिवर्तन—गत्यात्मक समाज की समस्या—व्यक्ति और समाज का असामञ्जस्य—सामाजिक विशृङ्खलता—सामाजिकउलझन—सामाजिक समस्या-सामाजिक रोग—आदर्श समाज—सामाजिक समस्या का क्षेत्र।

३—अध्ययन के दृष्टिकोण ... ... २१—२५

माननतावादी दृष्टिकोण—धार्मिक दृष्टिकोण—वैज्ञानिक दृष्टिकोण।

४—समस्याओं के मूलभूत कारण ... . २५—३८

(१) निर्धनता—(२) अज्ञानता—अज्ञानता के कारण

द्वितीय खण्ड

१—वैयक्तिक विशृङ्खलता .... ४१—४६

वैयक्तिक विशृङ्खलता—वैयक्तिक पुनर्संगठन।

२—असमर्थों की समस्या ४६–६०

असमर्थों की समस्या—असमर्थों की संख्या—शारीरिक असमर्थता—अन्धों की समस्या—अंधों की संख्या—अंधों की शिक्षा—भारत में अंधों के लिए काम करने वाली संस्थाएं—बहरा-गूँगा—बहरा-गूंगा होने के कारण—लंगड़ा-लूला—लूला-लंगड़ा होने के कारण—कुष्ठरोग की समस्या—कुष्ठरोग होने के कारण—कुष्ठ रोगियों की संख्या—मुख्य पहचान—कुष्ठ-रोगी-सेवक—निराकरण के उपाय—कुष्ठरोगी और महात्मा गान्धी—अस्वस्थता—भारतीय जनस्वास्थ्य सम्बन्धी आंकड़े—भारतीय जन्म-मृत्यु के आंकड़े—बाल-मृत्यु सम्बन्धी आंकड़े—अस्वस्थता को दूर करने के उपाय—मानसिक असमर्थता—मानसिक अपूर्णता—चिकित्सा—मानसिक रोग—मानसिक रोग के कारण—मानसिक रोग के प्रकार।

३—मद्यपान तथा अन्य नशा ६१–६८

नशा सेवन करनेवालों का वर्गीकरण—नशा सेवन के कारण—मद्यपान का समाज पर प्रभाव—भारत में मद्यनिषेध कार्य और उसकी सफलता—मद्यनिषेध के कुछ आवश्यक उपाय।

४—आत्महत्या ६६–१०५

आत्महत्या—आत्महत्या के कारण—आत्महत्या को कम करने के उपाय।

५—भिक्षावृत्ति की समस्या १०६–१२०

भिक्षुओं के प्रकार—भिक्षावृत्ति के कारण—भिक्षावृत्ति को रोकने के लिए आवश्यक उपाय।

६—बेकारी की समस्या १२१–१३०

बेकारी के आंकड़े—बेकारी के कारण—बेकारी के फलस्वरूप होनेवाली बुराइयाँ—बेकारी को दूर करने के उपाय।

७. अपराध की समस्या ... ... १३१—१६७

अपराध की परिभाषा—अपराध के कारण—अपराध के मनोवैज्ञानिक कारण—अपराधों का वर्गीकरण—भारतीय दण्ड-विधान के दोष—दण्ड के सिद्धान्त—दण्ड-व्यवस्था—गांधी जी का अपराध और दण्ड पर विचार—अपराधी जाति—अपराधों की संख्या—अपराध निवारण के उपाय—सप्रतिबंध-मुक्ति—आश्वासन मुक्ति—अपराधी की पुनर्व्यवस्था।

८—बाल-अपराध की समस्या ... ... १६८—१८४

बाल-अपराध के कारण—बाल-अपराध को दूर करने के उपाय।

तृतीय खण्ड

१—पारिवारिक समस्या ... ... १८७—२१०

परिवार—परिवार का उद्गम—समाज में परिवार का स्थान—परिवार और व्यक्ति—भारतीय परिवार—सम्मिलित परिवार के गुण—सम्मिलित परिवार के दोष—सम्मिलित परिवार में स्त्रियों का स्थान—गृह-कलह—कलह के कारण—गृह-कलह को दूर करने के उपाय—परिवार विघटन—नई समस्या—एक और खतरा।

२—नारी समस्या ... ... २१०—२१८

३—परदा और अशिक्षा ... ... २१९—२२९

परदा—अशिक्षा।

४—वैवाहिक कुरीतियाँ ... ... २३०—२३९

विवाह—बाल-विवाह—अनमेल-विवाह।

५—वैधव्य ... ... २४०—२५०

विधवाओं की संख्या में वृद्धि के कारण—वैधव्य के फलस्वरूप उत्पन्न बुराइयाँ—विधवाओं की देख-रेख के वर्तमान साधन तथा किये जानेवाले उपाय।

६—वेश्यावृत्ति २५१–२७१

वेश्यावृत्ति का विकास—वेश्यावृत्ति अपनाने के कारण—वेश्यावृत्ति का समाज पर प्रभाव—वेश्यावृत्ति को कम करने के उपाय।

७—परित्याग और अवैध सम्बन्ध २७२–२८१

परित्याग के कारण—परित्याग करनेवालों के प्रकार—अवैध सम्बन्ध—समाज पर प्रभाव।

८—निराश्रित और उपेक्षित बच्चों की समस्या ... २८२–२८६

चतुर्थ खण्ड

१—जनसंख्या वृद्धि की समस्या २८३–३१६

जनसंख्या खाद्य-सामग्री और मकान—जनसंख्या नियन्त्रण और प्रकृति—जनसंख्या नियन्त्रण।

२—साम्प्रदायिक समस्या ३१७–३२२

३—वर्णव्यवस्था, जाति और अस्पृश्यता ३२२–३३६

वर्ण-व्यवस्था—जाति—अस्पृश्यता—जाति और अस्पृश्यता से बुराइयाँ—उपाय—कार्यप्रणाली।

४—आदिवासियों की समस्याएँ ३३७–३६३

उपेक्षित और पिछड़ा जीवन—अशिक्षा—निर्धनता—अस्वस्थता—सामाजिक और धार्मिक अविकास—भारत की आदिवासी जातियाँ—समस्याओं का निराकरण—समस्याओं के निराकरण में भाग लेनेवाली संस्थाएँ।

५—हरिजनों की समस्या ३६४–३७५

भारत की हरिजन जातियाँ।

६—पिछड़ी जातियों की समस्या ३७५–३८६

भारत की पिछड़ी जातियां—निराकरण के उपाय—पिछड़ी जाति के लिए आयोग।

भारतीय सामाजिक समस्याएँ

प्रथम खण्ड

भारतीय सामाजिक समस्याएँ

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

सामाजिक समस्या समाजके प्रारम्भसे ही रही है। आदि कालमें जो समस्या थी वह प्राथमिक समस्या थी। उस समय मनुष्यके पास बुद्धि के अतिरिक्त और कोई वस्तु न थी। जीवन-रक्षा ही आदि-काल की मूल समस्या थी। जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए मनुष्य को तरह-तरह के संघर्षों का सामना करना पड़ता था। विश्व के अन्य जीवों की अपेक्षा मानव असहाय और कमजोर था। बुद्धि के बल से ही मानव सदा अपनी समस्याओं पर विजय करता चला आया है।

सामाजिक समस्या सदा एक सी नहीं रही है। समाज के परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक समस्या भी सदा परिवर्तित होती रहती है। एक ही बात कभी सामाजिक समस्या का हल होती है, तो कभी वह स्वयं समस्या का रूप धारण कर लेती है अर्थात् सामाजिक समस्या के हल के निमित्त जिन वस्तुओं का आविष्कार होता है ; वह वस्तु स्वयं भी एक दिन समस्या बन सकती है।

जब मनुष्य जंगली अवस्था में था, वह प्रकृति से अपना आहार प्राप्त करता था। आहार प्राप्ति के लिए उसे जंगली जानवरों से संघर्ष करना पड़ता था। जानवरों को मारकर आहार प्राप्त करना उसका

आर्थिक प्रयत्न था। इस प्रयत्न में कभी-कभी वह स्वयं भी जानवरों का आहार बन जाता था। इस तरह जीवन-रक्षा की समस्या प्रबल थी। किसी का भी जीवन खतरे से खाली नहीं था। किन्तु आगे चलकर मनुष्य ने बुद्धि के बल से तरह-तरह के आविष्कारों द्वारा तरह-तरह के औजारों को बनाकर जानवरों पर विजय प्राप्त की और वह अपने जीवन को बहुत कुछ सुरक्षित कर सका।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं का भी विकास होता चला आया है। मातृ सत्ता-प्रधान समाज में वैसी सामाजिक समस्या न थी, जैसी पितृ-सत्ता-प्रधान समाज में दिखाई पड़ती है। पितृ-सत्ता होने पर नैतिकता का द्विगुणस्तर सामने आया। आगे चलकर आर्यों ने अपने सैद्धान्तिक काल्पनिक विचारों के अनुसार समाज का स्वरूप निर्माण किया। मनु, याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों ने स्मृतियां बनाईं और समाज को कर्मवाद, दैववाद और पुनर्जन्मवाद से आबद्ध कर सामाजिक समस्याओं के नियंत्रण का प्रयत्न किया। इन वादों से समाज अब भी जकड़ा हुआ है और ये वाद सामाजिक परिवर्तन में आज प्रबल बाधक प्रतीत हो रहे हैं।

बाह्य आक्रमणकारियों ने भारत को भौतिकवादी विचारों से प्रभावित किया। ब्राह्मणों का भिक्षाटन धार्मिक अंग था, इसीसे भिक्षावृत्ति का प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों के पहले वेश्यावृत्ति का आधार धार्मिक था, पर बाद में यह वृत्यात्मक (Professional) एवं व्यावसायिक आधार पर चलने लगी। अंग्रेजों से हम ने जनतांत्रिक और वैज्ञानिक प्रवृत्ति ग्रहण की। औद्योगिक विकास ने समाज का स्वरूप ही बदल डाला और विभिन्न प्रकार की आधुनिक समस्याओं को जन्म दिया। औद्योगिक क्रान्ति के फल स्वरूप तरह-तरह के नूतन आविष्कार हुए और तरह-तरहकी मशीनें बनीं। उत्पादन में वृद्धि एवं कला के तत्व में परिवर्तन हुआ। सामन्तशाही समाप्त हुई, नूतन समाज का

निर्माण हुआ और आगे चलकर पूँजीवाद का विकास हुआ। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की स्थितियों ने विभिन्न प्रकार के रोगों को जन्म दिया और प्रत्येक स्थिति में समाज के सामने एक न एक समस्या आती ही रही।

औद्योगिक परिवर्तन ने सामाजिक समस्याओं को बढ़ाने में बहुत काम किया। इसने पुराने समाज को भंग कर समाज को बुरी तरह परेशान किया। इसके फलस्वरूप भारतीय परिवार विघटित हो चला। आबादी का स्थानान्तर हुआ। गाँव के लोग शहरों में चले गये, क्योंकि गृह-उद्योग नष्ट हो जाने के कारण गाँव में रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना असंभव हो गया। शहरों की आबादी घनी होनेके फलस्वरूप नाना प्रकार की समस्याएं उठ खड़ी हुईं। कारखानों में सबकी खपत न होनेके कारण बेकारी बढ़ी, और उसके फलस्वरूप भी अनेक समस्याएँ पैदा हुईं।

आज समाज में एक अजीब परेशानी दिखाई पड़ती है। व्यक्ति के आगे तरह-तरह की समस्याएं नजर आती हैं। समाज का स्वरूप कुछ इस ढंग का हो गया है कि व्यक्ति अपना सामंजस्य करने में सफल नहीं हो रहा है। मानव जीवन में एक संक्रान्ति काल आया प्रतीत होता है। आज व्यक्ति यह स्थिर नहीं कर पा रहा है कि वह क्या करे? इस नित्य परिवर्तित संसार में व्यक्ति अपना लक्ष्य और आदर्श स्थिर करने में अपने को असमर्थ पाता है। इस तरह अनेकों उलझनों के बीच छटपटाता हुआ व्यक्ति राह ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है· पर कोई राह नहीं दिखाई पड़ती। समाज का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक आधार बदलता जा रहा है। सामाजिक वातावरण कुछ इस ढंग का हो गया है कि व्यक्ति यह निर्णय नहीं कर पा रहा है कि वह किस प्रकार के जीवन को अपना आदर्श बनावे। घोर अन्धकार के बीच से ठोकरें खाता गिरता-उठता किसी

तरह आगे बढ़ने की चेष्टा करता है फिर अथाह जलराशि के बीच जा पहुंचता है। जल की तीव्र धारा उसे बहाकर दूर ले जाती है, जहाँ से चारों ओर कहीं किनारा दृष्टिगोचर नहीं होता। उत्ताल तरंगों के बीच डूबता-उतराता वह यह भी नहीं निर्णय कर पाता है कि उसे किस ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। वह निस्सहाय और किंकर्त्तव्यविमूढ़ है।

सामाजिक समस्याओं का आज ऐसा जाल बिछा हुआ है, जिनसे बचकर मनुष्य का चलना कठिन प्रतीत होता है। इसके निराकरण के लिए हमें समाज विज्ञान, समाज सुधार और समाज सेवा की सहायता मिल सकती है। समाज विज्ञान से हमें सामाजिक समस्याओं के पहचानने में सहायता मिलती है। समाज सुधार सामाजिक दर्शन को काम में लाता है और इसके द्वारा नियम एवं कानून बनाकर समाज का सुधार किया जा सकता है। इसमें समाज की रक्षा पर अधिक जोर दिया जाता है। समाज-सेवा का उद्देश्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना है। सामाजिक बुराइयों को दूर करते हुए यह समाज को अच्छे रास्ते पर लाने की चेष्टा करता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सुखी बनाना इसका प्रमुख लक्ष्य है।

द्वितीय अध्याय

विषय-स्वरूप और क्षेत्र

सामाजिक समस्या

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही रह सकता है। समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समाज दुनिया को अपने अनुरूप देखने की चेष्टा करता है। जब व्यक्ति अन्य व्यक्ति, समाज एवं संस्थाओं से अपना सामञ्जस्य नहीं कर पाता है, तब सामाजिक समस्या का स्वरूप सामने आता है। इस तरह सामाजिक समस्या की परिभाषा देते हुए हम कह सकते हैं कि सामाजिक समस्या उन असफलताओं का परिणाम है जो कि मनुष्य अपने जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के संघर्ष में पराजित होकर स्वयं, समाज एवं संस्थाओं के साथ अपना सामञ्जस्य बनाये रखने में असमर्थ रह कर अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक समस्या समाज की उस स्थिति को कहते हैं, जो किसी दृष्टिकोण से असहनीय प्रतीत हो अर्थात् उस स्थिति से लोगों को एक बेचैनी-सी प्रतीत हो। इस तरह की स्थिति गलत या अस्वाभाविक कही जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक समस्या की अवस्था में मानव-समाज तुलनात्मक दृष्टि से कार्य करने या अपने उद्देश की प्राप्ति करने में असफल रहता है।

समाजका लक्ष्य रहता है कि वह उचित रूप से अपना कार्य कर सके और उसके अन्दर कोई अव्यवस्था न होने पावे। समाज के अन्दर रहने वाला व्यक्ति सन्तोषजनक जीवन व्यतीत कर सके, यही उसका

प्रमुख ध्येय रहता है। सामाजिक समस्या के अनुशीलन का अर्थ होता है कि उसका कोई हल निकाला जा सके। इसमें सामाजिक समस्याओं का अध्ययन व्यावहारिक रूप में सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने तथा सामाजिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए होता है। सामाजिक समस्या का अध्ययन उसका लाक्षणिक स्वरूप बतलाता है। यह उस आदर्श सामाजिक स्थितिका विस्तृत और व्यवस्थित स्वाभाविक रूप-रेखा का निर्माण करता है, जिसमें ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

समाज का स्वरूप और सामाजिक समस्याएँ— समाज का स्वरूप अर्थात् समाज का ढाँचा, सामाजिक रीति-नीति एवं परम्परा के आधार पर बनता है। सामाजिक रीति-नीति, आदर्श, स्तर, परम्परा, संस्था और संगठन के आधार पर ही किसी भी समाज का स्वरूप निर्मित होता है। यदि समाज का स्वरूप अच्छी तरह निर्मित होता है और उसमें व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को आसानी से पूरी कर लेता है, तो व्यक्ति का जीवन सन्तोषप्रद होता है और उसमें सामाजिक समस्याओं की बहुत कम सम्भावना रहती है। यदि समाज का कोई सदस्य किसी दृष्टि से अपंग है, किन्तु समाज उसकी भी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता है तो ऐसे समाज में असन्तोष की भावना बहुत कम होती है। ऐसे समाज के अन्दर समाज के सभी सदस्यों के बीच एक समता का व्यवहार होता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और समाज के स्वरूप में समता होने के फलस्वरूप समाज में कभी किसी तरह की समस्या उत्पन्न नहीं होती। इस तरह का समाज स्थायात्मक या मन्द-गति समाज होता है। ऐसे समाज में या तो परिवर्तन होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत कम और इतनी मन्द-गति से कि स्पष्ट पता भी नहीं चलता। ऐसे समाज में व्यक्ति को कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती। वह समाज के सारे नियमों का आदी हो जाता है। समाज में सब का सम्बन्ध बँध जाता है और

एक अर्से तक बँधे रहने के फलस्वरूप यह एक प्रथा का रूप धारण करता है। भारत की जाति-प्रथा को हम इसके उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। जाति-प्रथा यहाँ बहुत दिनों से चली आ रही है और कुछ दिन पूर्वतक इसमें कोई ऐसी विश्रृङ्खलता नहीं दिखाई पड़ी। इसका एक मात्र कारण यह है कि इस मानी में यहाँ नियम की स्थिरता रही है यानी यहाँ का समाज बहुत कुछ स्थात्यात्मक समाज रहा है। जब व्यक्ति सामाजिक प्रथाओं, परम्पराओं और संस्थाओं का आदी हो जाता है तब वह कोई दुःखद अनुभव नहीं करता। वह समाज के अन्दर दूसरे व्यक्ति और संस्था के सम्बन्धमें किसी प्रकार का कटु अनुभव नहीं करता। जिन वस्तुओं को वह प्राप्त नहीं कर पाता है, उनके लिए उसके अन्दर किसी भी प्रकार की बेचैनी नहीं होती और वह अपने को प्रवंचित नहीं अनुभव करता।

दूसरी ओर इसके विपरीत जब व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं, तब प्रवंचनाके फलस्वरूप उसके अन्दर एक प्रकार की बेचैनी छायी रहती है, समाज का स्वरूप ही कुछ इस ढंग का बना होता है कि व्यक्ति उसके अनुसार सन्तोष पाने में तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहता है। इस तरह एक सामाजिक समस्या खड़ी हो जाती है। व्यक्ति समाज के उद्देश्य के अनुसार सामाजिक जीवन व्यतीत करने में असफल रहता है। व्यक्ति का अन्य व्यक्ति से तथा व्यक्ति का समाज से जो सम्बन्ध होता है, उसमें किसी प्रकार की समता नहीं रहती और एक असन्तोष की भावना बनी रहती है। ये बातें गत्यात्मक समाज में विशेष रूप से पाई जाती हैं, क्योंकि गत्यात्मक समाज में सदा परिवर्तन होता रहता है और परिवर्तन के फलस्वरूप समाज का स्वरूप सदा बदलता रहता है।

सामाजिक परिवर्तन—जब समाज में कोई तीव्र परिवर्तन होता है और उस परिवर्तन के साथ व्यक्ति अपना सामञ्जस्य नहीं कर पाता

है, तब सामाजिक समस्या की उत्पत्ति होती है क्योंकि परिवर्तन के फल स्वरूप व्यक्ति के रहन-सहन का तौर-तरीका एवं स्तर बदल जाता है। जब कोई नया आविष्कार होता है तब समाज में एक परिवर्तन आता है। समाज की पुरानी संस्थाएँ उस परिवर्तन को अपनाने में असमर्थ रहती हैं और वे पिछड़ जाती हैं। अतः वे उन परिवर्तनों का विरोध करती हैं, किन्तु परिवर्तन का प्रभाव इस तीव्र-गति से होता है कि उसका असर सारे समाज पर फैल जाता है; और वह समाज के सारे पुराने नियमों को भंग कर उसके स्थान पर नवीन नियमों की स्थापना करता है। वैज्ञानिक आविष्कार उत्पादन के साधनों को बदल देता है। उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हो जाने पर उसका समाज के दूसरे अंगों पर गहरा असर होता है, जिसके फलस्वरूप समाज में बेचैनी छा जाती है। इस तीव्र परिवर्तन को जो स्वीकार कर लेता है और अपने को परिवर्तन के अनुकूल बना लेता है, वह उसी परिवर्तित स्थिति से सन्तोष करता है। परन्तु जो उस परिवर्तन के साथ अपना सामञ्जस्य नहीं कर पाता है, वह अपने को एक ऐसी अवस्था में पाता है कि उसे कभी सन्तोष नहीं होता, उसके जीवन में काफी खींचा-तानी होती रहती रहती है। एक तरफ तो वह अपने पुराने स्थान और पुरानी प्रतिष्ठा पर गर्व करता है और दूसरी तरफ अपनी सारी प्रतिष्ठा को भंग होते देख उसे स्वीकार करने में असमर्थ रहता है और उसके विरोध करने का असफल प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि समाज का स्वरूप विकृत हो जाता है और सामाजिक जीवन में विश्रृङ्खलता आ जाती है। इस तरह सामाजिक सम्बन्धों में (व्यक्ति का व्यक्ति के साथ, और व्यक्ति का समाज और संस्था के साथ जो सम्बन्ध रहता है, उसमें) एक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। पुराने सभी संगठन ढीले पड़ जाते हैं; नये प्रकार के आचार-विचार और नये प्रकार के जीवन-स्तर की स्थापना हो जाती है। पुराने सभी सम्बन्धों को हटा कर नया सम्बन्ध

उसका स्थान ग्रहण करता है। पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था लागू होती है। इस नई व्यवस्था में मनुष्य का सामाजिक-स्तर, स्त्रियों का सामाजिक-जीवन, बच्चों की देखरेख तथा पालन-पोषण का सम्बन्ध, यौन-सम्बन्ध, पारिवारिक-सम्बन्ध, परिवार का आकार-प्रकार, रीति-रस्म आदि सारे सामाजिक सम्बन्ध और नियम एक नये ढंग से और नये स्तर पर बन जाते हैं। समाज की विचारधारा नई प्रकार की बन जाती है जो कि परिवर्तित अवस्थाके अनुकूल होती है। समाज का नया आदर्श और नया दर्शन चल पड़ता है। समाज का स्वरूप नये रंग में रँग जाता है। तरह-तरह की बुराइयों को दूर करने के लिए तरह-तरह के उपाय काम में लाये जाते हैं और इस तरह बहुत से प्रयोगों द्वारा पुनर्व्यवस्था का प्रयत्न किया जाता है।

व्यक्ति और समाज का असामंजस्य सामाजिक समस्या का द्योतक है। व्यक्ति और समाज के बीच के सामंजस्य को भंग करने वाला प्रभाव या तो व्यक्ति में होता है या सामाजिक परिवर्तन में। इस तरह वैयक्तिक प्रभाव और सामाजिक-परिवर्तन दोनों के प्रभाव से सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति होती है। व्यक्तिके द्वारा यह परिवर्तन विशेषकर वंश-परम्परा के गुणों की देन से होता है, जो कि पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होता। सामाजिक स्वरूप में यह परिवर्तन नये आविष्कार से, नये प्राकृतिक साधनों की खोज से तथा नये प्रकार के राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के संगठन के फलस्वरूप होता है।

गत्यात्मक समाज की समस्या—इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक समस्या सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। स्थात्यात्मक या मंदगति समाज में किसी तरह की सामाजिक समस्या नहीं होती। गत्यात्मक समाज में ही समस्या का जन्म होता है। स्थात्यात्मक समाज किसी तरह के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होता।

प्रारम्भिक स्थानीय समूह में या किसानों के गाँव में अनुभवयोग्य सामाजिक परिवर्तन बहुत कम होते हैं। वह ज्यों-का-त्यों पड़ा रहता है और एक तरह से अपरिवर्तनीय होता है। वह अपनी प्राचीन रूढ़ियोंके अनुसार ही चलता रहता है, जिससे न तो उसमें कोई दोष आता है और न कोई समस्या ही खड़ी होती है। परन्तु आधुनिक पश्चिमी ढंग की सभ्यताओंसे प्रभावित समाज में सदा परिवर्तन होता रहता है और सामाजिक समस्या दिन दूनी और रात चौगुनी के क्रम से बढ़ती रहती है। समाज की नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन होने के फलस्वरूप एक असंतुलन हो जाता है। उद्योग, व्यापार, यातायात और संवादवाहन की वृद्धि, परिवर्तित दृष्टिकोण, नूतन आविष्कार आदि कारणों से आज की नैतिक व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन आ गये हैं। ये परिवर्तन कल्याण और नैतिकता की नई परिभाषा देते हैं और वही परिभाषा के फलस्वरूप इनके साथ ही साथ सामाजिक समस्याएँ और सामाजिक योजनाएँ भी आती हैं।

स्थात्यात्मक समाज में किसी तरह की समस्या उत्पन्न नहीं होती, पर साथ ही साथ उसका विकास भी रुका रहता है। उसका सामाजिक जीवन स्थिर-सा हो जाता है और इस तरह उसके जीवन में कोई उन्नति नहीं हो पाती।

व्यक्ति और समाज का असामंजस्य—व्यक्ति समाज में रहता है, क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। समाज में ही रहकर वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। उसमें जो कुछ भी गुण-दोष है, वह समाज से ही उसने प्राप्त किया है। समाज में ही रहकर व्यक्ति सारी बातों को सीखता है। यदि किसी बच्चे को प्रारम्भ से ही समाज से अलग रखा जाय, ता उसमें कोई भी मानव-व्यवहार एवं मानवोचित गुण नहीं दिखाई पड़ेगा।

समाज की बुरी व्यवस्था के फलस्वरूप ही सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति होती है। जब व्यक्ति का अपने समाज के साथ अच्छी तरह सामञ्जस्य नहीं होता है, तब वह सामाजिक समस्या का विषय हो जाता है। जब किसी परिस्थिति में व्यक्ति अपने समाज के बनाये नियमों के अनुसार चलने में असमर्थ रहता है, तब वह एक अजीब दृष्टि से देखा जाता है और समाज के अन्य लोग उससे सहयोग करना छोड़ देते हैं। जिस समाज में जो व्यक्ति रहता है, उसके आदर्श को बनाये रखना उसके लिये आवश्यक होता है। यदि व्यक्ति किसी भी कारण से समाज के आदर्श को बनाये रखने में असफल रहता है, तो वह अपने साथियों द्वारा एक समस्या के रूप में देखा जाता है। इतना ही नहीं, वरन् वह अपने आपको भी वैसा ही समझने लगता है। वह स्वयं इस पर विचार करता है, पर लाचारीवश कुछ कर नहीं पाता और इस तरह वह एक जटिल उलझन में पड़ जाता है। मानसिक संतुष्टि नहीं मिलने के कारण वह तरह-तरह के मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है। कभी-कभी वह समाज द्वारा दी गई सुविधाओं को पाकर अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा करता है। इस प्रयत्न में कभी-कभी वह परोपजीवी और खुशामदी भी हो जाता है, क्योंकि उसे अपने आपका ज्ञान नहीं रह जाता तथा आत्म-सम्मानको भी वह बिलकुल खो बैठता है।

प्रत्येक समाज में कुछ नियम बने होते हैं, उन नियमों के अनुसार समाज का एक आदर्श और स्तर बना होता है। जब व्यक्ति समाज के बनाये हुए आदर्श और स्तर पर नहीं चलता है, तब उसका समाज के साथ सामंजस्य होना कठिन हो जाता है। समाज की रीति-नीति के अनुसार व्यक्ति को चलना पड़ता है और यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है, तो वह अनैतिक और विश्रृङ्खलित समझा जाता है।

सामाजिक विशृंखलता--सामाजिक समस्या को समझने

के लिए 'सामाजिक विश्रृंखलता' शब्द का व्यवहार किया जाता है। समाज की छिन्न-भिन्न अवस्था को ही सामाजिक समस्या कहते हैं। यह छिन्न-भिन्न अवस्था परिवर्तन के फलस्वरूप होती है। उदाहरण के लिये पारिवारिक जीवन के परिवर्तन को लिया जा सकता है। जब पारिवारिक जीवनमें कोई परिवर्तन आता है, तब परिवार का सारा संबंध छिन्न-भिन्न हो जाता है।

प्राचीन समाज-शास्त्रियों ने समाज को एक मशीन के समान माना है, पर वास्तविक अर्थ में समाज की तुलना मशीन से नहीं की जा सकती। मशीन में उसके पुर्जे का अलग कोई स्थान नहीं होता, पर व्यक्ति का अपना अलग अस्तित्व भी होता है। व्यक्ति समाज पर अपना प्रभाव डाल सकता है। परन्तु मशीन का पुर्जा मशीन पर कोई असर नहीं डाल सकता। यहाँ समाज और मशीन की तुलना से हमारा तात्पर्य है कि जिस प्रकार मशीन के हर एक पुर्जे का परस्पर इस तरह का संबंध होता है कि उसके एक पुर्जे में खराबी आ जाने पर सारी मशीन में खराबी आ जाती है, ठीक उसी तरह समाज का प्रत्येक अंग बहुत कुछ एक दूसरे से संबंधित होता है और एक दूसरे पर आधारित होता है। जब समाज के किसी एक अंग में कुछ परिवर्तन होता है, तब समाज के सारे अंगों पर उसका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है। परिवर्तन के प्रभाव के फलस्वरूप समाज में एक प्रकार का असंतुलन एवं तनाव उत्पन्न होता है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक पुनःसंगठन दोनों की क्रिया साथ-साथ चलती है और दोनों को एक दूसरे से आसानी से अलग नहीं किया जा सकता है, यद्यपि कुछ लेखकों ने इसके वैज्ञानिक होने की कल्पना के आधार पर अलग-अलग करने का प्रयत्न किया है। परिवर्तन के फलस्वरूप परिवार के पुराने स्वरूप के स्थान पर एक नया स्वरूप आ जाता है और वह परिवार में पुराने जैसा ही स्थान पा लेता

है। इस तरह सामाजिक समस्या में सामाजिक विश्रृङ्खलता और सामाजिक पुनःसंगठन दोनों का समान रूप से हाथ होता है। रूढ़िवादी विश्रृंखलता को और सुधारवादी पुनःसंगठन को अधिक महत्व देता है। कुछ सामाजिक कार्य ऐसे होते हैं जिनमें सामाजिक परिवर्तन बहुत तीव्र गति से होता है, और उससे अधिकाधिक विश्रृंखलता एवं पुनःसंगठन की स्थिति पैदा होती है, किन्तु उससे सामाजिक समस्या की उत्पत्ति नहीं होती। इसके उदाहरण में हम पहनावे, सजावट और मनोरंजन के ढङ्ग तथा फैशन को ले सकते हैं इस तरह हम कह सकते हैं कि परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक समस्या की उत्पत्ति होती है ; परिवर्तन स्वयं सामाजिक समस्या नहीं है।

सामाजिक उलझन—सामाजिक समस्या के अन्दर सामाजिक उलझन दिखायी जाती है। इसमें समाज की उस स्थिति का वर्णन होता है जो कि समाज के अधिकांश सदस्यों के लिए प्रतिकूल होती है। सामाजिक उलझन उभय पक्ष के बीच होती है। स्थिति से लाभ उठाने वाला और कठिनाई में पड़ने वाला, दोनों ही वर्ग आपस में उलझ जाते हैं और इस तरह की उलझन से वर्ग संघर्ष तथा युद्धादि भीषण समस्या उत्पन्न हो जाती है। भिन्न रीति-रस्म और संस्कृति के लोगों के मिश्रण से भी सामाजिक उलझन भीषण रूप धारण करती है और तरह-तरह की सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

सामाजिक समस्या-सामाजिक रोग—प्राचीन समाज शास्त्रियों ने समाज को एक शरीर के रूप में माना है और व्यक्ति को उसका अंग। सामाजिक-रोग-निदान के अध्ययन के सिलसिले में समाज की शरीर रूपा सत्ता को मान लिया गया है। जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंग होते हैं और सबका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार समाज के भी भिन्न-भिन्न अंगों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध होता है।

सामाजिक समस्या को समझने के लिए सामाजिक-रोग-निदान-कर्त्ता उसी तरह समाज के विभिन्न अंगों को देखता है, जिस प्रकार एक डाक्टर या वैद्य शारीरिक अंगों को। वास्तविक दृष्टि में समाज को शरीर के रूप में नहीं देखा जा सकता है, परन्तु सामाजिक बुराइयों को समझने के लिए हमें ऐसा मान लेना चाहिए।

रोग-निदान के अध्ययन में एक ऐसी अवस्था को मान लिया जाता है, जो कि सामान्य-अवस्था कही जाती है। शरीर की उस सामान्यावस्था में बीमारी का बीज शरीर में नहीं होता और शरीर के सभी अंग निर्बाध-गति से काम करते रहते हैं। कार्य की गति शरीर की आकृति के अनुसार होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्यावस्था और रोगावस्था शरीर की विभिन्नता के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है। जीव-विज्ञान सम्बन्धी क्षेत्र में इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक जीव (पौधे पशु और मनुष्य) में अलग-अलग विचित्र प्रकार के रोग होते हैं। समाज-विज्ञान के अनुसार इसका अभिप्राय है कि सामाजिक-रोग विभिन्न प्रकार के समाज के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। जैसा जो समाज होता है, वैसा ही उसमें रोग होता है। समय-समय पर समाज में जैसा परिवर्तन होता है वैसा ही सामाजिक-रोगों में भी परिवर्तन होता है। इस तरह एक ही समाज में विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक-समस्या होती है।

सामान्य समाज— सामाजिक समस्याओं के लक्षणों का अध्ययन करने के लिए हमें समाज की सामान्यावस्था को समझ लेना चाहिए, क्योंकि बिना इसे समझे हम सामाजिक समस्या की पहचान करने में सर्वथा असमर्थ रहेंगे। सामान्यावस्था का ज्ञान बीमारियों के निरीक्षण से आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। समाज अपने सदस्यों की भलाई के लिए होता है। प्रत्येक समाज का कुछ निश्चित आदर्श होता है। समाज की भिन्नता के अनुसार उसके आदर्श भी भिन्न-भिन्न

प्रकार के होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज अपने आदर्श को लेकर चलता है और वह दूसरे समाज के आदर्श को खराब बतलाता है। इस तरह सामान्य समाज की पहचान करते समय हमें एक-दूसरे के आदर्शों की भिन्नता पर नहीं जाना है। सामान्य समाज हम वैसे ही समाज को कह सकते हैं जो कि अपने अंगरूप सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। परन्तु आज कोई भी ऐसा समाज नहीं है जो अपने अंगरूप सारे सदस्यों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और उन्हें पूर्ण सन्तुष्ट कर सके। फिर भी समाज के सदस्यों की आवश्यकताएँ एक आदर्श के अनुसार हुआ करती हैं, जिससे कि हम सामाजिक बुराइयों से अलग करते हुए सामान्य समाज का माप कर सकते हैं।

आदर्श समाज—किसी भी समाज की अच्छाई या बुराई की माप करने के लिए हमें उसके सदस्यों को देखना होगा। आदर्श समाज का अभिप्राय उस समाज से है जो कि अपने अधिकांश सदस्यों द्वारा प्रशंसित होता है। कोई भी अच्छा या बुरा समाज आदर्श समाज हो सकता है। हो सकता है कि जिसे हम बुरा समाज कह कर पुकारते हैं; वही उसके सदस्यों द्वारा अच्छा माना जाता हो, जैसे—चोरों और लुटेरों का समाज हमारी दृष्टि से खराब समाज होगा, परन्तु चोरों और लुटेरों के लिए वही आदर्श समाज होगा, क्योंकि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति उसी समाज में होती है और उसका आदर्श भी उसीके अनुसार होता है। इस तरह आदर्श समाज की परिभाषा में हम कह सकते हैं कि जो समाज अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति सामान्य रूप से आसानी से करता है, वही आदर्श समाज कहा जा सकता है। इसमें अच्छे और बुरे का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तुलनात्मक दृष्टि से अन्य व्यक्ति के लिए वह भले ही अच्छा या बुरा हो सकता है, पर उस समाज के अङ्गरूप सदस्य के लिए वही आदर्श

समाज कहा जायगा। आदर्श समाज की सर्वोत्तम परिभाषा में हम कह सकते हैं कि वही समाज आदर्श समाज कहा जायगा, जिसमें किसी भी प्रकार की सामाजिक समस्या न हो।

सामाजिक समस्या प्रायः उसी समाज में उत्पन्न होती है जिस पर परिवर्तन का तीव्र असर होता है। परिवर्तनोंसे प्रभावित समाज में विभिन्न प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि समाज को क्या करना चाहिए ? इस तरह समाज का संगठन भंग हो जाता है और एक समस्या खड़ी हो जाती है। ऐसी स्थिति में उदारवादी कुछ सुधार करना चाहता है और प्रतिक्रियावादी कुछ आवश्यक जोड़-तोड़ करना चाहता है। इस तरह उदारवादी और प्रतिक्रियावादी दोनों ही सामाजिक समस्या को इस रूप में देखते हैं कि सामाजिक बनावट के गलत या दोषपूर्ण होने से यह उत्पन्न हुआ है और सर्वसाधारण के लाभ के लिए परिवर्तन को अपनाना चाहिए। अब एक आदर्श समाज के निर्माण की बात चलती है या कम-से-कम ऐसे समाज के निर्माण का प्रयत्न किया जाता है जो कि समाज के अङ्ग-रूप सदस्यों के लिए अत्यधिक लाभकारी हो और जिसमें सामाजिक समस्याओं का नाम न हो। यदि त्रुटियों का सुधार कर दिया जाता है तो वह अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से कर देता है और समाज अपने आदर्श पर चल कर अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल होता है।

आज के युग में आदर्श समाज के लिए कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह सामाजिक जीवन के अनुसार समय-समय पर बदलता रहता है। सामाजिक समस्या समाज की संस्कृति के अनुसार भी हो सकती है। हम किसी परिस्थिति को सामाजिक समस्या के नाम से इसलिए पुकारते हैं कि समाज की नीति के अनुसार हम उसे वैसा कहने के लिये बाध्य हैं। सामन्तशाही एवं निरंकुश शासन के युग में यद्यपि यहाँ की

स्थिति आज की अपेक्षा बहुत ही खराब थी, किन्तु उस समय के लोगों ने उस स्थिति को खराब नहीं समझा था। अतः वह स्थिति कोई सामाजिक समस्या की स्थिति नहीं थी। दास युग में बच्चों और स्त्रियों से काफी काम लिया जाता था, किन्तु किसी ने भी उस तरह की बातों को समस्या के रूप में मानकर कुछ नहीं लिखा। उस समय बालश्रम, स्त्रीश्रम या सामाजिक-स्वास्थ्य की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। किसी ने इस बात की कल्पना भी नहीं की कि उसपर कुछ लिखा जाय, क्योंकि उस समय की स्थिति में वह ठीक था।

हम जिसे सामाजिक समस्या के नाम से पुकारते हैं, उसका निर्धारण समाज के द्वारा होता है। जैसे कि पहनावे या फैशन के अन्य पहलुओं का निर्धारण समाज करता है। जब हम कोई आभूषण खरीदते हैं तो हम इस बात का ध्यान रखते हैं कि वह समाज के फैशन के अनुकूल है या नहीं? समाज की रीति-नीति की ओर ध्यान रखते हुए समाज की परम्पराओं के अनुसार ही हम किसी चीज की इच्छा करते हैं तथा उसी के अनुसार कोई विचारधारा चलती है। समाज की रूढ़ियों को छोड़कर हम कोई भी काम नहीं करते। ठीक यही अवस्था सामाजिक समस्या की भी है। सामाजिक वातावरण के ही अनुसार हम किसी सामाजिक समस्या का निर्धारण कर सकते हैं।

सामाजिक समस्या का क्षेत्र—सामाजिक समस्या का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत और व्यापक है। इस शब्दका व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-प्रणाली जैसे विस्तृत दायरे से लेकर स्कूल के भगोड़े बच्चों जैसे तुच्छ मामलों की कार्य स्थिति और कार्य प्रणाली का वर्णन करने के लिए किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक समस्या छोटी-छोटी घटनाओं से लेकर बड़ी-बड़ी घटनाओं तक को अपना विषय बनाती है। इस प्रकार इसका प्रभाव विश्वव्यापी है। यह मानव प्रयत्नों की सारी असफलताओं से संबंधित है।

सामाजिक समस्याओं की बातें करने वाले सिर्फ सामाजिक परिवर्तन में ही विश्वास नहीं करते। वे परिवर्तन की गति के अनुसार परिवर्तन की संभावना में भी विश्वास करते हैं। वे सामाजिक उन्नति में विश्वास करते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि समाज मानव-निर्मित है और यह किसी भी रूप और किसी भी काल में तभी तक टिका रह सकता है, जबतक कि उसके अंगरूप व्यक्तियों की आवश्यकताएं पूर्ण होंगी। समय-समय पर किसी समाजका अधःपतन भी हो सकता है, या किसी सीमा तक मांग की पूर्ति के अनुसार इसका अस्तित्व नीचे भी जा सकता है। समाज की ऐसी असफलताओं से संबंधित परिस्थितियां ही सामाजिक समस्या कही जाती हैं।

समाज अपने अंगरूप व्यक्तियों की आवश्यकताओं को किस प्रकार पूर्ण कर सकता है, इस पर बहुत ही मतभेद है। इसके संबंध में तरह-तरह के प्रश्न उठते हैं, यथा—समाज के अंगरूप सदस्यों की उचित आवश्यकता क्या है ? वह चाहता क्या है ? उसके जीवनका लक्ष्य क्या है ? समाज उसके लक्ष्य की पूर्ति में कहां तक और किस तरह सहायक हो सकता है ? क्या व्यक्ति का लक्ष्य उचित है ? आदि तरह-तरहके बहुतसे प्रश्न उठते हैं।

इस तरह सामाजिक समस्या समस्त मानव सम्बन्ध को अपनी परिधि में घेरती है।

तृतीय अध्याय

अध्ययन के दृष्टिकोण

सामाजिक समस्या के अध्ययन के मुख्य तीन दृष्टिकोण हैं :—

(१) मानवतावादी दृष्टिकोण
(२) धार्मिक दृष्टिकोण
(३) वैज्ञानिक दृष्टिकोण

मानवतावादी दृष्टिकोण—यह सबसे प्राचीन दृष्टिकोण है। मनुष्य होने के नाते किसी मनुष्य को दुःख में देख दया से द्रवित हो जाना स्वाभाविक है। किसी को दुखी अवस्था में देखकर स्वभावतः उसके संबंध में पूरी जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा हो उठती है तथा उसकी सहायता करके उसकी स्थिति में सुधार करने की प्रेरणा अन्तः-करण से मिलने लगती है। इस दृष्टिकोण में दया और सहानुभूति ही समस्या के हल का उत्तम तरीका माना गया है। दया से द्रवित होकर दान के रूप में सहायता करना ही इसका मुख्य लक्ष्य था। प्राचीन ऋषि मुनियों में इसी की प्रधानता थी। परन्तु इसके अनुसार दूसरों की सेवा करके सामाजिक समस्या के वाह्य लक्षणों को ही ठीक किया गया। जिसके परिणामस्वरूप भिक्षा वृत्ति, आलस्य, परोपजीवीपन आदि समस्याएं बढ़ीं।

धार्मिक दृष्टिकोण—धार्मिक दृष्टिकोण में पूर्वजन्म के पाप को समस्या का कारण माना गया और धर्म-कर्म करना उसका एकमात्र हल बताया गया। दैवी-प्रकोप, भूतवाधा आदि अनेक कारण भी इसी

दृष्टिकोण के फलस्वरूप माने गये और उसके लिए पूजा-पाठ, मंत्र-तंत्र, हवन, बलि आदि उपचारों को काम में लाया गया। धर्म-कर्म के द्वारा पाप से मुक्ति पाना ही समस्या के समाधान का मूलमंत्र था। नारद, मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने इसी दृष्टिकोण को काम में लाया। नारद ने वाल्मीकि को समझाया कि उसके परिवार के सदस्य ही उसकी मुक्ति में बाधक हैं। पाप सभी बुराइयों की जड़ है और पाप-कर्मको छोड़ धर्म-कर्म करना ही उसका सुधार है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण—वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही आधुनिक दृष्टिकोण है। इसमें सभी चीजें वैज्ञानिक रूपमें देखी जाती हैं। यह सबसे उत्तम दृष्टिकोण है। इसका काम है वैज्ञानिक तरीके से समस्याओं का अध्ययन करके उसके मूलभूत कारणों का पता लगाना और कारणों का नाश करते हुए समस्या का निराकरण करना। इस तरह यह बुराइयों को स्थायी रूप से दूर करने का प्रयत्न करता है।

मानवतावादी दृष्टिकोण और धार्मिक दृष्टिकोण से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उद्देश्य बहुत बड़ी भिन्नता रखता है। मानवतावादी और धार्मिक दृष्टिकोण का उद्देश्य पुण्य कमाना था पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उद्देश्य समस्या-ग्रसित लोगों की रक्षा वैज्ञानिक तरीके समस्या का उन्मूलन करके तथा व्यक्ति की पुनर्व्यवस्था करके करना है। इसमें निम्नलिखित तरीके आते हैं :—

(१) समाज-शास्त्रीय
(२) आर्थिक
(३) जीव-वैज्ञानिक
(४) मनोवैज्ञानिक (Psychological)
(५) मानसोपचारिक (Psychiatric)

समाज-शास्त्री पूरे समाज को एक इकाई के रूप में देखता है। वह समाज को एक शरीर के रूप में देखता है और व्यक्ति को उसका अंग।

इसकी दृष्टि में सामाजिक समस्या एक सामाजिक रोग है। जिस तरह शरीर के एक अंग का दोष सारे शरीर को प्रभावित करता है, ठीक उसी तरह समाज के एक अंग की बुराई का प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है। समाज-शास्त्री सारे तथ्यों को इकट्ठा कर समस्या के मूल कारण को ढूंढ़ने की चेष्टा करता है। समाज-विज्ञान की सहायता से समाज-सेवा के द्वारा सामाजिक स्थिति का अध्ययन कर समस्या को दूर करने का प्रयत्न करता है। यदि किसी अनाथ, निराश्रित तथा उपेक्षित बच्चे की समस्या को देखना होगा, तो उसे वैज्ञानिक सामाजिक-सेवा के द्वारा ठीक करने का प्रयत्न किया जायगा। इसके अतिरिक्त आगे के लिए भी वह सतर्क रहता है। आगे की सम्भावित समस्याओं को उनके वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता से रोकने का प्रयत्न किया जाता है।

अर्थ-शास्त्री सारी समस्याओं की जड़ में आर्थिक कठिनाइयों को लेता है। उसकी दृष्टि में जितनी भी समस्या होती है, सब आर्थिक अवस्था की खराबी से उत्पन्न होती है। अर्थ के अभाव में विद्या और स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं हो पाती। इस तरह मनुष्य अन्धकूप में निकम्मा होकर पड़ा रहता है और वह कुछ करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। मनुष्य के हर कदम में आर्थिक बाधाएँ रुकावट डालती हैं, यही सारी समस्याओं की जननी और प्रबल समस्या है। जब तक आर्थिक अवस्था में सुधार नहीं हो जाता, तबतक समस्या के सुलझाने में पूरी सफलता नहीं मिल सकती।

जीव-विज्ञान वेत्ताओं (Biologist) की दृष्टि में सामाजिक समस्याओंकी उत्पत्ति में वंश-प्राप्त गुणों की प्रधानता मानी गई है। अपर्याप्त वंश-प्राप्त गुणों के कारण व्यक्ति सामाजिक समस्याओं का शिकार होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक समस्याओं का हल जन्म-संख्या में कमी करके स्टरलाइजेशन द्वारा किया जा सकता है। इस तरह स्वस्थ व्यक्ति ही सफल-जीवन व्यतीत कर सकता है।

इसमें पारस्परिक सहायता के द्वारा भी समस्या का हल बताया गया है जैसे – अन्धे और लँगड़े की कहानी में एकने दूसरे की परस्पर सहायता कर जीवन-रक्षा की समस्या को हल किया।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि हर व्यक्ति के मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ भिन्नता रहती है। मस्तिष्क की भिन्नता के अनुसार सभी एक प्रकार से समाज से अपना सामञ्जस्य नहीं कर सकता। कोई अधिक सहनशील होता है तो कोई क्षणमात्र में घबड़ा जाता है। एक ही परिस्थिति में रहते हुए भी दो व्यक्ति दो प्रकार के व्यक्तित्व को धारण करते हैं। जिसमें सहन-शक्ति अधिक होती है वह कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का सामना आसानी से कर सकता है, परन्तु जिसमें सहन-शक्ति की मात्रा कम होती है वह थोड़ी-सी विपत्ति पड़ते ही घबड़ा जाता है और बहुत शीघ्र सामाजिक समस्याओं का शिकार बन सकता है। अविकसित-चित्त व्यक्ति किसी भी समस्या का बहुत शीघ्र शिकार हो सकता है।

मानसिक बनावट के अतिरिक्त मानसिक रोगों पर भी मनोवैज्ञानिक जोर देता है। मानसिक रोग का मूल उसके अनुसार परिस्थिति में निहित होता है। परिस्थिति का जैसा प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़ता है, उस तरह की समस्याएँ उसके सामने आती हैं। इस तरह मनोवैज्ञानिक सारी समस्याओं का कारण मस्तिष्क तथा परिस्थिति को बतलाता है। उसके अनुसार समस्याओं के निराकरण के लिए परिस्थिति को ठीक करना होगा। जिस परिस्थिति के कारण समस्याओं की उत्पत्ति होती है, उस परिस्थिति को ही ठीक करने से वह समस्या हल हो सकती है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सारी सामाजिक समस्याएँ चेतना के फलस्वरूप पैदा होती हैं अर्थात् जबतक मस्तिष्क काम करता है तभी तक समस्याएँ प्रतीत होती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि मस्तिष्क के

सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त की जाय। इस दृष्टिकोण में बुद्धि को प्रधानता दी गई है।

मानसिक चिकित्सक बुद्धि को प्रधानता न देकर भावना को प्रधानता देता है। उसकी दृष्टि में समस्याएँ बुरी भावनाओं और स्वभाव के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। वह प्रत्येक समस्या की व्याख्या भावों और स्वभाव के द्वारा करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सुखी बचपन और अच्छा पारिवारिक जीवन ही सारी समस्याओं को हल करेगा।

चतुर्थ अध्याय

समस्याओं के मूलभूत कारण

सामाजिक समस्याओं के दो मूलभूत कारण हैं, जोकि विभिन्न सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं। निर्धनता और अज्ञानता समस्याओं की जननी है। ये ही दो मूल कारण हैं, जो कि सारी समस्याओं को पैदा करते हैं।

(१) निर्धनता

निर्धनता सारी समस्याओं की जननी है। यह सबसे बड़ी और भयंकर समस्या है। निर्धन रहकर कोई भी व्यक्ति अपना सफल-जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। कोई कितना भी बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान क्यों न हो, पर यदि उसके पास धन नहीं है तो उसकी विद्या और बुद्धि भी विफल हो जाती है। निर्धनता के कारण विद्या और बुद्धि का

समुचित विकास भी नहीं हो पाता। बड़े-बड़े पण्डितों और बुद्धिमानों को भी निर्धनता अन्धकूप में डाल देती है तथा विनष्ट कर डालती है।

निर्धनता की परिभाषा बहुत ही व्यापक है और उसके अनुसार अधिकांश व्यक्ति किसी-न-किसी मानी में निर्धन हैं। सर जान लुईस के अनुसार निर्धनता की रेखा का निर्धारण समाज की रीति-रस्म के अनुसार होता है। उन्होंने "Social Pathology" नामक पुस्तक में निर्धनता की परिभाषा देते हुए कहा है—"वह आर्थिक अवस्था, जिसमें मनुष्य अपर्याप्त आय के कारण या बिना सोचे-समझे व्यय के कारण अपने समाज के स्तर के अनुसार अपने तथा अपने आश्रितों की शारीरिक एवं मानसिक योग्यता की प्राप्ति में असमर्थ रहकर उच्च जीवन-स्तर को नहीं निभा पाता है, निर्धनता कहलाती है।"

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार बहुत से लोग किसी-न-किसी अर्थ में निर्धन होते हैं, परन्तु प्रचलित अर्थ में वे निर्धन नहीं कहलाते। प्रचलित परिभाषा में निर्धनता जीवन की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति पर पूर्ण या आंशिक रूप से आश्रित हो, जो वैधानिक दृष्टि से उसके जीवन-निर्वाह के लिए सहायक न हो। इस तरह यदि कोई बच्चा अपने पिता का आश्रित है तो वह निर्धन नहीं कहा जायगा, परन्तु यदि वह बालक किसी अनाथालय या अन्य व्यक्ति के आश्रय में है, तो वह निर्धन समझा जायगा। इसी प्रकार पत्नी पति के आश्रय में रहकर निर्धन नहीं कहलायगी, परन्तु यदि वह अबलाश्रम या किसी अन्य व्यक्ति के आश्रय में है अथवा मातृ-पेंसन पाती है, तो वह निर्धन समझी जायगी।

भारत में निर्धनता की समस्या एक प्रबल समस्या है। यों तो दुनिया के सामने भारत देश ही एक गरीब देश है, पर जो कुछ धन यहां है भी वह थोड़े से ही लोगों के पास है। यहां के अधिकांश व्यक्ति निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं। नेशनल इनकम कमिटि ने १९४८-४९ का

आंकड़ा इकट्ठा करते हुए जांचकर बताया कि भारत की राष्ट्रीय आय ८७१००००००००) रु० है और प्रति व्यक्ति औसत आय २५५) रु० है। यहां की कुल सम्पत्ति का ⅓ सम्पत्ति १% आबादी के पास (आश्रित को मिलाकर ५% के पास) है, ⅓ सम्पत्ति ३५% आबादी के पास और शेष ⅓ शेष आबादी के पास है। नीचे दिये गये टेबुल से यह और भी स्पष्ट हो जायगा :—

भारतीय आय का वितरण (१९४९ ई०)*

कार्यकर्त्ता और आश्रित

प्रतिवर्ष आय रु० में	कार्यकर्त्ताओं की संख्या	आश्रितों की संख्या
१०००००	६०००	३००००
१००००	२३००००	११५००००
५०००	२७००००	१३५००००
२००	२५०००००	१२५०००००
५०	३५००००००	१००००००००
	शेष	शेष

उपर्युक्त टेबुलसे ज्ञात होता है कि यहां के अधिकांश व्यक्ति गरीब हैं। असमान वितरण के फलस्वरूप यह गरीबी और भी बुरी तरह फैली हुई है। अधिकांश धन थोड़े से लोगों के पास है और एक बहुत बड़ी जनसंख्या भूखी तथा अर्द्धनग्न अवस्था में है। यहां के लोगों में बहुत कम ऐसे हैं, जिनको दोनों समय भरपेट पौष्टिक भोजन मिल पाता है तथा आराम के अन्य साधन मिल जाते हैं।

आर्थिक जीवन मनुष्य के सामाजिक और पारिवारिक जीवन पर भी प्रभाव डालता है। यह ऐसी-ऐसी समस्याएं उत्पन्न करता है कि

* Modern Review, April 1952.

व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। पारिवारिक सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न करने में आर्थिक कारण बहुत अधिक काम करता है। यदि किसीको अपने जीवन में आर्थिक सुरक्षा नहीं होती है, तो उसका सारा भविष्य ही असुरक्षित रहता है। रुपये के अभाव में कोई अच्छा काम वा पद नहीं प्राप्त हो सकता है। इस तरह रुपये के अभाव में मनुष्य को बेकार रहना पड़ता है। पुनः बेकारी से अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। आर्थिक कठिनाइयों से मनुष्य अविवाहित रह सकता है और इस तरह उसे काम-प्रवंचना होती है, जिससे नाना प्रकार के मानसिक रोग होने की सम्भावना रहती है, वह अनैतिक सम्बन्ध में पड़ सकता है। आर्थिक अवस्था की खराबी से बच्चे भूख से मरते हैं और घर की अवस्था ऐसी छिन्न-भिन्न हो जाती है कि उससे तरह-तरह की समस्याएँ पैदा होती हैं। घर में स्त्रियों की अवस्था ठीक नहीं रह सकती, जिससे तलाक, परित्याग, अवैध सम्बन्ध, वेश्यावृत्ति आदि समस्याएँ बढ़ती हैं। बच्चों की अच्छी तरह देख-रेख नहीं हो पाती है, जिससे बाल-अपराध की प्रवृत्ति बढ़ती है।

आर्थिक कठिनाइयों से जनहित कार्य में भी बाधा पड़ती है। स्कूल, पार्क, सड़क आदि नहीं बन पाते हैं, जिससे वैयक्तिक विकास में बड़ी बाधा पड़ती है। आर्थिक सुरक्षा नहीं होने से जन-स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रह पाता। संस्कृति पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। आर्थिक कारण मनुष्य के नैतिक पतन में भी प्रबल सहायक होता है। इस तरह आर्थिक कठिनाइयों के चलते समाज में तरह-तरह की समस्याएँ पैदा होती हैं।

गरीबी सारी समस्याओं की जननी है, इसमें कोई सन्देह नहीं फिर भी हमें मानना पड़ता है कि गरीबी के भी कुछ कारण होते हैं। निम्नलिखित कारण गरीबी को बढ़ाने में काफी सहायक सिद्ध हो रहे हैं :—

(१) वंशागत कारण—बुद्धिमांद्यता, बीमारी।

(२) औद्योगिक करण—बेकारी, दुर्घटना।

(३) प्रतिकूल जलवायु—बीमारी, फसल की नुकसानी, पशु-हानि।

(४) नशा और शराबखोरी।

(५) अपर्याप्त शिक्षा और बेकारी।

(६) जनसंख्या की वृद्धि—पारिवारिक बोझ।

(७) फिजूलखर्ची—विवाह तथा मृत्युके बाद भोज के अवसर पर।

(८) आकस्मिक—अकाल, दुर्घटना, बीमारी।

बुद्धिमांद्य तथा जन्म का रोगी व्यक्ति, जीवन-संघर्ष में सदा असफल रहता है। उसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि कठिनाइयों का सामना कर सके। वह सदा असमर्थ रहता है तथा अपनी जीविका के लिए भी उसे दूसरे के ऊपर आश्रित रहना पड़ता है। यदि समाज में ऐसे व्यक्तियों की अधिकता हो जाती है, तो समाज में गरीबी बेतरह बढ़ जाती है। ऐसे व्यक्ति समाज के लिए भारस्वरूप हो जाते हैं।

बेकारी के फलस्वरूप आय बन्द हो जाती है और आय के बन्द होने से गरीबी बेतरह बढ़ जाती है। दुर्घटना तो मनुष्य को पूर्णरूपसे बेकार और निकम्मा बना देती है। वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था में बेकारी और दुर्घटना की मात्रा काफी बढ़ गई है।

प्रतिकूल जलवायु का प्रभाव मनुष्य, पशु तथा फसल सब पर पड़ता है। कभी-कभी ऐसी हवा चल पड़ती है कि बीमारी की बाढ़ सी आ जाती है। मनुष्यों में बीमारी फैलती है तो उसके फलस्वरूप बहुत से लोग मर जाते हैं और बहुत से अपंग हो जाते हैं। यदि कार्यकर्त्ता की मृत्यु हो जाती है, तो उसके आश्रितों की अवस्था तो और भी दर्दनाक हो जाती है। बीमारी की चिकित्सा में भी बहुत सा धन व्यय हो जाता है। इस तरह गरीबी और भी बढ़ जाती है। यदि पशुओं में बीमारी फैलती है तो बहुत से पशु मर जाते हैं और किसानों का हाथ-पैर ही टूट जाता है। और यदि फसल की बीमारी चल

पड़ती है तो सारी फसल ही मारी जाती है। इस प्रकार प्रतिकूल जलवायु मनुष्य को निर्धन बनाने में एक प्रधान कारण बन जाती है।

नशा और शराबखोरी में पड़ कर मनुष्य फिजूलखर्च हो जाता है। वह आय का ख्याल किये बिना व्यय करता चला जाता है। फलस्वरूप ऋण का बोझ बढ़ता ही चला जाता है और एक दिन ऐसा भी देखने को मिलता है, जब सारा घर-द्वार बेच कर दर-दर भटकना पड़ता है। नशे की अवस्था में मनुष्य को भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। वह प्रायः ऐसे ही कार्यों को करता है, जिससे उसकी क्षति होती है। परिणाम होता है कि दिनोंदिन गरीबी बढ़ती ही जाती है। उसमें सोचने की शक्ति नहीं रह जाती, जिससे कभी सम्भलने की चेष्टा भी नहीं करता।

यदि व्यक्ति को समुचित शिक्षा नहीं मिल पाती है, तो वह अपनी व्यवस्था करने में प्रायः असफल रहता है। यदि किसी काम की शिक्षा नहीं होती तो उसे बेकार रहना पड़ता है और बेकारी के फलस्वरूप गरीबी तो बढ़ेगी ही। अपर्याप्त शिक्षा और बेकारी का परस्पर घनिष्ट सम्पर्क है तथा बेकारी और गरीबी की भी वैसी ही घनिष्टता है।

जनसंख्या की वृद्धि ने भी गरीबी को बढ़ाने में काफी सहायता पहुंचायी है। जनसंख्या की वृद्धि से पारिवारिक बोझ बढ़ गया, परन्तु खाद्य-सामग्री में वैसी वृद्धि न होने के कारण दिनोंदिन गरीबी बढ़ती चली जा रही है। थोड़ी सी सामग्री में ही बढ़ती हुई आबादी को भी अपना भरण-पोषण करना पड़ता है। भूमि पर इतना अधिक भार आ पड़ा है कि गरीबी से त्राण पाना कठिन हो गया है।

फिजूलखर्ची मनुष्य को स्वभावतः गरीबी की ओर अग्रसर करती है। आधुनिक मनोरञ्जन के साधनों ने जनता को और भी फिजूलखर्च बना डाला है। भोग-विलास की वस्तुएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। इसपर लोग अपनी औकात से भी अधिक व्यय कर बैठते हैं।

आधुनिक प्रचार की प्रणाली ने भी मनुष्य को फिजूलखर्ची की ओर काफी आकर्षित किया है। लोग बिना सोचे-समझे अक्सर चटपटी एवं भड़कीली वस्तुओं के फेर में पड़ जाते हैं। शादी-ब्याह के अवसर पर तथा मृत्युके बाद भोज में तो फिजूलखर्ची की सीमा असीम हो जाती है। परिणामस्वरूप गरीबी दिनोंदिन बढ़ती चली जा रही है।

आकस्मिक घटनाओं का भी गरीबी को बढ़ाने में काफी हाथ रहता है। कभी-कभी ऐसी असम्भावित घटना घट जाती है, जिसकी मनुष्य पहले से कभी कल्पना भी नहीं करता है। ऐसी घटनाओं के फलस्वरूप इतनी अधिक क्षति होती है कि मनुष्य को बहुत दिनों तक सम्भलने का अवसर नहीं मिलता। अकाल, बीमारी, भूकम्प आदि दुर्घटनाओं का समाज की आर्थिक अवस्था को छिन्न-भिन्न करने में प्रबल हाथ रहता है।

निम्नलिखित उपायों द्वारा बढ़ती हुई गरीबी को बहुत कुछ रोका जा सकता है—

(१) शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्यकी देखरेख के लिए अस्पताल, मेंटलक्लिक्स आदि की व्यवस्था।

(२) शिक्षा की व्यवस्था—निःशुल्क शिक्षा, कार्य संबंधी शिक्षा, उद्योग, शिल्प आदि की शिक्षा।

(३) बुढ़ापे का पेंसन।

(४) संतति-निग्रह।

(५) बेकारी को रोकने की अनेक योजनाएं।

शारीरिक एवं मानसिक चिकित्सा के द्वारा जब बीमार और असमर्थ व्यक्ति को स्वस्थ बना दिया जायगा तो वह दूसरों पर आश्रित न रहकर अपनी आजीविका स्वयं पैदा कर सकेगा और समाज के लिए भारस्वरूप न रह कर वह भी समाज का एक उपयोगी अंग बन

जायगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने में वह भी अपना हाथ बंटा सकेगा।

शिक्षा की व्यवस्था खर्चीली होने के कारण बहुत से व्यक्ति शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। अतः निःशुल्क-शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकार की कार्य-संबंधी-शिक्षा, उद्योग, शिल्प, कला आदि की शिक्षा की व्यवस्था करके लोगों को अधिक से अधिक उपयोगी एवं कार्यशील बनाया जा सकता है। शिक्षित जनता से देश की आर्थिक अवस्था के उत्थान में पर्याप्त सहायता मिल सकेगी। अशिक्षित जनता समाज की प्रगति में बहुत कुछ बाधा डालती है। अतः देश की आर्थिक व्यवस्था को ठीक करनेके लिये शिक्षा पर अधिक से अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

सरकार का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह देश की आर्थिक अवस्था को ठीक करने के लिये बुढ़ापे का पेंसन देकर कार्यकर्त्ता के भार को हलका कर उसे मानसिक चिन्ता से मुक्त कर दे, ताकि वह तन मन से अपने कार्य में व्यस्त रहकर देश के उत्थान में सहायक बन सके।

बढ़ती हुई आबादी को रोकने के लिये आज संतति-निग्रह की भी अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि जब तक संतति-निग्रह की व्यवस्था नहीं होगी, जनसंख्या का भार बढ़ता जायगा और गरीबी दिनों-दिन बढ़ती ही चली जायगी। अब प्रश्न होता है कि किस प्रकार संतति-निग्रह किया जा सके। महात्मा गांधी ने संतति-निग्रह के लिये संयम पर जोर दिया था। संयम सबसे अच्छा उपाय है और इसके द्वारा जनसंख्या की वृद्धि को बहुत कुछ रोका जा सकता है। परन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि यह सर्वसाधारणसे होना बहुत कठिन है। महात्मा लोग ही इस क्षेत्र में अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। आम लोगों से संयम हो ही नहीं सकता और युवकों से तो यह और भी नहीं हो सकता। युवकों को तो इसमें एक और भी

खतरा उठाने की संभावना हो सकती है। काम-शक्ति के दमन से न्यूरोसिस* होने की अधिक संभावना रहती है। परन्तु यह कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कोई संयम करे ही नहीं। लेखक कभी संयम के खिलाफ नहीं है। जिससे संयम हो सके वह अवश्य इस उपाय को काम में लावे और जिससे संयम नहीं हो सकता, वह संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों का प्रयोग कर सकता है।

अविकसित चित्त और आनुवंशिक रोगी को संतान उत्पन्न करने से रोक दिया जाय, क्योंकि ऐसे लोगों से पृथ्वी पर भार बढ़ता जा रहा है और समाज को इससे तरह-तरह की हानि उठानी पड़ती है। ऐसे लोगों को संतानोत्पत्ति से रोकने के लिये बधियाकरन (sterlization) की नीतिको अपनाना उचित होगा।

बेकारी को रोकने के लिये सरकार को तरह-तरह की योजनाओं को काम में लाना चाहिए। इससे गरीबी को दूर करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी। इसके लिये सरकार को चाहिये कि वह गृह-उद्योग की व्यवस्था करे। तरह-तरह के गृह-उद्योग को चलाकर लोगों को उसमें लगाया जाय। इसके अतिरिक्त कृषि की अवस्था में भी पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। चूँकि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, अतः इसका आर्थिक उत्थान तब तक संभव नहीं है, जब तक कि देश में कृषि की अवस्था में सुधार न किया जायगा। ग्राम और कृषि की उपेक्षा करके देशोन्नति का स्वप्न देखना बालू से तेल निकालना ही होगा।

---

* मानसिक बीमारी।

(२) अज्ञानता

अज्ञानता बुराइयों की खान है। इससे तरह-तरह की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। बिना इसे दूर किये व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर पाता। वह किसी भी चीज की बारीकी को समझ नहीं पाता। अज्ञानता के फलस्वरूप लोगों की बुद्धि अविकसित रह जाती है, जिससे वह अच्छी-अच्छी बातों को सोच नहीं सकता। अच्छे और बुरे का उसे समुचित ज्ञान नहीं हो पाता। ज्ञानाभाव में लोगों की दृष्टि संकुचित होती है। अपनी ही लाभ की बातें उनकी समझ में नहीं आतीं। सुधार के नियमों को वे समझ नहीं पाते और न अपनी गन्दी और बुरी आदतों को छोड़ना चाहते हैं।

जब तक मनुष्य को ज्ञानरूपी प्रकाश नहीं मिलता, वह अन्ध-कूप में पड़ा रहता है। वह तरह-तरह के अंध-विश्वासों को अपनाये रहता है तथा पुरानी रूढ़ियों को पकड़े रहता है। सुधार संबंधी बातों को वह अपना नहीं सकता। नई विचारधारा से तो वह बिलकुल दूर भागता है और पुरानी लकीर को ही पीटता चलता है। इस तरह ज्ञान के अभाव में व्यक्ति अपना सफल जीवन व्यतीत नहीं कर पाता। देश का आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्थान तब तक नहीं हो सकता है, जब तक कि अज्ञानता दूर न कर दी जाय।

विद्वानों का कथन है—"मूर्ख को उपदेश देना पत्थर पर अनाज बोना है।"—वास्तव में बात अक्षरशः सही है। जब तक लोग अज्ञानावस्था में पड़े रहेंगे, वे तरह-तरह की बुराइयों के शिकार होते रहेंगे और तरह-तरह की सामाजिक समस्याएँ बनी रहेंगी। अतः सामाजिक समस्याओं को दूर करनेके लिये इसके मूलभूत कारण अज्ञानता को दूर करना आवश्यक है। बिना इसे दूर किये सफलता मिल नहीं सकती।

भारतीय शिक्षा सम्बन्धी आंकड़े

(१९४६-४७)

संस्था के प्रकार	संस्था की संख्या *		छात्रों की संख्या	
	लड़कों के लिये	लड़कियोंकेलिये	लड़के	लड़कियाँ
सामान्य शिक्षा				
विश्व विद्यालय	१६			
आर्ट और साइंस कालेज	३५९	५९	१४०४५२	१७६४८
हाई स्कूल	३०६१	५७६	१३८१०३८	१७८३४१
मिड्ल स्कूल	७०८३	११८७	९४४८१८	१७७७८४
प्राइमरी स्कूल	१२०५३६	१४३३०	७६९२८४७	२८३३०९६
विशेष शिक्षा				
प्रोफेशनल और टेकनिकल कालेज	७६	३	३७१८२	१७६८
ट्रेनिंग कालेज	२२	११	१८१४	६६०
ट्रेनिंग स्कूल	३३९	१८८	२३५२२	१०४८३
अन्य विशेष स्कूल	८५९६	५९४	२७८४३७	२७८६३
गैर सरकारी संस्थाएं	६३२४	५३७	८३८२२०	४६६०४
जोड़	१४६३९६	१७४८५	१०७३८३३०	३२९४२४८
कुल जोड़	१६३८९७		१४०३२५७८ विश्वविद्यालयों के छात्रों की गणना नहीं की गई	

* ५ बोर्ड के सेकेन्ड्री या इंटरमिडियेट की संख्या इसमें शामिल नहीं है।

भारतीय शिक्षा-संबंधी आकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ शिक्षा की बहुत कमी है। यहाँ की जनसंख्या पर दृष्टि रखते हुए यदि हम यहाँ की शिक्षा संस्थाओं की संख्या देखते हैं, तो प्रतीत होता है कि शिक्षा-संस्थाओं की यहां बहुत कमी है। इधर राष्ट्रीय सरकार के बन जाने पर शिक्षा के क्षेत्र में कुछ तरक्की हो रही है और बहुत से नये-नये स्कूल और कालेज खुल रहे हैं। फिर भी अभी जनसंख्या के अनुपात से बहुत कमी है। यहाँ १००० व्यक्तियों के बीच सिर्फ १ व्यक्ति अच्छी तरह शिक्षित है, जब कि अमेरिका में १०० व्यक्तियों के बीच १५ व्यक्ति पूर्ण शिक्षित दिखाई पड़ते हैं।

अज्ञानता के कारण—भारत में अज्ञानता के बहुत से कारण हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(१) विदेशियों की नीति।

(२) निर्धनता।

(३) जन संख्याकी वृद्धि।

हिन्दुस्तान सदियों तक विदेशियों की गुलामी में रहा है। विदेशियों ने इसे अज्ञान बनाये रखना ही उचित समझा और वैसा ही उन्होंने किया भी। यदि उन्होंने शिक्षा की कोई व्यवस्था की भी तो इस ख्याल से नहीं कि हिन्दुस्तान के लोग होशियार हो जाँय, वरन् अपना मतलब गांठनेके लिये। उनका जिस तरह की शिक्षा से काम चल सकता था, जिसमें कि उन्हें काम संभालनेके लिये, अपनी गुलामी कराने के लिये सहायता मिल सकती थी, उसी शिक्षा को उन्होंने प्रचलित किया। मैकाले की शिक्षा-पद्धति का एकमात्र उद्देश्य अङ्गरेजी शासन में सहायता देनेवाले क्लर्कों को पैदा करना था।

अंगरेजों ने सामान्य शिक्षा-गति रोकने के लिये शिक्षा-विभाग और आबकारी विभाग को इस तरह परस्पर संबंधित किया कि यदि शिक्षा पर अधिक पैसे व्यय करना चाहते हैं, तो मादक द्रव्यों का

अधिक प्रचार करना होगा और यदि मादक द्रव्य पर रोक लगाना चाहते हैं, तो शिक्षा के मद में कटौती करनी होगी। इस तरह हिन्दुस्तान को अज्ञान बनाये रखकर अपनी हुकूमत को दृढ़ करने की नीति रही और परिणाम स्वरूप अंग्रेजों के जाने के समय तक हिन्दुस्तान की जनता में सिर्फ ८% शिक्षित थे। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद से पहले की सारी नीति बदल गई और अब थोड़े ही दिनों में अधिकाधिक व्यक्तियों के शिक्षित होने की आशा की जा सकती है।

हिन्दुस्तान की निर्धनता ने भी हिन्दुस्तान के लोगों को अज्ञान बनाये रखने में काफी काम किया। यहां गरीबी इस तरह छायी रही है कि अधिकांश लोगों को भूखों रहना पड़ता है। यह समस्या आज की नहीं है, बल्कि सदियों से यही हालत रही है। विदेशियों की नीति ने इसमें भी काम किया। उनका उद्देश्य हिन्दुस्तान की भलाई करने के बजाय हिन्दुस्तान को लूटना ही रहा। उन्होंने यहां की आर्थिक स्थिति को सुधारने का कभी प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेजों के समय में हिन्दुस्तान में जितनी भी योजनाएं बनीं, सब के मूल में उनका स्वार्थ-साधन था। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए गाँव की ओर ध्यान देना आवश्यक था। परन्तु किसी भी योजना में ग्रामोत्थान एवं कृषि-सुधार की ओर ध्यान न दिया गया। फलस्वरूप गरीबी दिनोंदिन बढ़ती गई और एक दिन ऐसा भी आ गया कि आज भारत अन्न के लिए दूसरों का मुंहताज है। हर्ष की बात है कि आज की राष्ट्रीय सरकार ने जो पंचवर्षीय योजना बनाई है, उसमें कृषि एवं ग्रामोन्नति पर बहुत कुछ ध्यान दिया गया है।

भारत की गरीबी ने यहां के लोगों को अज्ञान बनाया है। जिसके पेट में अन्न का दाना नहीं, जिसके तन पर वस्त्र नहीं, वह क्या जाने कि शिक्षा क्या चीज है और उसकी क्यों आवश्यकता है? भूख में और कोई चीज अच्छी नहीं लगती। भूखे व्यक्ति के सामने भोजन

प्राप्ति की ही चिन्ता सदा रहती है। इसके अतिरिक्त और किसी भी बात पर उसका ध्यान नहीं जाता। आज भारत की ३६ करोड़ आबादी में जब १० करोड़ व्यक्ति सिर्फ एक समय भोजन पाते हैं, तो शिक्षा की अवस्था में कहां तक सुधार की आशा की जा सकती है ?

भारत में शिक्षा प्रचार के पहले यहाँ की आर्थिक स्थिति को ठीक करना आवश्यक है। बिना आर्थिक अवस्था में सुधार किये शिक्षा का प्रचार करना कठिन है। जब हिन्दुस्तान का हर व्यक्ति भर पेट भोजन पा सकेगा और तन ढकने को उसके पास वस्त्र होगा, तभी वह अपने बौद्धिक विकास की ओर अधिकाधिक ध्यान दे सकेगा।

जनसंख्या की वृद्धि ने भी यहां के अधिकांश लोगों को अशिक्षित बना रखा है। जिसके एक-दो बच्चे होते हैं, वह अपने बच्चों की अच्छी तरह देख-भाल कर सकता है ; पर जिसके बच्चों की संख्या असीम हो जाती है, वह कहां तक उनकी देख-भाल कर सकता है ? इसके अतिरिक्त जनसंख्या वृद्धि ने गरीबी को बेहद बढ़ा दिया है, जिसके फलस्वरूप तरह-तरह की समस्याएं समाज में नित्य फैल रही हैं। जनसंख्या वृद्धि के बारे में विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

भारतीय सामाजिक समस्याएँ

द्वितीय खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम अध्याय

वैयक्तिक विश्रृङ्खलता

वैयक्तिक कारणों से उत्पन्न सामाजिक समस्या को जानने के पूर्व हमें वैयक्तिक विश्रृङ्खलता को समझ लेना चाहिए। क्योंकि ऐसी समस्याओं में वैयक्तिक विश्रृङ्खलता का विशेष रूप से हाथ होता है। व्यक्ति में कुछ ऐसे कारण होते हैं, जिनकी वजह से वह समाज के साथ अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। कुछ ऐसी कठिनाइयाँ होती हैं जो कि उसके स्वभाव के प्रतिकूल होती हैं। वह उनसे घबड़ा कर और भी विश्रृङ्खलित हो जाता है। विश्रृङ्खलता के कुछ गुण तो व्यक्ति के अन्दर होते हैं और कुछ परिस्थिति से आते हैं। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व ही ऐसा होता है कि वह स्वयं उससे परेशान रहता है। ऐसा व्यक्ति सामाजिक जीवन से अपना सामंजस्य नहीं स्थापित कर सकता। सामाजिक जीवन से वह भागना चाहता है। उसे दुनिया में कोई अपना नहीं दिखाई पड़ता। वह अपने को साधनहीन अनुभव करता है। वह स्वयं में ही उलझा रहता है। बात-बात पर उसे गुस्सा आ जाता है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और वह उत्साहहीन हो जाता है।

जिस समाज में जो व्यक्ति रहता है, उस समाज के नियमानुसार उसे चलना पड़ता है। परन्तु यदि किसी कारण से वह वैसा करने से असफल रहता है, तो समझा जाता है कि वह वैयक्तिक विश्रृङ्खलता का

शिकार हो गया है। उसका असफल जीवन ही वैयक्तिक विशृङ्खलता की निशानी है। यह विशृङ्खलता अनेक कारणों से उत्पन्न होती है। कुछ कारण तो उसके जन्मके साथ ही आते हैं, यथा—शारीरिक या मानसिक जन्मगत अपंगता, और कुछ बाद में आते हैं, यथा—बीमारी, अशिक्षा, गरीबी, आदत आदि। मनुष्य जन्म से ही कभी-कभी अपूर्ण रहता है। उस अपूर्णता के फलस्वरूप वह समाज से अपना सामंजस्य करने में असफल रहता है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में वह अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है। इसी प्रकार कभी वह किसी बीमारी के कारण, कभी दरिद्रता के कारण तथा कभी शिक्षा की कमी से परेशान रहता है और उसे समाज के साथ-साथ चलने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है। कभी किसी विशेष आदत के फलस्वरूप भी वह जीवन में पिछड़ जाता है। व्यक्ति में कभी ऐसी भी कोई आदत होती है कि उसके परिणामस्वरूप वह अपने साथियों के साथ नहीं रह सकता। इस प्रकार वह संतोषपूर्ण जीवन की व्यवस्था नहीं कर पाता है। उसकी मानसिक प्रतिक्रियाएं जीवन के प्रति इस तरह की हो सकती हैं कि वह समाज की आवश्यकताओं को पूरी करने में सदा असफल रहता है। उसमें मद्यपान की बुरी आदतें भी पड़ सकती हैं, जिससे वह समाज के अन्य लोगों से भिन्न हो सकता है और अपने जीवन को प्रतिकूल बना सकता है। यदि कोई आर्थिक परिस्थिति का शिकार होकर अपना तथा अपने आश्रितों का भरण-पोषण करने में असमर्थ रहता है, तो उसके परिणामस्वरूप वह इतना निराश और अनैतिक हो सकता है कि आगे की कभी चिन्ता नहीं करता। भविष्य में उसकी क्या अवस्था होगी और वह कितना पतित हो जायगा, इसकी उसे किंचित् परवा नहीं होती। ऐसे लोगों को हम वैयक्तिक विशृङ्खलता का शिकार कहेंगे।

यदि व्यक्ति अपनी मूल आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाता है,

तो उसके व्यक्तित्व पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के सामने तरह-तरह की कठिनाइयां आती हैं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उसे संघर्ष करना पड़ता है। व्यक्ति के अन्दर जन्म से कुछ ऐसे कारण होते हैं, जिनसे वह जीवन-संघर्ष में असफल रहता है। कुछ तो शारीरिक दोष से और कुछ बाद की घटनाओं तथा बीमारी आदि से उसके अन्दर कुछ इस तरह की कमी पड़ जाती है, जिससे वह समाज में दूसरों के साथ अपना सामंजस्य नहीं कर पाता है। कभी-कभी ऐसी बात परिवर्तनों के फलस्वरूप भी होती है। मनुष्य की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने पर कभी-कभी उसकी अवस्था ऐसी खराब हो जाती है कि वह जीवन-संघर्ष में असफल रहता है। सैनिक-जीवन में युद्ध के फलस्वरूप बहुत से ऐसे परिवर्तन होते हैं, जबकि व्यक्ति जीवन-संग्राम में फिसल जाता है। युवक और युवतियों में युवावस्था के आगमन से उनमें महान शारीरिक परिवर्तन होते हैं। ये सब ऐसे परिवर्तन हैं जो कि मनुष्य के सामाजिक वातावरण को बदल देते हैं। मनुष्य की स्थिति में भी इस तरह बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाता है। मनुष्य का सामाजिक स्थान (पोजिसन) बदल जाता है। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप एक तरफ मनुष्य में ऐसी कमजोरी आ जाती है कि वह अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाता है और दूसरी तरफ वातावरण का प्रभाव व्यक्तित्व पर ऐसा असर डालता है कि बचपन से लेकर उस समय तक के अनुभवों से बना हुआ व्यक्तित्व स्वभावतः बदल जाता है और व्यक्ति, समाज में प्रेमपूर्ण संबंध बनाये रखने में असमर्थ रहता है। वह ऐसा अनुभव करता है कि वह उस समाज का नहीं है। उसका पहले का मान खतम हो जाता है। इस तरह उसका व्यक्तित्व विशृङ्खलित हो जाता है। वह बहुत घबड़ा जाता है। यदि वह स्थिति के अनुसार अपने को बना नहीं पाता है और अपने व्यक्तित्व का पुनर्संगठन नहीं कर पाता है, तो वह सदा के लिये अव्यवस्थित हो

जाता है। व्यक्तित्व की विश्रृंखलता में व्यक्ति का प्रत्येक कार्य विश्रृंखल हो जाता है। वह कोई भी कार्य ठीक से नहीं कर सकता। वह बेचैनी, अशान्ति और गुस्सा का अनुभव करता है। उसके जीवन में सदा पागलपन दिखाई पड़ता है।

मनुष्य पर परिस्थिति का बहुत कुछ असर पड़ता है। चारों ओर के वातावरण में व्यक्ति अपने को घिरा पाता है। वह वातावरण से बच नहीं सकता। उस पर वातावरण का असर पड़े बिना नहीं रह सकता। जैसा वातावरण होता है वैसा ही मनुष्य के मस्तिष्क पर असर पड़ता है। अच्छे वातावरण में बुरा व्यक्ति भी जाकर अपने को सुधार लेता है और बुरे वातावरण में अच्छा व्यक्ति भी अपने को नहीं संभाल पाता है। समाज में व्यक्ति का संबंध जब अव्यवस्थित हो जाता है, तब उसके सामने तरह-तरह की कठिनाइयाँ आ जाती हैं, परन्तु व्यक्ति पर सिर्फ परिस्थिति का ही प्रभाव नहीं पड़ता, उसके साथ उसका व्यक्तित्व भी काम करता है। यदि व्यक्ति का व्यक्तित्व दृढ़ है, तो परिस्थिति के प्रभाव से वह शीघ्र नहीं घबड़ाता। कुछ काल तक वह कठिन परिस्थितियों का भी दृढ़ता से सामना करता है। वह अपने बल से परिस्थिति को बदलने की भरपूर चेष्टा करता है।

व्यक्तित्व की विश्रृंखलता में निम्नलिखित कारणों का बहुत कुछ हाथ रहता है :—

(१) परिवार।

(२) पड़ोस तथा अन्य समुदाय।

(३) पेशा।

व्यक्तित्व का विकास परिवार में ही होता है। यदि पारिवारिक जीवन अच्छा नहीं होता है, तो व्यक्तित्व विश्रृंखल हो जाता है। बच्चे परिवार में जन्म लेते हैं, परिवार में उनकी आदतें बनती हैं और उनके विकास में परिवार का पूरा-पूरा हाथ रहता है। परिवार में

बच्चे के पालन-पोषण, खिलाने-पिलाने, लाड़-प्यार आदि के ढंग का बच्चे के जीवन पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। यदि पारिवारिक जीवन विश्रृंखल हो जाता है, तो व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में व्यक्ति को नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसका पग-पग पर असफलताओं से ही मुकाबला होता है, तरह-तरह की विपत्तियों के थपेड़े खाकर वह समाज से अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। इस तरह उसका जीवन पूर्ण विश्रृंखल हो जाता है।

पड़ोस, खेल के साथी, स्कूल के साथी, शिक्षक, नौकरों आदि के समुदाय का भी व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पूरा असर पड़ता है। जैसी संगति में व्यक्ति रहता है, उस तरह की छाप उसके व्यक्तित्व पर पड़ती है। बुरे पड़ोस के फलस्वरूप, खेल तथा स्कूल के बुरे साथियों के बीच रहकर तथा बुरे शिक्षक, बुरी दाई और बुरे नौकरों की संगति में पड़कर व्यक्ति का स्वभाव ऐसा बुरा हो जाता है कि समाज से सामंजस्य करना उसके लिये कठिन हो जाता है। इस तरह उसका व्यक्तित्व ही विश्रृंखल हो जाता है।

पेशे का भी व्यक्ति के जीवन पर बहुत बड़ा असर पड़ता है। पेशे के अनुसार व्यक्ति का स्वभाव बनता है। भिन्न-भिन्न पेशे में संलग्न व्यक्ति का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है। जिस पेशे में ऊब साधने की अधिक आवश्यकता होती है, उस पेशे में लगा हुआ व्यक्ति संकट का काफी सामना करता है। वह कठिन परिस्थितियों में शीघ्र नहीं घबड़ाता। इसके विपरीत जिस पेशे में ऊब साधने की कोई आवश्यकता नहीं होती, उस पेश में लगा हुआ व्यक्ति जरा-सी कठिनाई से घबड़ा जाता है। वह आसानी से हिम्मत हार जाता है और जीवन में असफल रहता है। आज के वैज्ञानिक युग में पेशे का ऐसा विशेषीकरण हो गया है कि एक व्यक्ति एक ही प्रकार का कार्य कर सकता है। किसी

भी वस्तु के बनाने में वह दक्ष नहीं हो पाता, क्योंकि वह तो उसका एक अंगमात्र ही करता आया है। पूरी वस्तु के बनाने का आज किसी को सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। परिणाम इसका यह होता है कि जब किसी कारण से उसे वह काम छोड़ना पड़ता है, तब उसे विकट परेशानियों का सामना करना पड़ता है। जीवन-संघर्ष में कठिनतम मंजिल को पार करते हुए उसे प्रायः असफलताओं का सामना करना पड़ता है और उन असफलताओं की सतत चोट से आहत होकर उसका व्यक्तित्व विशृंखल हो जाता है आगे चलकर समाज से वह अपना सामंजस्य नहीं रख पाता है। इस तरह उसे सामाजिक समस्या का शिकार होना पड़ता है।

वैयक्तिक पुनर्संगठन

वैयक्तिक विशृंखलता को दूर करने के लिये वैयक्तिक पुनर्संगठन की आवश्यकता है। इसके लिये हमें देखना होगा कि विशृंखल व्यक्ति के जीवन में असामंजस्य कहां है और किस कारण से है? कारणों की खोज करते हुए उसके असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। हर व्यक्ति में एक अन्तर्हित शक्ति होती है, जो कि उसके व्यक्तित्व में सहायक होती है। शारीरिक दोष के होने पर व्यक्ति शारीरिक कार्यों में असमर्थ रहता है और मानसिक दोष वाला व्यक्ति बौद्धिक कार्यों में असमर्थ रहता है। ऐसे लोगों को विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है। विशेष शिक्षा देकर उनके अंगों के विकास का प्रयत्न किया जाना चाहिये तथा अनुकूल कार्यों में उन्हें लगा देना चाहिये। अभ्यास और आदत से दूसरों के साथ उनका सामंजस्य किया जा सकता है। आचरण का जीवन में प्रधान भाग होता है। समाज में सामंजस्य स्थापित करने के लिये पड़ोस तथा अन्य लोगों के साथ कैसा व्यवहार हो, इसे जानना आवश्यक है। आदतें बहुत दिनों के पश्चात् परम्परा या रीति बन जाती हैं। मनोवैज्ञानिकों ने

विश्लेषण करके बताया है कि बच्चा उत्पन्न होते ही उत्तरदायित्व ग्रहण करने लग जाता है। धीरे-धीरे उत्तरदायित्व उसकी आदत बन जाती है। उसके उत्तरदायित्व की आदत यदि समाज द्वारा मान्य होती है, तो वह सामाजिक व्यक्ति माना जाता है। भय के कारण यदि कोई सामाजिक नियमों को स्वीकार करता है, तो कुछ काल के बाद सतत आवृति के पश्चात् वह सामाजिक नियम भी उसके जीवन में आदत हो जाता है। उसका व्यक्तित्व उससे प्रभावित होता है। व्यक्तित्व के विकसित होने पर आचरण बनता है। बच्चे की आदत और उत्तरदायित्व उसके जीवन के आदर्श में बदल जाता है। बच्चा जो कुछ करता है, वह इस भावना से नहीं करता कि उसे करना चाहिए, वरन् वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये करता है। परन्तु आगे चलकर वही कार्य उसके लिये आदर्श भी बन जाता है।

समाज व्यक्ति को जितना आदर्श बना सकता है, उतना वह नहीं करता। यदि उतना आदर्श बना ले तो कोई सामाजिक असामंजस्य होता ही नहीं। समाज यदि चाहे तो व्यक्ति को किसी दिशा में मोड़ सकता है। परन्तु मोडने की शक्ति सीमित होती है। जिसे वह मिलाना चाहता है, उसके लिये ध्यान रखने की बात है कि उसकी भावना विकृत न हो। अपूर्ण मस्तिष्क व्यक्ति को उतना ही काम दिया जा सकता है, जितना उसके लिये उचित हो और भार न हो। इस क्रम से उसे सुधारा जा सकता है। कामों का असह्य भार पाकर वह उसे कर सकने के बजाय और भी घबड़ा जायगा और उसके जीवन में असफलता ही हाथ लगेगी।

समाज का स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि उसके अन्दर रहने वाले व्यक्ति को कम से कम संघर्ष करना पड़े। इस तरह का समाज बन जाने पर वैयक्तिक विश्रृंखलता बहुत कम होगी। सामाजिक असुविधाओं के फलस्वरूप बहुत-सी असामाजिक संस्थाएँ बन जाती

हैं। अपूर्ण व्यक्ति जैसे—अविकसित-चित्त, अंधे, बहरे-गूंगे, लूले, लंगड़े आदि सामाजिक असुविधाओं के फलस्वरूप ही सामाजिक समस्या उत्पन्न करते हैं।

समस्या के निराकरण के लिये समाज के लोगों को अपनी पुरानी प्रवृत्ति को बदलना चाहिये। जब ऐसा होगा तभी सामाजिक सामंजस्य की स्थापना होगी। यदि कोई अवैध बच्चा है, तो उसके प्रति घृणा का भाव न होना चाहिये, बल्कि उसके प्रति सद्भावना होनी चाहिये। लोगों को अपने विचार में परिवर्तन लाना चाहिये। ऐसा होने पर ही वैयक्तिक एवं सामाजिक विश्रृंखलता को दूर किया जा सकता है। असमर्थ व्यक्ति उपेक्षा का पात्र नहीं है और न वह सजा का ही अधिकारी है; इस तरह की विचारधारा का प्रसार होना चाहिये। सामाजिक उपचार ही सर्वोत्तम औषधि है। व्यक्ति को परिस्थिति और वातावरण पर ध्यान देना चाहिये। कार्य के अनुसार चरित्र को निर्धारित करने के लिये परिस्थिति पर ध्यान देना आवश्यक है।

ज्ञान और विचार के साथ-साथ मनुष्य का स्वभाव भी बदल जाता है। यदि कोई अन्धे से टकरा जाता है, तो उस पर गुस्सा न आकर दया आ जाती है। ऐसी बातों को शिक्षा और प्रचार के द्वारा लोगों के मस्तिष्क में लाना आवश्यक है। पुरानी विचारधारा को बदलकर उसके स्थान पर नवीन विचारधारा को अपनाना चाहिये। ऐसा करके जीवन के सारे दृष्टिकोण को बदला जा सकता है। समाज की उचित व्यवस्था के लिये बच्चों की उचित व्यवस्था आवश्यक है। उसके लिये उचित देख-रेख होनी चाहिये। उचित देख-रेख की कमी के फलस्वरूप ही बाल-मृत्यु की संख्या अधिक है। अनाथ बच्चे बुरे समझे जाते हैं। उनकी उपेक्षा होती है तथा उचित देख-रेख नहीं होती। इस तरह विश्रृंखलता बढ़ती है। सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार समाज में सुधार किये जांय, तभी सामंजस्य की स्थापना हो सकती है।

सामाजिक संस्थाओं में सामंजस्य की स्थापना के लिये सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाओं में परिवर्तन लाना अनिवार्य है।

द्वितीय अध्याय

असमर्थों की समस्या

भारत में असमर्थों की संख्या बहुत अधिक है। असमर्थ व्यक्तियों में हम उन अभागों की गिनती करते हैं; जो किसी कारणसे काम करने में अयोग्य होते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज तथा देश के लिए भारस्वरूप होते हैं। वे किसी-न-किसी व्यक्ति वा संस्था पर आश्रित होते हैं या अनाश्रित होकर भिक्षा पर जीते हैं। ऐसे लोगों से देश को बहुत बड़ी क्षति होती है।

सर्वप्रथम असमर्थता को हम दो भागों में बाँटना उचित समझते हैं :—

१—शारीरिक असमर्थता—इसके अन्तर्गत हम निम्न लिखित असमर्थता को ले सकते हैं।—

(क) अंधापन।

(ख) बहरा-गूंगापन।

(ग) लूला-लंगड़ापन।

(घ) कोढ़।

(ङ) अस्वस्थता।

२—मानसिक असमर्थता—इसके अन्तर्गत हम निम्नलिखित असमर्थता को ले सकते हैं :—

(क) रचना-दोष से उत्पन्न असमर्थता—इसके अन्तर्गत हम अविकसित चित्तता को ले सकते हैं, जिसमें इडियट, इम्बेसाईल और मोरोन तीन प्रकार के लोग आते हैं।

(ख) कार्य-दोष से उत्पन्न असमर्थता—इसके अन्तर्गत हम (१) विकृति तथा (२) रोग को ले सकते हैं। विकृति में अनेक प्रकार की विकृति तथा रोग में विक्षिप्त अर्ध-विक्षिप्त आदि अनेक प्रकार के रोग होते हैं।

असमर्थों की संख्या

१६५१ की जनगणना में असमर्थ व्यक्तियों की गणना नहीं की गई है। इसके पहले १६४१ की जनगणना में भी इसकी उपेक्षा ही की गई है। १६३१ में गणना की गई थी, परन्तु तब से अब तक यहां की जनसंख्या में इतना अधिक अन्तर आ गया है कि उतने पुराने आंकड़े का आज से कोई मिलान नहीं किया जा सकता। अतएव वर्तमान आंकड़ों का देना कदापि सम्भव नहीं है, फिर भी जहां तक ये आंकड़े उपलब्ध हो सके हैं, वे नीचे दिये जाते हैं :—

भारत में असमर्थों की संख्या—

(१) अंधे २०००००० आंशिक अन्धे इसके तीन गुणे (१६४७*)

(२) बहरे-गूंगे ८००००० (लगभग)

(३) लूले-लंगड़े................

(४ कोढ़ी २००००००

(५) मानसिक बीमारी ८००००० (लगभग)

उपर्युक्त आंकड़ों के अतिरिक्त और भी बहुत से असमर्थ हैं, जिनकी गिनती नहीं हो पाई है।

---

* Blind Committee के अनुसार प्रति हजार पीछे तीन अन्धे।

शारीरिक असमर्थता

शारीरिक दृष्टि से व्यक्ति दो प्रकार से असमर्थ होता है। एक तो वह, जो या तो जन्म से ही अपूर्ण पैदा होता है या बाद में किसी बीमारी या घटना के फलस्वरूप अंगहीन हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को हम शारीरिक अपूर्णता की श्रेणी में रख सकते हैं। दूसरे प्रकार में हम वैसे व्यक्ति की गिनती करेंगे जो शारीरिक दृष्टि से अपूर्ण नहीं है, परन्तु सभी अंगों से पूर्ण होते हुए भी किसी शारीरिक रोग का शिकार होकर अपने को असमर्थ पाता है। इस तरह शारीरिक अपूर्णता और शारीरिक रोग दोनों ही व्यक्ति को असमर्थ बनाते हैं। शारीरिक अपूर्णता से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की उस अवस्था से है, जिसमें उसकी शारीरिक शक्ति किसी अंग की कमी से स्थायी रूप से क्षीण हो जाती है। यह क्षीणता स्वाभाविक रूप से किसी में अधिक और किसी में कम होती है। यों तो प्रत्येक मनुष्य में कुछ-न-कुछ शारीरिक अथवा मानसिक अपूर्णता होती है। परन्तु हमें तो सिर्फ वैसे ही व्यक्ति को देखना है जो अपूर्णता के फलस्वरूप समाज में अपना सामंजस्य नहीं कर पाता है और सामाजिक समस्याओं का शिकार होता है, अर्थात् जिसके लिए एक विशेष व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

पुनः शारीरिक अपूर्णता दो प्रकार की होती है—(१) मस्तिष्क यंत्रों को प्रभावित करनेवाली और (२) मांस-पेशियों और हड्डियों को प्रभावित करनेवाली। इनमें पहली व्यक्ति के संज्ञापन शक्ति को क्षीण करती है और दूसरी उसके गमनागमन तथा हस्त-व्यवहार-शक्ति को। अन्धापन और बहरापन व्यक्ति की संज्ञापन-शक्ति की क्षीणता के फलस्वरूप होती है तथा अंग-हीनता या अंग-सञ्चालन की कमी विशेषतया गमनागमन और हस्त-व्यवहार शक्ति की क्षीणता के फलस्वरूप। दोनों तरह की अपूर्णता का पूर्ण पारस्परिक सहयोग नहीं होता। अप्रत्यक्ष

रूप से अन्धापन चलने में बाधक होता है और हाथ की कमी से लिखना कठिन हो जाता है।

अन्धों की समस्या

अन्धों का जीवन बड़ा ही दुःखदायी है। प्राचीनकाल में तो अन्धों के ऊपर कभी ध्यान ही नहीं दिया जाता था। उसे बिना किसी देख-भाल के छोड़ दिया जाता था और वह भिक्षा मांग कर अपनी आजीविका चलाता था। ऐसे बच्चे जो जन्म से अन्धे होते थे, फेंक या मार दिये जाते थे। दुनियाँ के किसी भी भाग में अन्धे को रखना अच्छा नहीं समझा जाता था। सबसे पहले फ्रांस में लुई ९ वें ने इसपर ध्यान दिया तथा १२६० ई० में ३०० अन्धों को एकत्र कर एक संस्था की नींव डाली। इसके पश्चात् क्रमशः अन्धों के प्रति लोगों की सहानुभूति बढ़ती गई। कालान्तर में उनकी शिक्षा की भी बात सोची गई। परन्तु १६ वीं शताब्दी तक अन्धों की शिक्षा के लिए नाममात्र की ही व्यवस्था हो पाई। हाँ, अन्धों को शिक्षित बनाने के साधनों की खोज इस बीच काफी जोर-शोर से जारी रही और इस ओर लोगों की दिलचस्पी बढ़ती गई। इसके पश्चात् अन्धों को शिक्षित बनाने के व्यक्तिगत प्रयत्न १७८४ तक होते रहे। १७८४ में ही पेरिस में अन्धों के लिए सर्व प्रथम स्कूल खुले। फ्रांस के एक सम्मानित व्यक्ति वेलेंटिन हेने (Valentin Hany) ने इस स्कूल की स्थापना की। इन्होंने बड़ी तत्परता के साथ अन्धों के लिए कार्य किया और इन्हें काफी सफलता भी मिली। १७८६ में इन्होंने वर्साया में राजा के सामने एक प्रदर्शनी भी की। १७९१ ई० में उनकी संस्था सरकार द्वारा पब्लिक संस्था बना दी गई। इसके पश्चात् अन्य देशों में भी इस दिशा में प्रयत्न होने लगे। १७९१ में इङ्गलैण्ड में इस ढंग की पहली संस्था एडवर्ड रस्टन द्वारा (जो स्वयं एक आँख खो चुके थे) खुली। १७९३ में

ब्रिस्टल में तथा १७६६ में सेण्टजार्ज स्कूल लन्दन में अन्धों की संस्थाएँ खुलीं। इसके बाद ब्रिटेन तथा यूरोप के विभिन्न हिस्सों में बहुत सी संस्थाएँ खुलीं। १८३२ में अमेरिका के विभिन्न राज्यों में अन्धों के लिए विभिन्न संस्थाएँ खुलीं। इस तरह क्रमशः मानवता की भावना का विकास होता गया और सभी देशों ने अन्धों की समस्या पर ध्यान देते हुए उनके लिए कुछ करना आवश्यक समझा। भारत के विभिन्न राज्यों में भी अन्धों की बहुत सी संस्थाएँ हैं, जो कि उनके लिए तत्परता के साथ काम में लगी हुई हैं। किन्तु अन्य देशों की अपेक्षा भारत में अभी बहुत कम काम हो पाया है। यहां के गली-कूचों में सर्वत्र अन्धे भिक्षा मांगते हुए पाये जाते हैं। शहर, बाजार, हाट, ट्रेन के डब्बों तथा बस-स्टेण्डों पर सर्वत्र अन्धे भिक्षा मांगते हुए दिखाई पड़ते हैं।

अन्धों की संख्या

भारत में अन्धों की संख्या अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक है। १९४७ के आंकड़े के अनुसार यहां अन्धों की संख्या २० लाख है। यहां की प्रति १००० आबादी के पीछे ३ अन्धे हैं। आंशिक अन्धों की संख्या तो इससे भी तीन गुणी है। १९३१ की जनगणना के पश्चात् १९४१ तथा १९५१ में अन्धों की गिनती नहीं की गई है। १९३१ की गणना में यह तथ्य निकाला गया था कि अन्धापन बुढ़ापे की एक प्रधान बीमारी है। ३० वर्ष की अवस्था तक के लोगों में देखा गया है कि प्रति एक लाख पीछे ९५ २९ व्यक्ति अन्धे थे, जब कि ५० वर्ष की अवस्था तक ३४०'९७ और उससे अधिक अवस्था वालों में यह संख्या २२९९'३० थी। स्त्रियों में यह संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक पाई गई।

अन्धा होने के कारण

मोटे रूप से अन्धा होने के कारणों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) आनुवंशिक—जन्म से अन्धा पैदा होना

(२) बीमारी—निम्नलिखित बीमारियों का अन्धा बनाने में विशेष हाथ रहता है :—

(क) चेचक

(ख) बचपन का आपथैलमिया (Opthalmia neonatorum)

(ग) ट्रेकोमा (Trachoma)

(घ) मोतियाबिन्द (Cataract)

(ङ) गर्मी (Syphilis) } Venereal Disease.

(च) सुजाक (Gonorrhea) } Venereal Disease.

(छ) दृष्टिक्षीणता (Myopia)

(ज) ग्लौकोमे (Glaucoma)

उपर्युक्त बीमारियों की वृद्धि में असभ्यता तथा निरक्षरता का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। कुछ धार्मिक-विश्वास ऐसे हैं जिनके अनुसार बीमारी को ईश्वर की देन समझते हैं तथा चिकित्सा नहीं कराते। चेचक एक ऐसी बीमारी है जिसके फलस्वरूप प्रतिवर्ष हजारों व्यक्ति अन्धे होते हैं, परन्तु धार्मिक-विश्वास के फलस्वरूप लोग इसका इलाज नहीं कराते। चेचक को माता के नाम से पुकारा जाता है, जिसे यह बीमारी होती है उसपर देवी का प्रकोप समझा जाता है। देवी की पूजा विशेष रूप से की जाती है और प्रसाद भी वितरण होता है, जिसके साथ-ही-साथ चेचक का भी वितरण होता है, क्योंकि यह एक संक्रामक बीमारी है, पर धार्मिक विश्वास इस ओर ख्याल नहीं आने देता।

शहरों की गन्दगी, अस्वास्थ्यकर स्थान, मोटरों से उड़ती हुई घोड़े की लीद से भरी सड़कों की धूल, बिजली की चकाचौंध तथा सिनेमा भी उपर्युक्त बीमारियों को बढ़ाने में सहायक बनते हैं।

(३) आकस्मिक दुर्घटना—बहुत सी ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं, जिनसे व्यक्ति की आँखें खराब हो जाती हैं और वे अन्धे हो जाते हैं। औद्योगिक क्षेत्रों में प्रतिवर्ष बहुत से व्यक्ति दुर्घटनाओं के फलस्वरूप अन्धे हुआ करते हैं।

निराकरण के उपाय

अन्धों की समस्या के निराकरण के लिए सर्वप्रथम हमें अन्धापन को बढ़ाने वाले कारणों को दूर करना उचित होगा। तत्पश्चात् हमें अन्धों के लिए इस तरह की व्यवस्था करनी चाहिए कि उन्हें यह ज्ञात न हो कि अन्धा होने के कारण उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। अन्धों को शिक्षा देकर इस योग्य बना दिया जाय कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हर तरह से प्रयत्न कर सकें। शिक्षा देकर उन्हें आत्मनिर्भर बना देना चाहिए। वे अपनी रोजी स्वयं कमा सकें, किसी पर आश्रित रहकर उन्हें जीवन-यापन न करना पड़े। शिक्षा और अभ्यास के द्वारा एक अन्धा भी उतना ही कारगर हो सकता है, जितना कि आँख वाला। अमेरिका में अन्धों के लिए ऐसी व्यवस्था है कि वह अपनी जीविका के लिए सफलता पूर्वक उतना ही कमा लेता है; जितना कि आँख वाला, किन्तु भारत एक ऐसा अभागा देश है, जहां कि अन्धों को गली-कूचों में भटकना तथा भिक्षा पर जीना पड़ता है। भिक्षा-वृत्ति के अतिरिक्त उसके आगे और कोई चारा नहीं है। ट्रेनों में यात्रा करते समय कभी भी ऐसा अवसर नहीं आता जब कि दो या चार अन्धे डब्बे में गाना गाकर भीख मांगते हुए न पाए जायँ। अन्धों की समस्या ने भिक्षा-वृत्ति को काफी बढ़ाया है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि जगह-जगह अन्धों के लिए स्कूल खोले जायँ और वहां उन्हें समुचित शिक्षा देकर ऐसा बना दिया जाय कि वे भिक्षा-वृत्ति को छोड़कर अन्य उत्पादक कार्यों में हाथ बँटा सकें।

अंधों की शिक्षा

अंधों की शिक्षा के लिए उभड़े हुए अक्षरों से काफी सहायता मिलती है। इस तरह के अक्षरों का आविष्कर्त्ता लुईस ब्रेली थे। इनका जन्म १८०६ ई० की ६ जनवरी को पेरिस के पास एक गांव में हुआ था। जब ये तीन वर्ष के थे, तभी किसी दुर्घटनावश अंधे हो गये। दस वर्ष की अवस्था में ये एक संस्था में भर्ती हुए, जहां कि इन्होंने पढ़ना-लिखना सीखा। इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी, अतः शीघ्र ही इन्होंने बहुत कुछ सीख लिया। आगे चलकर ये उस संस्था के इन्सट्रक्टर बना दिये गये। इन्होंने अपने अतिरिक्त समय को सदा अनुसंधान में लगाये रखा और उसी सिलसिले में उभड़े हुए अक्षरों का आविष्कार किया। उभड़े हुए बिन्दुओं द्वारा अंधों को शिक्षित करने की इन्होंने एक विशेष प्रणाली निकाली। उभड़े बिन्दुओं को उंगलियों से छूकर अंधे आसानी से पढ़ने लगे। इस प्रणाली का आविष्कार सन् १८२६ में हुआ तथा १८३४ में इसमें कुछ आवश्यक सुधार किये गये। १८५४ में इस प्रणाली को सरकारी मान्यता भी मिल गई। मान्यता मिलने के दो वर्ष पूर्व सन् १८५२ में ब्रेली साहब की मृत्यु हुई।

ब्रेली साहब ने अंधों को ज्ञान का प्रकाश दिया और अंधों की शिक्षा-जगत में एक नई क्रान्ति पैदा की। अतएव इन्हींके नाम पर इनकी निकाली हुई पद्धति ब्रेली-पद्धति कहलायी। आज समस्त दुनियां में ब्रेली-पद्धति से अंधों को शिक्षा दी जा रही है।

भारत में अंधों की शिक्षा आज से ७० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई। विभिन्न ब्रेली पद्धतियों द्वारा जगह-जगह अंधों को शिक्षित बनाने का प्रयत्न हो रहा है। इस समय यहां नीचे लिखे दस प्रकार के ब्रेली कोड प्रचलित हैं—

(१) सिरेफ ब्रेली (Shirreff Braille)

(२) इन्डियन ब्रेली (Indian Braille of Dr. Nilkanthari)

(३) तामिल ब्रेली (Tamil Braille of Miss. Askwith)
(४) मैसूर और कनडा कोड (Mysore & Kanada Code)
(५) चटर्जी कोड (Chatterjee Code)
(६) ओरियेन्टल ब्रेली (Oriental Braille by Rev. J. Knowles and Mr. L. Garthwaiti)
(७) शाह ब्रेली (Shah Braille)
(८) सिंधी ब्रेली (Sindhi Braille of Mr. P. M. Advani)
(९) यूनिफार्म इन्डियन ब्रेली (Uniform Indian Braille framed by the Expert Braille Committee of the Central Advisory Board of Education)
(१०) स्टेन्डर्ड इन्डियन ब्रेली (Standard Indian Braille framed by an informal committee under the Chairmanship of Lt. Col. Sir Clutha Mackenje).

भारत में अंधों के लिए काम करनेवाली संस्थाएँ

निम्न लिखित संस्थाओं ने अंधों के लिए सराहनीय कार्य किये हैं:—

Name of Society	*Date Founded*
1. The Calcutta Blind School, Behala	1897
2. All India Lighthouse for the Blind, Calcutta	1941
3. Institute for Blind Hill Boys and Men, Kalimpong	1940
4. S. P. G. Mission Blind School, Ranchi.	1898
5. Blind School, Patna.	1922
6. Dadar School for the Blind, Bombay.	1900
7. The Happy Home for the Blind, Bombay.	1225

8. N. S. D. Industrial Home for the Blind, Bombay. 1917
9. Victoria Memorial School for the Blind, Bombay. 1902
10. Poona School for the Blind. 1935
11. The Haji Allarakhia Sonavala Andershi Ashram, Andheri. 1938
12. Blind Boys' Institute, Nagpur. 1928
13. The Educational and Industial School for the Blind, Palamoottah. 1890
14. Victory Memorial Blind School, Poonamallee. 1929
15. Lutheran Mission for the Blind, Rentachintala. 1910
16. Catholic School for the Deaf and Blind, Ramnad District Sirivilliputur.
17. School and Home for the Blind, Allahabad. 1910
18. Sharp Memorial School for the Blind, Dehra-Dun. 1887
19. The Blind School, Lucknow. 1940
20. St. Dunstan's Hostel for Indian War-Blinded, Dehra-Dun. 1943
21. School for the Deaf and Blind, Baroda. 1915
22. Krishna Kumarsinghji School and Home for the Blind, Bhavnagar. 1932
23. School for the Blind, Cochin. 1934

24. Government School for the Deaf and Blind, Hyderabad. 1939
25. Shri Madhav Blind Asylum Lashkar, Gwalior.
26. School for Deaf and Blind Boys, Mysore. 1901
27. Government School for the Blind, Bhawalpur. 1943

बहरा-गूंगा

यों तो भारत में बहरों की संख्या बहुत अधिक है, पर सिर्फ बहरा होने से वह सामाजिक समस्या का विषय नहीं बनता। समस्या का विषय तो वह होता है जो बहरा होने के साथ-साथ गूंगा भी होता है। बहरा-गूंगा समाज के साथ अपना सामञ्जस्य करने में सदा असफल रहता है। भारतवर्ष में ऐसे लोगों की संख्या १९३१ ई० की जनगणना के अनुसार २३०८९५ थी। प्रति एक लाख के पीछे ६६ बहरे-गूंगे थे। सिर्फ बहरों की संख्या तो और भी अधिक थी। १९५१ की जनगणना में बहरे गूंगे की गिनती नहीं की गई है, जिससे इस समय इनकी संख्या का ठीक-ठीक हिसाब लगाना भी बहुत कठिन है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ इनकी संख्या में वृद्धि ही हुई है न कि कमी।

बहरेपन की जांच के लिए अभी हाल में भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्री ने एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की है। यह समिति देश में बहरेपन के कारणों तथा परिमाण का पता लगायेगी और उसकी रोक-थाम के लिए तथा बहरे लोगों के शैक्षिक पुनस्संस्थापन के लिए उपयुक्त उपायों की शिफारिश करेगी। इससे इस समस्या को कम करने में बहुत बड़ी सहायता की आशा की जाती है।

बहरा-गूंगा होने के कारण :—

(१) कुछ तो जन्म से ही बहरे और गूंगे पैदा होते हैं

(२) कुछ बाद में बीमारी के फलस्वरूप होते हैं। निम्नलिखित बीमारियों का इसमें विशेष हाथ रहता है :—

(क) स्कार्लेट फीवर (Scarlet fever)

(ख) छोटी माता (चेचक) (Measles)

(ग) कुक्कुर खांसी (Whooping cough)

बहरे-गूंगे की संख्या में प्रायः एक तिहाई उन लोगों की संख्या होती है जोकि पैदाइशी बहरे-गूंगे होते हैं। पैदाइशी बहरे-गूंगे की चिकित्सा सामान्यतया नहीं हो पाती, परन्तु बाद में होने वाले बहरे-गूंगे की बहुत कुछ चिकित्सा की जा सकती है। बहरा-गूंगा होने के पूर्व यदि उपर्युक्त बीमारियों की जिनसे बहरे-गूंगे की संख्या में वृद्धि होती है, चिकित्सा करके उन्हें बहरा-गूंगा होने से बचाया जा सकता है। साथ ही शैक्षणिक पुनर्संस्थापन द्वारा इस समस्या को बहुत कुछ हल किया जा सकता है। आज बहरे और गूंगे समाज के लिए एक भारस्वरूप हैं, परन्तु इन्हें शिक्षा और अभ्यास के द्वारा समाज का भार होने से बचाया जा सकता है और समाज इनसे भी लाभ उठा सकता है।

लंगड़ा-लूला

लूला-लंगड़ा व्यक्ति भी इन दिनों सामाजिक समस्या का पात्र बन रहा है। अंधे तथा बहरे की तरह इन्हें भी समाज में अपनी व्यवस्था करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अंग की कमी से व्यक्ति अपनी आजीविका कमाने में असफल रहता है, अतः या तो ऐसे लोगों को किसी की शरण में रहना पड़ता है या भिक्षावृत्ति ग्रहण करनी पड़ती है।

भारत में लूले-लंगड़े की संख्या का हिसाब लगाना भी एक दुष्कर-कार्य है। यहां की सरकार के यहां इसका कोई आंकड़ा नहीं रहता। शायद भारत सरकार को इसकी जरूरत ही नहीं प्रतीत होती कि वह अपने देश की सारी बातों की जानकारी रखे।

लूला-लंगड़ा होने के कारण—

इसके प्रधान दो कारण हैं :—(१) बीमारी और (२) आकस्मिक दुर्घटना।

निम्नलिखित बीमारियों का व्यक्ति को लंगड़ा-लूला बनाने में विशेष हाथ रहता है :—

(१) बचपन का लकवा (Infantile paralysis)

(२) हड्डी और जोड़ की गिल्टी (Bone and Joint tuberculosis)

(३) हड्डी का रोग (Osteomyelitis)

आकस्मिक दुर्घटनाओं में तो इतने अधिक लूले-लंगड़े होते हैं कि जिनकी गिनती करना आसान नहीं है। पेड़ से गिरना, मोटर, ट्रेन, जहाज दुर्घटना आदि अनेकों दुर्घटनाएँ मनुष्य को लंगड़ा-लूला बनाकर निकम्मा बना देती हैं। औद्योगिक क्षेत्रों में आकस्मिक दुर्घटनाएँ सदा होती ही रहती हैं और कारखानों में काम करनेवाले अधिकतर आकस्मिक दुर्घटनाओं के शिकार हुआ करते हैं। जहाँ मशीनों को घेरे में नहीं रखा गया है, वहाँ ये दुर्घटनाएँ और भी अधिक होती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि खतरनाक मशीनों की आवश्यक घेरेबन्दी की जाय। लूले लंगड़े की संख्या को बढ़ानेवाली बीमारियों की समुचित चिकित्सा होनी चाहिए। जो लूले-लंगड़े हो चुके हैं, उनके लिए जहाँ तक हो सके, पुनस्संस्थापन की व्यवस्था होनी चाहिए। सरकार की ओर से इस तरह की व्यवस्था होनी चाहिए कि लंगड़े और

लूले समाज के लिए भार बन कर न रहें। समाज भी इनके प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण रखे कि ये आत्महीनता और ग्लानि का अनुभव न करें।

बहरे-गूँगे तथा लंगड़े-लूले की समुचित चिकित्सा की व्यवस्था सरकार की ओर से होनी चाहिए। साथ ही उन कारणों को भी दूर करने का प्रयत्न किया जाय जिनके फलस्वरूप इनकी संख्या में वृद्धि होती जा रही है। इसके अतिरिक्त इस समस्या के निराकरण के लिए इस तरह की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए कि मनुष्य शेष अंगों से ही जीविकोपार्जन कर सके। सरकार को चाहिए कि ऐसे बेकार लोगों को इसी तरह के कार्यों में लगावे जिसके लायक वह हो। जो कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हों उनके लिए सरकार की ओर से भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए, अर्थात् ऐसे असमर्थ लोगों के लिये सरकार पेंसन की व्यवस्था करे।

कुष्ठ-रोग की समस्या

कुष्ठ एक भयानक रोग है। इसे देखते ही दिल में एक प्रकार का भय उत्पन्न हो जाता है। यह जिसे पकड़ लेता है उसके जीवन का स्वाहा कर डालता है। यों तो यह वैसा असाध्य रोग नहीं है जिसे दूर न किया जा सके, परन्तु सामाजिक उपेक्षा के फलस्वरूप यह असाध्य-सा ही हो जाता है। सामाजिक उपेक्षा के कारण रोगी बहुत शीघ्र ऊब जाता है और वह जीवन से अधिक मृत्यु को पसन्द करने लगता है। यह भयानक बीमारी अंग-प्रत्यंग गलाकर मनुष्य का प्राण लेती है। बहुत से लोग तो इस बीमारी से ऊबकर आत्महत्या कर लेते हैं। इस बीमारी से मृत्यु तो शीघ्र नहीं होती, पर कष्ट बहुत अधिक होता है। एक तरफ तो शरीरका गल-गल कर गिरना मनुष्य को बेचैन कर देता है और दूसरी ओर उसके प्रति कोई भी सहानुभूति

प्रदर्शित नहीं करता। समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसे उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखते हुए उसका तिरस्कार करता है। इस तरह शारीरिक कष्ट से भी अधिक उसे मानसिक कष्ट उठाना पड़ता है। नाना कष्टों को झेलते हुए वह सदा मृत्यु का आह्वान करता है, परन्तु मृत्यु भी उसके निकट शीघ्र नहीं आती। मृत्यु भी बहुत काल तक उसकी उपेक्षा करती है। वह नहीं चाहती कि कुष्ठ रोगी के पास जाय, यद्यपि अन्त में इच्छा न रहते हुए भी उसे अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए जाना ही पड़ता है। असह्य दारुण पीड़ा से रोगी घुल-घुल कर मरता है। उसके लिए जिन्दा रहना कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि सामाजिक दृष्टि से वह मरा ही समझा जाता है। जितनी घृणा लोग उस बीमारी से करते हैं, उतनी और किसी से नहीं करते। यह रोग मानवता का विनाश कर डालता है। बहुत कम लोगों के अन्दर मानवता रहती है, जो कि रोगियों की सेवा करने में अपने को लगा पाते हैं। यद्यपि यह सिद्ध हो चुका है कि कुष्ठ रोग एक साधारण बीमारी है और जैसा लोग भयानक समझते हैं वैसी नहीं है, फिर भी लोगों के हृदय से यह भय दूर नहीं होता। १९४७ में महात्मा गान्धी ने इस बात को सिद्ध कर दिखाया था कि यह खुजली, दाद, चेचक इत्यादि छूत लगनेवाली बीमारी से कोई अधिक भयानक नहीं है। उन्होंने २२-२३ अच्छे डाक्टरों से इस पर सम्मति ली थी और उन डाक्टरों ने बताया था कि यह बीमारी कोई अधिक महत्व नहीं रखती और इसकी छूत भी इतनी जल्द नहीं लगती जितनी की तपेदिक, हैजा, और प्लेग आदि की लगती है। अधिक दिनोंतक लगातार शारीरिक सम्पर्क से यह बीमारी लग सकती है, जूठा खाना, एक बर्तन में खाना, बच्चों को चूमना तथा खेलाना आदि व्यवहारों से यह छूत लगती है। गाँधीजी के इस प्रयत्न के फल स्वरूप बहुत से समाजसेवक कुष्ठ-सेवा के निमित्त कटिबद्ध हुए, परन्तु इसकी भयानकता आज भी समाज में बनी हुई है। कुष्ठ

रोग एक ऐसा रोग है कि झोपड़ियों से लेकर राजमहलों तक में दिखाई पड़ता है। इस रोग के सामने जाति, उम्र, पद का कोई भी स्थान नहीं है। सब में यह समान रूप से देखा जाता है। स्त्री हो या पुरुष, हिन्दू हो या मुसलमान, गरीब हो या अमीर, साधारण व्यक्ति हो या पुलिस, सेना अथवा कोई सरकारी कर्मचारी, किसान हो या मजदूर, विद्यार्थी हो या अध्यापक सब में समान रूप से यह रोग होता है। लोगों का यह कहना है कि कुष्ठ रोग अच्छा नहीं होता, गलत है। यदि रोग की प्रथम अवस्था में ही उपचार किया जाय तो रोग बहुत शीघ्र दूर किया जा सकता है। यह रोग अन्य प्रकार के रोगों की तरह ही होता है, अतः इस रोग से ग्रसित व्यक्ति की भी अन्य रोगों से ग्रसित व्यक्ति की तरह समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। सार्वजनिक अस्पतालों में उसकी भी चिकित्सा होनी चाहिये।

कुष्ठ रोग के कारण

यह रोग आम तौर से आनुवंशिक समझा जाता है, परन्तु चिकित्सा विशेषज्ञों का कथन है कि यह आनुवंशिक नहीं है। हाँ यह देखा जाता है कि जिस परिवार में यह रोग होता है उसमें पीढ़ी दर पीढ़ी तक यह बीमारी चलती रहती है, किन्तु इसका कारण आनुवंशिक नहीं वरन् निकट सम्पर्क है। रोगी के संसर्ग से ही यह बीमारी आनुवंशिक के रूप में दिखाई पड़ती है। छूत की तो बीमारी यह है ही। जिसे यह छूत लग जाती है उसे यह रोग हो जाता है। रोगी के बच्चे तथा निकट सम्बन्धी पास में रहने के कारण जल्द इसके शिकार हो जाते हैं। नार्वे के एक वैज्ञानिक ने खोजकर सिद्ध किया है कि यह रोग एक प्रकार के छोटे-छोटे कीड़ों द्वारा होता है।

इस बीमारी के आरम्भ में छूत फैलाने की अधिक शक्ति होती है। आरम्भ की अवस्था में रोगी रोग को छिपाने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। ऐसा इसलिये किया जाता है कि प्रकट हो जाने पर समाज

रोगी की उपेक्षा और तिरस्कार करने लगता है। लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कोई भी उसके साथ सहानुभूति प्रकट नहीं करता। दूसरी बात यह समाज में पाप रोग समझा जाता है। लोगों का ऐसा ख्याल रहता है कि जो पाप करता है उसपर देवता कुपित हो जाते हैं और दैवी प्रकोपके फलस्वरूप ही, यह रोग उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं यह पूर्व जन्म के पापों का भी फल माना जाता है। इस तरह जिसे यह रोग हो जाता है उसे महापातकी समझा जाता है। इसलिये रोगी यथाशक्ति प्रयत्न करता है कि वह रोग को प्रकट न होने दे। पर अन्त में जब रोग की भयंकरता बढ़ जाती है, तो वह छिपाने में असमर्थ होता और तब वह समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। बहुत दिनोंतक रोग छिपाये रहने की अवस्था में रोग की छूत भयंकर गति से फैलती है और रोग का प्रसार तीव्र गति से होता है। रोग फूट निकलने पर उसमें छूत फैलाने की शक्ति उतनी अधिक नहीं होती। अतः बाद में रोगी को घर से निकाल देनेपर भी कोई विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि वह अपना पूरा-पूरा काम पहले ही कर चुका होता है। इस तरह घृणा और उपेक्षा के फलस्वरूप ही इस बीमारी का अधिक प्रसार होता है। यदि रोगी से इस तरह घृणा न की जाय और उसे भरोसा हो कि अन्य रोग की ही भाँति इस रोग के होने पर भी कोई उससे घृणा न करेगा, वरन् सहानुभूति दिखलायगा, तो कोई कारण नहीं है कि वह उसे छिपाकर रक्खे। यदि रोगी को पापी न समझकर अन्य रोगियों की तरह समझा जाय तो वह रोग के पकड़ते ही उसे प्रकट कर देगा और समाज की उससे रक्षा हो सकेगी। इस तरह छूत की भयंकरता से समाज की रक्षा हो सकेगी और बीमारी अधिक न फैलने पावेगी।

कुछ लोगों का कहना है कि अधिक माँस-मछली खाने से यह रोग होता है, पर डाक्टरों ने यह सिद्ध कर दिया है कि माँस-मछली खाने से यह रोग नहीं होता, वरन् एक प्रकार के छोटे-छोटे कीड़ों से होता है।

कुष्ठ रोगियों की संख्या

भारत में कुष्ठ रोगियों की संख्या में तेजी के साथ वृद्धि होती जा रही है। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार भारत में कुष्ठ रोगियों की संख्या १०,००,००० है। परन्तु पूना में ३ जनवरी १९५३ को होनेवाले कुष्ठ-पीड़ित सम्मेन में श्रीदेवदास गांधी ने बताया है कि यह संख्या २० लाख है। उन्होंने इसकी वृद्धि की तीव्रता को बताते हुए कहा कि यदि इसी तरह इस रोग की उपेक्षा होती रही तो यह संख्या शीघ्र ही डेढ़ गुनी अर्थात् ३० लाख हो जायगी। हिन्दुस्तान में सबसे अधिक कुष्ठ रोगी उड़ीसा में हैं। वहाँ कुल १ लाख ७ हजार कुष्ठ रोगी हैं, जिनमें ६० हजार तो पूर्ण असाध्य हैं।

मुख्य पहचान

इस रोग की मुख्य पहचान है कि शरीर के किसी भाग में संज्ञा-शून्यता हो जाती है। सूई की नोक गड़ाने से रोगी को बहुत कम स्पर्श-ज्ञान होता है। इसका दूसरा लक्षण है कि शरीर के किसी भाग में या सर्वत्र चकत्ते दिखाई पड़ने लगते हैं। इन प्रारम्भिक लक्षणों को देख कर ही समझ लेना चाहिये कि कुष्ठको बीमारी है और उसी समय से उसका इलाज प्रारम्भ कर देना चाहिये। प्रारम्भिक चिकित्सा से आसानी से इसे बढ़ने से रोककर दूर किया जा सकता है।

कुष्ट-रोगी-सेवक

कुष्ठ रोगी की सेवा साधारण व्यक्तियों से नहीं हो सकती। महान् व्यक्ति ही अपने को कुष्ठ रोगी की सेवा में लगा सकता है। यह बीमारी ही ऐसी है कि देखते ही लोग डर जाते हैं कि कहीं उन्हें भी न पकड़ ले। सामाजिक तिरस्कार और उपेक्षा के चलते रोगी की अवस्था ऐसी दर्दनाक हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति उसकी कल्पना करके

सिहर उठता है। रोगी को देखकर दया तो आती है, परन्तु कहीं रोग पकड़ न ले और उसे भी सामाजिक उपेक्षा और घृणा का पात्र न बनना पड़े, यह सोचकर कोई भी दयालु व्यक्ति कुष्ठ रोगी की सेवा करने के लिए तैयार नहीं होता। कुष्ठ-रोगी सेवक के बारे में 'आज' ने अपने अग्रलेख में लिखा है—"कुष्ठ रोगी की सेवा का जो व्रत लेते हैं वे साधारण मनुष्य नहीं। उनके अन्दर वह मानवता जागृत है जिसको आदर्श मान हम उसकी आकांक्षा किया करते हैं।" कोई भी भीरु व्यक्ति इस सेवा-व्रत को अपना नहीं सकता, इसके लिए अदम्य उत्साह और साहस का काम है। ईसाई धर्म-प्रचारकों में यह उत्साह और साहस है और यही कारण है कि भारत में सबसे पहले ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ही इस ओर सबसे पहले कदम बढ़ाया। ईसाई धर्म-प्रचारकों से ही प्रेरणा पाकर विश्वबन्धु महात्मा गांधी ने इस ओर ध्यान दिया। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने देश के विभिन्न भागों में कुष्ठ-रोगी की सेवा के निमित्त कुष्ठ-सेवाश्रमों की स्थापना की। बिहार में ५ कुष्ठाश्रम ईसाई मिसनरियों द्वारा चलाये जा रहे हैं। इन सेवाश्रमों में रोगियों की समुचित सेवा होती है।

निराकरण के उपाय

कुष्ठ रोग के निराकरण के लिए सर्वप्रथम इस बात की आवश्यकता है कि लोगों की विचारधारा को बदलने का प्रयत्न किया जाय। कुष्ठ रोग के प्रति जो लोगों की उपेक्षा की भावना है, उसे बदल कर इस तरह की भावना का संचार किया जाय कि इससे घृणा करने से ही यह बीमारी अधिक फैल रही है। अतः इससे घृणा न करके अन्य रोगों की तरह ही इसके भी उपचार का प्रयत्न किया जाना चाहिए। उपेक्षा के फलस्वरूप ही यह समाज में तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है। यदि इसके प्रति सामाजिक धारणा बदल जाय और अधिकाधिक व्यक्ति इसकी सेवा को कटिबद्ध हो जाँय तो बहुत शीघ्र इसका निराकरण

किया जा सकता है। यह छूत की बीमारी है और छूत से ही फैलती है। रोगी के साथ खाने, उसके बर्तन, कपड़े आदि के व्यवहार करने से यह रोग फैलता है। बच्चों और युवकों को यह रोग शीघ्र पकड़ता है। अतः उन्हें रोगी के संसर्ग से बचाना चाहिए। रोगी को परिवार के साथ न रख कर अलग आश्रम में रखना चाहिए, जहाँ उसकी समुचित सेवा हो सके। इस प्रकार रोगी भी अच्छा हो जायगा और उससे समाज भी बचा रहेगा। परिवार के अन्य लोगों को रोग होने का भय नहीं रहेगा। समुचित उपचार से रोगी अच्छा किया जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि यह रोग असाध्य नहीं है। यदि रोग के प्रारम्भ से ही चिकित्सा समुचित ढंग से की जाय तो रोग बहुत शीघ्र आराम हो जाय और भीषण वीभत्स रूप देखने को न मिले। कुष्ठरोग की चिकित्सा के निमित्त यदि हर जिले में एक कुष्ठाश्रम की व्यवस्था की जाय और उनमें जिले के सारे रोगियों को रख कर उनकी समुचित चिकित्सा की जाय, तो बहुत शीघ्र इस भयानक समस्या का निराकरण किया जा सकता है। इस कार्य के लिए सरकार तथा जनता दोनों को हाथ बटाना चाहिए।

रोग होने पर तो उसकी चिकित्सा होनी ही चाहिए, परन्तु इतने से ही निराकरण का कार्य नहीं हो जाता। रोग फैलने न पावे इसके लिए काफी सतर्क रहना चाहिए। रोगी के कपड़े, बर्तन, बिस्तरे आदि का व्यवहार अन्य व्यक्ति को न करना चाहिए। उसके सोने के कमरे में कोई न सोवे। बच्चों को रोगी के निकट कभी न जाने देना चाहिए।

रोग के प्राथमिक लक्षण के दिखाई पड़ते ही उपचार प्रारम्भ कर देना चाहिए। सर्वप्रथम खून की जांच करा लेनी चाहिए। इसके लिए सभी जिलों के सरकारी अस्पतालों में निःशुल्क व्यवस्था रहती है। यदि रोग के लक्षण दिखाई पड़ जाँय तो उसी समय से सतर्क हो जाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि छूत से रोग और अधिक

बढ़ने न पाये। इस तरह यदि आरम्भिक अवस्था से ही समुचित उपचार किया जायगा तो रोगी भी अच्छा हो जायगा और इससे समाज की रक्षा भी हो सकेगी।

गोरखपुर कुष्ठ-सेवाश्रम के अध्यक्ष (Superintendent) श्री विजयनाथ त्रिपाठी ने अपने एक लेख में लिखा है कि १०० जनसंख्या के गांव में कुष्ठ रोगी के प्रति मानवता प्रकट करने तथा उसकी सहायता करने के लिए निम्नलिखित व्यवस्था करनी चाहिए :—

"गांव के लोग अग्रसर होकर उसके रहने के लिए एक सुन्दर व साफ-सुथरी कुटिया ऐसे स्थान पर बनायें कि जहाँ गांव का कूड़ा-कर्कट या गन्दगी न रहे और रोगी के नीरोग होने के लिए उसकी रोग प्रतिकार शक्ति निरन्तर बढ़ती रहे। गांव के बच्चों को संसर्ग से बचाते हुए उसके कौटुम्बिक व सामाजिक जीवन में कोई बाधा न आये। ऐसा यदि होने लग जायगा तो बीमारी छिपाने की प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी। रोगी स्वयं अपनी बीमारी प्रकट करेगा और बीमारी का प्रसार रुक जायगा।"

परन्तु इतनी ही व्यवस्था से काम चलने को नहीं है। जबतक समाज के कुछ व्यक्ति तन-मन-धन से कुष्ठरोगी-सेवा के लिए प्रस्तुत न हो जांय तब तक इसका निराकरण नहीं किया जा सकता। साथ ही गरीबी और गन्दगी (जो कि कुष्ठ रोग के प्रसार में बहुत बड़ी सहायता करती है) का दूर करना कुष्ठ रोग के निवारणार्थ आवश्यक है। तीर्थस्थानों में प्राय: कुष्ठरोगियों की भरमार होती है। अतः ऐसा प्रबन्ध किया जाना चाहिए कि रोगी यत्र-तत्र घूमते न रहें। प्रत्येक तीर्थस्थान में एक-एक बृहत् कुष्ठ-आश्रम होना चाहिए, जहाँ कि सारे कुष्ठ रोगियों को रखा जा सके। सड़कों पर किसी भी रोगी को रहने न देना चाहिए।

मद्रास में कुष्ठरोगी को गांव से बाहर रखने की व्यवस्था की गई है।

इस तरह रोगी के रहने तथा सोने की अलग व्यवस्था करके रोग को फैलने से बहुत कुछ रोका जा सकता है। उत्साही कार्यकर्त्ताओं को इस रोग की चिकित्सा के लिए आरम्भिक शिक्षा दी जानी चाहिए। कार्य-कर्त्ताओं को जब रोग-सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान होगा तब इन्हें रोग के रोकने में विशेष सफलता मिलेगी। ग्राम-पंचायत तथा गांव के अध्यापकों द्वारा इस रोग के निवारण में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। पंचायत के सदस्यों एवं अध्यापकों को इसकी प्रारम्भिक चिकित्सा की जानकारी कराई जानी चाहिए, जिससे वे आसानी से रोग पकड़ते ही पहचान लें और उसके लिए समुचित व्यवस्था करें। स्त्रियों में काम करने के लिए अध्यापिकाएँ तथा अन्य समाजसेवी महिलाएं अपना थोड़ा समय लगाकर काफी सफल हो सकती हैं। वे स्त्रियों में इस बात का प्रचार करें कि रोग पकड़ते ही उसे प्रकट कर दें, क्योंकि छिपाने से खतरा बहुत अधिक बढ़ जाता है। तीर्थस्थानों में महात्मा तथा साधु-सन्यासी इस कार्य में अच्छी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। आजकल प्रायः सभी जिलों में एक-एक सरकारी अस्पताल हो गया है। इन अस्पतालों में कुष्ठ रोग की औषधियाँ रहती हैं। लोगों को उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए।

कुष्ठरोगी और महात्मा गान्धी

महात्माजी ने हिन्दुस्तान के अन्दर सभी क्षेत्रों में एक नई चेतना ला दी। कुष्ठरोगी-सेवक पैदा करने का भी उन्हींको श्रेय है। उन्होंने इस सेवा को मानवता की सर्वोत्तम सेवा बतलाया और समाज को इसका महत्व बतलाते हुए अपने रचनात्मक कार्य में इसे स्थान दिया। महात्माजी के प्रयत्न के फलस्वरूप समाज में बहुत से कुष्ठरोगी-सेवक निकल आये और उन्होंने तन-मन से कुष्ठरोगी की सेवा की। श्री मनोहर दिवाणजी ने महात्माजी की प्रेरणा के ही फलस्वरूप वर्धा में कुष्ठाश्रम की

स्थापना कर अपना सारा जीवन रोगियों की सेवा में लगाने का निश्चय किया। महात्माजी ने स्वयं अपने हाथों कुष्ठरोगी की सेवा की तथा सेवा की भावना पैदा कर सेवकों का उत्साह बढ़ाया।

अस्वस्थता

वैयक्तिक असामंजस्य के कारणों में से एक प्रधान कारण अस्वस्थता है। अस्वस्थ रहने के कारण व्यक्ति की शक्ति क्षीण हो जाती है। वह काम करने में असमर्थ हो जाता है और फलस्वरूप उसकी आय बन्द हो जाती है। आय के बन्द होते ही तरह-तरह की बुराइयां दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

बीमारी व्यक्ति के सारे जीवन को प्रभावित करती है। यदि बीमारी दीर्घकाल तक चलती है तो व्यक्ति समाज के नियमानुसार चलने में असमर्थ हो जाता है, क्योंकि आय बन्द हो जाने के कारण कोई भी काम वह समुचित रूप से नहीं कर सकता है और न अपने स्तर को ही बनाये रह सकता है। ज्यों-ज्यों बीमारी लम्बी होती जाती है व्यक्ति की निराशा और कठिनाइयाँ बढ़ती जाती हैं। उसका उत्साह भंग हो जाता है और भविष्य की सारी आशाएं क्रमशः लोप होने लगती हैं। धीरे-धीरे वह निराशा की घोर तमिश्रा के बीच खो जाता है और अपने-आपको भी भूल बैठता है। इस तरह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान उसे नहीं रह जाता और उसका नैतिक पतन भी होने लगता है।

स्वास्थ्य ही सामाजिक उपयोगिता और वैयक्तिक योग्यता की नींव है। श्रमिकों के लिए तो यह और भी महत्वपूर्ण है। अस्वस्थता उसके लिये सबसे अधिक हानिकारक है। क्योंकि उसके पास श्रम ही एकमात्र अवलम्ब होता है और वह भी अस्वस्थता के कारण नष्ट हो जाता है।

इस तरह उसके परिवार की बड़ी दुर्दशा हो जाती है। पुरुष के बीमार होने पर घर की आय रुक जाती है। स्त्रियों की आर्थिक महत्ता पुरुषों से आधी मानी जाती है, क्योंकि वह पुरुषों की अपेक्षा कम काम कर सकती है।

यों तो बीमारी प्रत्यक्षरूप से काफी हानि पहुंचाती है ही, पर यदि बीमारी के फलस्वरूप किसी परिवार के प्रधान की मृत्यु हो जाती है, तो वह परिवार पूर्ण रूप से विश्रृंखल हो जाता है और तरह-तरह की समस्याओं का शिकार बन जाता है। मान लीजिये कि कोई मध्यम-वर्ग का व्यक्ति जिसकी पेशा नौकरी है, बीमार पड़ जाता है, बीमारी की लम्बी अवधि के फलस्वरूप उसकी नौकरी चली जाती है। उसके लिये अब कोई चारा नहीं रह जाता है। उसकी आय समाप्त हो जाती है। चिकित्सा के लिये उसके पास रुपये नहीं हैं। स्त्री के आभूषण भी बीमारी के कारण बिक जाते हैं और फिर भी वह चंगा नहीं हो पाता। निष्ठुर काल उसे अपना ग्रास बनाकर ही छोड़ता है। अपने पीछे वह पाँच संतान भी छोड़ जाता है। अब पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि उसकी विधवा तथा बच्चों की क्या अवस्था होगी? मध्यम वर्ग में औरतें प्रायः काम नहीं करतीं, जिससे मामला और भी जटिल हो जाता है। पेट की चिन्ता से कोई भी मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता, चाहे वह कोई क्यों न हो। छोटे-छोटे बच्चे काम करने में असमर्थ हैं, जिससे विधवा का भार और भी बढ़ जाता है, आपत् काल में कोई सम्बन्धी भी सहायता करने से हाथ खींच लेता है। प्रायः मित्र सुख के साथी ही हुआ करते हैं। बेचारी विधवा आजीविका की खोज में घर से निकलती है। पास-पड़ोस में कूट-पीसकर किसी प्रकार वह अपना तथा अपने बच्चों का भरण-पोषण करती है। किन्तु समाज की वक्र दृष्टि उस पर पड़ती है और अन्त में उसे अपना घर भी छोड़ना पड़ता है, जो कि उसकी एकमात्र सम्पत्ति थी। बच्चों के लिये कोई व्यवस्था

नहीं हो पाती, उनकी शिक्षा की व्यवस्था के बारे में पूछना ही क्या, जब कि उन्हें दो-तीन संध्या के उपरान्त भी भर पेट सूखी रोटी उपलब्ध नहीं हो पाती। अब पाठक कल्पना करें, उस समय की जब कि एक दिन सभी तरह से सुखी परिवार विभिन्न सामाजिक समस्याओं का शिकार होकर समाज के लिये अभिशाप बनकर समाज-विरोधी कार्यों में संलग्न है। विधवा वेश्या बनती है, बड़ा लड़का भयंकर डाकू निकलता है, लड़की व्यभिचारिणी होती है और छोटे लड़के चोरी तथा भिक्षावृत्ति करते नजर आते हैं। सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करनेवाले एक स्वर से इस बात को स्वीकार करेंगे कि यदि वह व्यक्ति अस्वस्थ होकर मर नहीं जाता, तो उसके परिवार की कदापि यह अवस्था न होती। उसके बच्चे आदर्श नागरिक बनते, परन्तु इस एक कारण ने कितने ही परिणाम प्रकट कर दिखाये।

भारतीय जन-स्वास्थ्य संबंधी आंकड़े

	१९२५	१९२६	१९३७	१९४०
अस्पताल और दवा खाने	३७५३	४४३६	५२८५	५८८५
चिकित्सा प्राप्त व्यक्ति (०००)	३६४२४	५१६४०	७१०५७	८१८१५
प्रति मील जन्म दर	३२	३३	३५	३३
प्रति १००० पीछे जन्म	१७४	१७८	१६२	१६०
जन-स्वास्थ्य पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार द्वारा किये हुए खर्च (लाख रु० में)	५०१	५६६	५६३	६३२
हैजा, चेचक और प्लेग से प्रति मील पीछे मृत्यु	१·३	२१·८	०·७	

भारतीय जन्म-मृत्यु के आंकड़े*

	कुल जन्म	कुल मृत्यु
१९३८	९३९८०००	६६८५०००
१९३९	९३४६०००	६१६५०००
१९४०	९२८४०००	६१२२०००
१९४१	९४२६०००	६४८३०००
१९४२	८७१५०००	६३३६०००
१९४३	७७७६०००	७१०९०००
१९४४	७५०८०००	७३०७०००
१९४५	८३७४०००	६६०९०००
१९४६†	७६५४०००	४८५६०००
१९४७	६४०६०००	४७३७०००
१९४८	६१९६०००	४१६८०००
१९४९	६७६२०००	४०४४०००

* हिन्दुस्तान इयर बुक १९५२ से।

† बाद में पूर्वी पाकिस्तान में गये हिस्से को छोड़कर।

बाल-मृत्यु संबंधी आंकड़े १६४६*

Death per 1,000 live-birth

भारत	१२३	पुर्तगाल	११४·५
लंका	८७·०	फिनलैंड	४८·३
आष्ट्रिया	७५·६	कनाडा	४२·८
इटली	७४·१	दक्षिण अफ्रिका	४०·१
स्पेन	७४·१	स्वीटजरलैंड	३४·३
जापान	६२·०	युनाइटेड किंगडम	३४·१
बेलजियम	५७·२	संयुक्त राष्ट्र	३१·१
फ्रांस	५६·०	नीदरलैंड	२६·८
आयरलैंड	५१·५	स्वीडन	२३·२

उपर्युक्त आंकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि भारत का स्वास्थ्य अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक गिरा हुआ है। अस्पतालों की संख्या जनसंख्या को देखते हुए बहुत ही कम है। सामान्यतया लोगों के लिये चिकित्सा सुलभ नहीं है और बहुत से व्यक्ति प्रतिवर्ष चिकित्सा के अभाव में ही काल-कवलित हो जाते हैं। मृत्यु-संख्या यहाँ बहुत ही अधिक है। यदि जन्मसंख्या यहाँ की कम होती तो यहाँ की आबादी कब की समाप्त हो गई होती। जन्म-संख्या की अधिकता के कारण ही मृत्यु-संख्या की भीषणता दृष्टिगोचर नहीं होती। बाल-मृत्युके आंकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि भारत का दर्जा बालमृत्यु में सबसे आगे है। दुनिया के किसी भी देश में यहाँ की तरह बच्चों को मृत्यु नहीं होती। ये आंकड़े हमें इस बात के प्रमाण देते हैं कि भारत का स्वास्थ्य दुनिया के सभी देशों की अपेक्षा निम्न स्तर पर है।

* Hindustan year-book 1952.

भारत की यह अवस्था यहाँ के व्यक्ति के विकास में सर्वथा बाधक सिद्ध हो रही है। जब तक यह अवस्था रहेगी, तब तक यहाँ के नागरिक अच्छे और समुन्नत नहीं हो सकेंगे। नागरिकता के समुचित विकास के लिये देश के स्वास्थ्य में सुधार होना आवश्यक है। आज यहाँ के लोग निर्बल तथा कृष हैं। यहाँ के श्रमिक कमजोर हैं। जिनके बल पर देश उन्नति कर सकता है, उनके बदन पर मांस नहीं है, अधिक उत्पादन हो तो कैसे? बहुत थोड़े से लोग ऐसे हैं, जिन्हें अच्छी तरह स्वस्थ कहा जा सकता है। श्रमिक-वर्ग में तो ढूँढ़ने पर भी स्वस्थ्य व्यक्ति नहीं मिलता। अस्वस्थ भारत उन्नति करे तो कहाँ तक? वह दुनिया की होड़ में आगे बढ़े तो कैसे? जब तक यहाँ के किसान और मजदूर स्वस्थ नहीं हो जाते, तब तक देश उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

अस्वस्थता को दूर करने के उपाय--अस्वस्थता को दूर करने के लिये निम्नलिखित अपायों को काम में लाना बहुत कुछ लाभकारी होगा :—

(१) गरीबी को दूर करना।

(२) स्वास्थ्य आन्दोलन।

(३) दातव्य औषधालय तथा रोगी परिचर्या के साधनों की समुचित व्यवस्था।

जब तक गरीबी दूर नहीं होगी और लोगों को भर पेट भोजन न मिलेगा, तब तक अस्वस्थता दूर नहीं हो सकती। भूखे रहकर कोई भी व्यक्ति स्वस्थ नहीं रह सकता। अतएव सर्वप्रथम यह प्रयत्न होना चाहिये कि हर व्यक्ति को भरपेट भोजन मिले। भूखे और नंगों की टोली के साथ-साथ अस्वस्थ व्यक्तियों की भी टोली बनी रहेगी।

लोगों का स्वास्थ्य ठीक करने के लिये स्वास्थ्य आन्दोलन की

आवश्यकता है। स्वास्थ्य आन्दोलन के लिये समाज में विभिन्न कार्यक्रम को अपनाना होगा। इसमें स्वास्थ्य-संबंधी ज्ञान की वृद्धि के लिये समाचार-पत्र, मासिक-पत्रिका, पत्रिका, पुस्तक, रेडियो, प्रज्ञापक (Poster), चलचित्र आदि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग होना चाहिये। स्वास्थ्य की महत्ता बतलाई जाय। स्वास्थ्य की उन्नति के लिये व्यायाम-शाला, मनोरंजन, खेल आदि के केन्द्र चलाये जाँय। लोगों की गन्दी आदतों तथा बुरे व्यसनों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

किन्तु इतना होने के बावजूद भी लोगों का स्वास्थ्य पूर्णतः अच्छा नहीं हो सकता, जब तक कि दातव्य औषधालयों की व्यवस्था करके मुफ्त औषधि वितरण की व्यवस्था न की जाय। रोगी परिचर्या की जब तक अच्छी व्यवस्था नहीं होती, रोगियों के स्वास्थ्य में सुधार नहीं हो सकता और न मृत्यु-संख्या में ही कमी हो सकती है। अतएव इस बात की अति आवश्यकता है कि सरकार जनता की चिकित्सा पर उचित ध्यान दे और इस बात की व्यवस्था करे कि हरएक रोगी को मुफ्त औषधि मिले और उचित समय पर मिले। चिकित्सा के लिये किसी को घूस न देना पड़े, इस बात की पूरी देख-रेख हो।

मानसिक असमर्थता

पहले कहा जा चुका है कि मानसिक असमर्थता के दो भेद होते हैं—(१) मानसिक-अपूर्णता और (२) मानसिक-रोग। नीचे दिये गये चित्र द्वारा यह और भी स्पष्ट हो जायगा :—

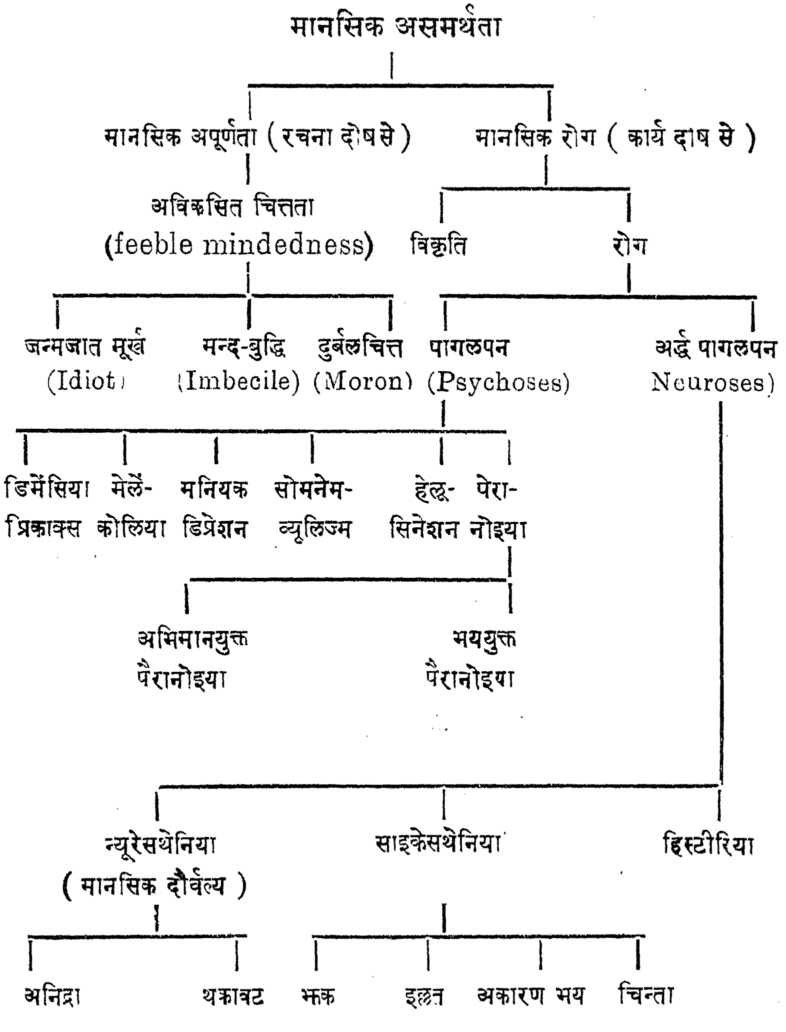

मानसिक अपूर्णता

अविकसित-चित्त

जिस प्रकार मनुष्य शारीरिक शक्ल-सूरत में एक दूसरे से भिन्न हुआ करता है, ठीक उसी तरह वह मानसिक शक्ति में भी भिन्न हुआ करता है। या यों कहिए कि जिस प्रकार वृक्ष की सारी पत्तियाँ बराबर नहीं होतीं, वरन् कुछ-न-कुछ भिन्नता लिए होती हैं, उसी प्रकार मानव-मस्तिष्क भी भिन्नता लिए रहता है। कोई व्यक्ति किसी बात को आसानी से याद कर लेता है तो कोई उसी को बड़ी कठिनाई से। किसी की स्मरण-शक्ति तीव्र होती है तो किसी की मन्द। इस तरह प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क कुछ-न-कुछ एक दूसरे से अवश्य भिन्नता रखता है। मस्तिष्क भिन्नता समाज की भिन्नता के अनुसार भी हुआ करती है। ऐसा देखा जाता है कि एक समाज में जो व्यक्ति अधिक बुद्धिमान समझा जाता है, वही दूसरे समाज में जाकर मन्द-बुद्धि की श्रेणी में गिना जाता है। समाज के मस्तिष्क के स्तर के अनुसार कोई उच्च मस्तिष्क वाला, कोई निम्न मस्तिष्क वाला और कोई सामान्य मस्तिष्क वाला व्यक्ति समझा जाता है। देहात के वातावरण में जो सामान्य-मस्तिष्क व्यक्ति माना जाता है, वही शहर के वातावरण में निम्न-मस्तिष्क अर्थात् अविकसित-चित्त (feebleminded) समझा जाता है, अविकसित-चित्त व्यक्ति में भी सभी समान नहीं होते। उनमें कुछ ऐसे होते हैं जो कि समाज से अपना सामञ्जस्य बिलकुल नहीं कर पाते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो थोड़ा बहुत सामञ्जस्य कर भी लेते हैं। जिस समाज का अधिकांश व्यक्ति जिस ढंग का होता है, या जिस अवस्था में समाज का अधिकांश व्यक्ति होता है, वह अवस्था उस समाज के लिए सामान्य-अवस्था मानी जाती है। इस तरह ४० से ६० प्रतिशत के बीच का सामान्य व्यक्ति माना जाता है और इससे कम की अवस्था

में निम्न-स्तर का माना जाता है। मस्तिष्क की माप भी इसी क्रम से की जाती है।

सामान्य व्यक्ति से अविकसित-चित्त व्यक्ति का मस्तिष्क भिन्न होता है। अविकसित-चित्त व्यक्ति में भी कई श्रेणी के व्यक्ति होते हैं। बुद्धि की माप के अनुसार इन्हें तीन श्रेणी में बाँटा गया है :—

(१) जन्मजात मूर्ख (Idiot) दो वर्ष के बच्चे की बुद्धि रखने वाला

(२) बुद्धिमांद्य (Imbecile) ३ से ७ वर्ष के बच्चे की बुद्धि रखने वाला

(३) दुर्बल-चित्त (Moron) ८ से १२ वर्ष के बच्चे की बुद्धि रखने वाला

इनमें प्रथम अपनी शारीरक आवश्यकता की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकते। उनका मस्तिष्क इतना अपूर्ण होता है कि वे सामान्य शारीरिक खतरों से भी अपनी रक्षा नहीं कर पाते। द्वितीय की अवस्था इससे अच्छी होती है और वह किसी तरह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है। तृतीय श्रेणी के अविकसित-चित्त व्यक्ति और सामान्य व्यक्ति में बहुत कम अन्तर होता है। शिक्षा के अभाव में मस्तिष्क का विकास रुक जाने से ऐसा होता है।

अविकसित-चित्त व्यक्ति में मानसिक अपूर्णता होती है। ऐसे व्यक्ति को दूसरों की देख-रेख, नियन्त्रण तथा रक्षा की विशेष आवश्यकता होती है। ये असामाजिक, पापपूर्ण तथा अपराध कार्य में आसानी से पड़ जाते हैं, यदि इनके ऊपर पूरा नियन्त्रण न रखा जाय, तो समाज को इससे बहुत अधिक क्षति हो सकती है।

अविकसित-चित्तता या तो आनुवंशिक मानसिक अपूर्णता के कारण होती है या किसी कारण से मानसिक विकास में अवरोध पड़ जाने के फलस्वरूप होती है। मानसिक अवरोध गर्भ-दोष के कारण,

जन्म के समय किसी घटना के कारण या बाद की किसी घटना या बीमारी के कारण हो सकता है। मानसिक-चिकित्सा-विशेषज्ञों का कथन है कि ५० से ६० प्रतिशत व्यक्तियों में यह अविकसित-चित्तता उनके माता-पिता के दोषों से आती है। जब मानसिक दोष बच्चों के जन्म के बाद किसी घटना के फलस्वरूप आ जाता है तो वह उसके मस्तिष्क के सामान्य विकास को रोक देता है और तब आगे चलकर वह व्यक्ति किसी काम को करने में अपने को समर्थ नहीं कर पाता है। वह अपने वैयक्तिक तथा व्यवसायिक मामलों में पिछड़ जाता है। सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से भी वह सफल नहीं होता।

मानसिक अपूर्णता मानसिक रोग से भिन्न है। मानसिक रोग मस्तिष्क की कार्य-प्रणाली में अव्यवस्था के फलस्वरूप होता है जो कि साधारण कार्य-क्षमता को बिगाड़ देता है। परन्तु मानसिक अपूर्णता या अविकसित-चित्तता में मस्तिष्क-शक्ति होती ही नहीं या इसका विकास बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में ही रुक गया होता है, जिससे व्यक्ति साधारण रूप से कार्य करने में असफल रहता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मानसिक रोग मस्तिष्क के कार्य दोष से तथा मानसिक अपूर्णता मस्तिष्क के रचना-दोष के फलस्वरूप होतो है। इनमें आनुवंशिक कारण दोनों में ही पाये जाते हैं। दोनों में मूल भेद यही है कि मानसिक रोग में मस्तिष्क के कार्य में अव्यवस्था आ जाती है और मानसिक अपूर्णता में मस्तिष्क का समुचित विकास ही नहीं होता।

अपूर्ण-मस्तिष्क-व्यक्ति की संख्या भारत में कितनी है इसका ठीक-ठीक हिसाब नहीं बताया जा सकता, क्योंकि यहां इस दिशा में कोई वैसा प्रयत्न नहीं हुआ है। ग्रेट ब्रिटेन में १९०६ के ब्रिटिश रायल कमीशन के अनुसार ४.६१ प्रति हजार पीछे व्यक्ति अपूर्ण मस्तिष्कवाले थे। न्यूयार्क में १९१६ में एक स्टेट में ५.४४ प्रतिहजार पीछे ऐसे व्यक्ति थे।*

* Rosenquist—Social problems, P. 374

वेल्स में १६०१ से १६१४ के बीच १३·२ प्रतिशत ऐसे व्यक्ति थे। इतनी बड़ी संख्या में ऐसे लोगों का होना एक बहुत बड़ी समस्या है।×

संयुक्तराष्ट्र में कहीं प्रतिहजार २ और कहीं प्रतिहजार ६ अविकसित-चित्त-व्यक्ति होने का अनुमान किया गया।+

अविकसित-चित्तता समाज के लिये एक बहुत बड़ी सामाजिक-समस्या है। इसके परिणाम स्वरूप समाज में तरह-तरह की बुराइयाँ फैलती हैं। अविकसित-चित्त-व्यक्ति अधिकतर अपराधी होते हैं। अविकसित-चित्त स्त्रियां दुराचरण में बहुत शीघ्र पड़ जाती हैं और वे अवैध बच्चों की माँ बनती हैं। अविकसितचित्त बच्चे स्कूल तथा खेल के मैदान में भी कठिनाइयों का अनुभव करते हैं। वे बहुत शीघ्र दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते हैं। उनका नैतिक जीवन बड़ा ही निम्नस्तर का होता है। वे आसानी से किसी के द्वारा बहकाये जा सकते हैं तथा नानाप्रकार की कुटेवों में बहुत जल्द पड़ जाते हैं। मद्यपान आदि की बुरी लतें उनमें बहुत जल्द पड़ जाती हैं। वे आधुनिक सामाजिक और आर्थिक जीवन में पिछड़े होने के फलस्वरूप हाथ नहीं बटा पाते। वे अपने ही ऊपर नियन्त्रण नहीं कर पाते। इस तरह अविकसित-चित्त व्यक्ति समाज में एक कठिन समस्या के रूप में हैं और उनके फलस्वरूप वैयक्तिक विश्रृङ्खलता तथा पारिवारिक विश्रृङ्खलता बहुत ही बढ़ती हुई नजर आती है। समाज के लिए वे बड़े ही दुःखदायी हैं।

चिकित्सा

अविकसित-चित्त व्यक्ति की आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का विकास फ्रांस में १७ वीं शताब्दी के मध्य में हुआ और ऐसे बच्चों को संस्था में रखने की व्यवस्था हुई। क्रमशः लोग इस मामले में दिलचस्पी लेने लगे।

× Gillin John Lewis—Social Pathology, P. 97

+ Ibid, P. 97

अपूर्ण-मस्तिष्क के लिए स्कूल खोल कर ट्रेनिंग की व्यवस्था की गई। इस तरह का पहला स्कूल पेरिस में खोला गया (१८३७)। इसमें जंगली अविकसित-चित्त बच्चों को सुधारने का प्रयत्न किया गया।

संयुक्तराष्ट्र में इस तरह का स्कूल (School for idiots) खुला। १८५१ में न्यूयार्क स्टेट ने एक एक्सपेरीमेंटल स्कूल खोला। १८७४ तक सात राष्ट्रों में इस तरह की व्यवस्था हुई। इस तरह ज्यों-ज्यों इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होता गया, सभी जगह स्कूल और संस्थाएँ खुलने लगीं और आज यूरोपीय देशों एवं अमेरिका ने इस क्षेत्र में काफी सफलता प्राप्त कर ली है।

भारत में अभी तक इस क्षेत्र में बहुत कम काम हो पाया है। परंतु लोगों का ध्यान इस ओर है और निकट भविष्य में इस क्षेत्र में बहुत सी व्यवस्था होने को है। हमारी राष्ट्रीय सरकार भी इस ओर दिलचस्पी ले रही है और आशा है कि थोड़े दिनों बाद भारत भी किसी से पिछड़ा न रहेगा।

यहां सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि संभव उपायों को काम में लाकर इसे बढ़ने से रोका जाया और उससे होनेवाले खतरों को कम करने का प्रयत्न किया जाय। इसके पश्चात् इसकी उचित व्यवस्था के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम को अपना कर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती है :—

(१) संस्थाओं की उचित व्यवस्था।
(२) ऐसे व्यक्तियों को समाज से अलग रखने की व्यवस्था।
(३) एटर्लाइजेसन के द्वारा उनकी वृद्धि पर नियन्त्रण।
(४) पेरोल तथा निरीक्षण की व्यवस्था।
(५) ट्रेनिंग की व्यवस्था।

उपर्युक्त कार्यक्रम को काम में लाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि मनोविज्ञान तथा मानसिक-चिकित्सा के क्षेत्र में ज्ञान का

अधिक विस्तार किया जाय। कार्यकर्ता को मानसिक चिकित्सा का थोड़ा बहुत ज्ञान आवश्यक है। अविकसित-चित्तता के बारे में पूरा-पूरा ज्ञान रखे बिना कोई भी कार्यकर्त्ता या समाजसेवी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। संस्था के कार्यकर्त्ताओं में मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री तथा मानसिक-चिकित्सक का होना आवश्यक है।

देश में जगह-जगह सरकार ऐसी संस्थाओं की व्यवस्था करे जहां कि अविकसित-चित्त व्यक्तियों को रखा जाय तथा चिकित्सादि के द्वारा उन्हें ठीक करने का प्रयत्न किया जाय। ऐसे व्यक्तियों को समाज से अलग रख कर समाज को उनसे होनेवाली बुराइयों से बचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अविकसित-चित्त व्यक्ति सन्तानोत्पादन करके अपनी संख्या और भी न बढ़ाते चलें, इसके लिए उनका खस्सीकरण होनी चाहिए। उनकी सन्तानोत्पादक नशों का छेदन कर देने पर क्रमशः उनकी वृद्धि होने का भय जाता रहेगा। इसके पश्चात् पेरोल, निरीक्षण तथा समुचित शिक्षण की व्यवस्था करके अविकसित-चित्त व्यक्ति को बहुत कुछ काम के योग्य बनाया जा सकता है और समाज का बोझ बहुत कुछ हलका किया जा सकता है। उपेक्षा के फलस्वरूप इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही चली जा रही है। यह उपेक्षा का भाव जब तक रहेगा, तब तक इस समस्या का निराकरण सम्भव नहीं है।

मानसिक रोग

जिस प्रकार शारीरिक गड़बड़ीके फलस्वरूप शारीरिक बीमारी होती है, ठीक उसी प्रकार मानसिक गड़बड़ी के फलस्वरूप मानसिक बीमारी उत्पन्न होती है और जिस प्रकार सर्दी, गर्मी, हवा और धूप का असर शारीरिक बीमारी पर पड़ता है, उसी प्रकार परिस्थिति का असर मान-

सिक बीमारी पर पड़ता है। मानसिक बीमारी मानसिक व्यवस्था का सूचक है। इसके फलस्वरूप मनुष्य का मस्तिष्क ठीक नहीं रहता और वह समाज के साथ अपना सामंजस्य बनाये रखने में सर्वथा असमर्थ रहता है। इस तरह मानसिक रोगों के कारण व्यक्ति सामाजिक समस्या का विषय बन जाता है। वह समाज के लिए भार स्वरूप हो जाता है। मानसिक बीमारियों में बहुतसी ऐसी बीमारियां होती हैं कि वे मनुष्य को निकम्मा बना डालती हैं। उसकी विचार-शक्ति जाती रहती है। उसे इतना भी ज्ञान नहीं रहता कि वह कौन है और क्या कर रहा है। वह कुछ का कुछ समझने लगता है तथा काल्पनिक दुनियां में विचरण करता है। कोई अपने को राजा समझता है तो कोई मंत्री तथा इसी प्रकार काल्पनिक जगत की बातें करता है। बनारस में मेंटल एसाइलम में लेखक को एक ऐसा रोगी मिला, जिसने अपने को लार्ड मुरलीधर बताया और इङ्गलैंड, अमेरिका आदि स्थानों में अपना महल तथा सोने की कार बतलाया। साथ ही उसने बतलाया कि इङ्गलैंड के सम्राट उसीके कथनानुसार सारा कार्य करते हैं। एक दूसरे रोगी ने अपना नाम चक्रवर्ती सम्राट······बतलाया और जब उससे पागलखाने में आनेका कारण पूछा गया तो बताया कि आराम करने के लिए वह कुछ दिनों के लिए आ गया है। इसी प्रकार बहुत से रोगियों ने अलग-अलग अपने काल्पनिक जीवन के अनुसार अपना परिचय दिया। पहले जब इन रोगियों को देखा तो ऐसा मालूम हुआ कि वे रोगी नहीं बल्कि सामान्य अवस्था में हैं। लार्ड मुरलीधर प्रेम से रोटी पकाने में मस्त थे। उन्हें देख कोई भी व्यक्ति पागल नहीं कह सकता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे लोगों का मस्तिष्क ठीक से काम नहीं करता। वह अपने को बिल्कुल सच्चा समझता है। यदि लोगों को अपनी बातों पर विश्वास होते नहीं देखता है तो वह यही समझता है

कि अन्य व्यक्ति का ही दिमाग ठिकाने नहीं है, इसलिये वह उसकी बातों से सहमत नहीं हैं। इस तरह मानसिक रोगियों का समाज के साथ सामंजस्य कर सकना कठिन होता है। अपना दोष वह समाज में देखता है।

मानसिक रोग के कारण

मानसिक रोग मानसिक अन्तर्द्वन्द का परिणाम है। जब व्यक्ति अपने लक्ष के अनुसार कुछ करना चाहता है परन्तु सामाजिक तथा अन्य कारणों से वह वैसा नहीं कर पाता, उसे अपनी इच्छा का दमन करना पड़ता है तब मानसिक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई युवक किसी युवती से प्रेम करता है और उससे विवाह करना चाहता है, परन्तु अन्तर्जातीयता के फलस्वरूप समाज उसे ऐसा करने से रोक देता है और युवती की शादी किसी अन्य युवक से हो जाती है। ऐसी अवस्था में युवक के मनपर प्रबल धक्का लगता है। उसका प्रत्यावर्तन होता है और वह अपनी पांच वर्ष की अवस्था में आ जाता है। उसका मस्तिष्क पांच वर्षकी अवस्था में एक बच्चे की तरह काम करने लग जाता है। उसे स्वयं किये कार्यों का पता नहीं रहता। यहाँ से वह किसी बुरे कर्म की ओर बढ़ना चाहता है परन्तु उसका उत्तम-स्व (Super Ego) उसे रोक देता है। यह रुकावट ही मानसिक रोग का कारण बनता है। यदि रुकावट न हो और वह अपना पूरक ढूंढ़ ले तो उसे किसी प्रकार की मानसिक बीमारी नहीं होती। इस तरह नैतिक भावनाओं का दमन ही मानसिक रोग का कारण बनता है। "नैतिक भावनाओं का दमन आत्मग्लानि उत्पन्न करता है और जब मनुष्य अपनी आत्म स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है तो वह विक्षिप्तता का कारण बन जाती है। आत्म ग्लानि का भाव प्रबल होनेपर वह चेतना की रुकावट को अलग करके बाहर आ जाता है। यही विक्षिप्तता की अवस्था है।" *

* लालजीराम शुक्ल—आधुनिक मनोविज्ञान, पृष्ठ १०४

मानसिक रोग पर बहुतसी बातों का प्रभाव पड़ता है। आत्म-ग्लानि के दमन की तरह शोक, विरह, अपमान तथा आर्थिक क्षति की चिन्ता को दबा देनेपर मानसिक रोग होने की सम्भावना रहती है। फ्रायड ने मानसिक रोगों का काफी अध्ययन किया और सिद्ध किया कि मानसिक रोग अचेतन मन का परिणाम है। जब कोई बात चेतन मन में नहीं आ पाती और अचेतन मन में बैठी रहती है, तो वही मानसिक रोगों के रूप में निकल पड़ती है। ब्रूयर के अनुसार मानसिक रोगोंका कारण मनुष्य की दुःखद स्मृतियों का दमन है। इसी तरह युंग ने सामाजिक भावनाओं का दमन मानसिक रोगों का कारण बताया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न कारणों का उल्लेख किया है। यदि सभी कारणों पर विचार किया जाय तो सब का एक मात्र निष्कर्ष यही निकलता है कि मानसिक रोग मनुष्य के मस्तिष्क की असफलता का परिणाम है। जब मनुष्य की कोई इच्छा होती है, परन्तु किसी कारणवश जब वह अपनी उस इच्छा की पूर्ति नहीं कर पाता है या कोई अन्य पूरक नहीं होता है, तो उसे मानसिक रोग होता है।

मानसिक रोग के प्रकार

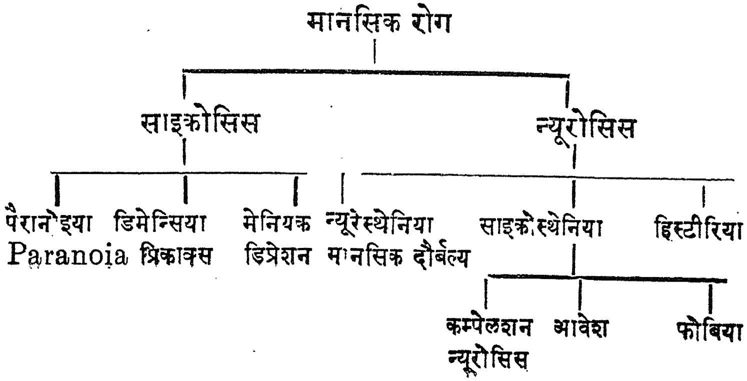

मानसिक चिकित्सकों ने मानसिक रोगों के तीस से भी अधिक नाम गिनाये हैं। यहाँ उनमें से मुख्य-मुख्य रोगों का उल्लेख किया जाता है।

(१) साइकोसिस— साइकोसिस के पहले न्यूरोसिस होती है। बिना न्यूरोसिस के साइकोसिस हो ही नहीं सकती। न्यूरोसिस असाध्य हो जाने पर साइकोसिसमें बदल जाती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य पागल हो जाता है। विचार, प्रथाएं, परम्परा तथा प्रवृत्ति के फलस्वरूप मनुष्य का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और तब उसमें पागलपन आ जाता है। सामाजिक अवस्था का उस पर प्रभाव पड़ता है। इसमें पेरानोइया, डिमेशिया प्रिकाक्स, मेनियक डिप्रेशन आदि बीमारी होती है। इन बीमारियों के अच्छे होने की बहुत कम संभावना रहती है और मृत्यु संख्या बहुत अधिक होती है। अमेरिका के एक अस्पताल में १९२२ में हिसाब लगाकर देखा गया, तो ७४·३ प्रति १००० मृत्यु-संख्या पाई गई।*

पेरानोइया—इस बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति अपने आप को महान् व्यक्ति मानता है और लोगों से सम्मान न पाने के कारण वह सबको अपना शत्रु मान बैठता है। ऐसे व्यक्ति का समाज के साथ सामंजस्य नहीं हो पाता। उसमें अहंकार की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि अपने आगे सबको तुच्छ समझता है।

डिमेंसिया प्रिकाक्स (असामयिक बुद्धि ह्रास)—इस बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति युवावस्था में ही अपनी वृद्धता अनुभव करने लगता है। अपने को पूर्ण असहाय मान लेता है। आत्म विश्वास पूर्णतः खो देता है।

मेनियक या मेनिया – इसमें मनुष्य का मस्तिष्क अत्यधिक चंचल हो जाता है। बे-मतलब इधर-उधर करते रहता है। इस बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति कभी एक काम पर स्थिर नहीं रहता।

---

* Gillin—Social Pathology, P. 121.

न्यूरोसिस न्यूरोसिस साधारण मानसिक बीमारी है। इसमें अनेक प्रकार की बीमारी आती है, जैसे—मानसिक क्लान्ति, अकारण भय, झक, इल्लत, हिस्टीरिया आदि। मानसिक क्लान्ति का रोगी अपने अन्दर सदा कमजोरी का अनुभव करता है। वह किसी काम को करने का साहस नहीं करता। अपने को सदा अयोग्य समझकर काम से भागना चाहता है। इस तरह समाज से उसका समुचित सामंजस्य नहीं हो पाता। विस्मृति, अनिद्रा, बहुनिद्रा तथा काम से अरुचि आदि व्याधियों से वह सदा परेशान रहता है।

अकारण भय का रोगी हमेशा भयभीत रहता है। किसी न किसी प्रकार का भय उसे सदा बना रहता है। कोई सांप के भय से कभी अन्धेरे में नहीं निकलता, कोई मोटर के नीचे दब जाने के भय से सड़क पर नहीं चलता, कोई पानी में डूब जाने के भय से कभी नदी किनारे तक नहीं जाता आदि तरह-तरह के भय ऐसे रोगियों को सताया करते हैं। यहाँ तक कि छोटे-छोटे कीट-पतंग का भी उसे काफी भय बना रहता है। एकान्त में कभी अकेले रहने की उसे हिम्मत नहीं होती। इस तरह ऐसे व्यक्ति समाज में एक अजीब दृष्टि से देखे जाते हैं। उन्हें सदा निरीक्षण की आवश्यकता रहती है। समाज को इससे काफी बाधा होती है। अकारण चिन्ता में भी इसी तरह की बातें होती हैं।

झक का रोगी समाज से अपना पूर्ण सामञ्जस्य बनाये रखने में असफल रहता है। उसके अन्दर तरह-तरह के असगुन के भय रहते हैं, जिससे कार्य की सिद्धि में असफलता मिलती है। कोई हाथ-पांव धोने में, कोई कपड़े धोने में, कोई वर्तनों को साफ करने में ही हमेशा व्यस्त रहता है, परन्तु फिर भी उसके मस्तिष्क से गन्दगी दूर नहीं होती। इस तरह अपनी सारी शक्ति का वह अपव्यय करता है और उसके चलते उसका बहुत-सा कार्य क्षतिग्रस्त होता है। ऐसे लोगों का

समाज से पूर्ण सामंजस्य नहीं होता और वह सदा कष्ट का अनुभव करता। समाज के अन्य लोगों से उसकी नहीं पटती। अविश्वास की भावना उसे सदा सताती रहती है।

इल्लत से भी मनुष्य को अपने विकास में काफी बाधाओं का सामन करना पड़ता है।

हिस्टीरिया युवावस्था की एक विशेष बीमारी है। अवंचित युवतियों को वह काफी परेशान करती है। मानसिक द्वन्द्व के फलस्वरूप रोगी सदा परेशान रहता है। चिन्ता, मूर्छा, शारीरिक जड़ता आदि व्याधियों के फलस्वरूप व्यक्ति समाज से अपना सामंजस्य बनाये रखने में असमर्थ रहता है।

आज हिन्दुस्तान में बहुत से लोग कल्पित (मानसिक) रोगों से पीड़ित होने के फलस्वरूप अपने को समाज के साथ चलाने में असमर्थ रहते हैं। मानसिक बीमारियाँ जब शारीरिक रूप धारण कर लेती हैं, तब तो व्यक्ति और भी परेशान हाता है और वह सदा अपने को असहाय-सा अनुभव करता है। डाक्टरों की चिकित्सा से उसको कोई लाभ नहीं होता। ज्यों-ज्यों इलाज होता है, रोग बढ़ता ही जाता है। इस तरह बीमार व्यक्ति, उसके घर के लोग तथा सगे-सम्बन्धी सभी परेशान हो जाते हैं। काफी क्षति होती है। बहुतसे रुपये बर्बाद होते हैं और सामाजिक प्रगति में तरह-तरह की बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

तृतीय अध्याय

मद्यपान तथा अन्य नशा

मद्यपान की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। अफीम का दवा के रूप में व्यवहार ४००० बी० सी० में होता था। हिन्दुस्तान में वैदिक काल में सोम रस पीने का वर्णन मिलता है। यह सोम रस एक प्रकार की हलकी शराब ही थी। इसी प्रकार तम्बाकू खाने तथा पीने की भी प्रथा बहुत दिनों से चली आ रही है। आज इसकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई है। तरह-तरह का नशा चल पड़ा है और बहुतसे लोग इसके सेवन में लग गये हैं। यद्यपि इस संबंध में सरकार की ओर से तथा सुधार संस्थाओं की ओर से बहुत कुछ कार्य हो रहे हैं, परन्तु फिर भी अभी तक बहुत कम सफलता मिली है। उत्तर-प्रदेश में नशा-बन्दी के लिये कुछ वर्षों से तेजी से काम हो रहा है, फिर भी वर्ष में ४२० मन अफीम की खपत हो ही गई। १९५०-५१ के आँकड़े के अनुसार यहाँ ४७५ मन अफीम की खपत हुई थी। इस बार १९५१-५२ के आँकड़ों के अनुसार यह मात्रा ४२० मन की है। शराब पीनेवालों की तो संख्या इतनी है कि, जिसकी गणना भी मुश्किल है। यू० पी० के मिर्जापुर जिले के कुछ भाग में तो घर का घर और गांव का गाँव शराबी है। सरकारी भट्ठियों की संख्या काफी रहने पर भी उनकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं और वे घर पर शराब तैयार करते हैं। दुद्धी-क्षेत्र में तो शराबियों का दृश्य देखते ही बनता है।

भाँग पीनेवालों की संख्या देखनी हो तो बनारस को लिया जा

सकता है। गर्मी के दिनों में सन्ध्या के समय जिधर देखिये उधर ही भंग छनते दिखाई पड़ेगी। भांग पीकर नौका-विहार करना यहां एक फैशनसा हो गया है। भांग पीनेवाले यह नहीं समझते कि वे कोई नशीली वस्तु का सेवन कर रहे हैं। शराब और ताड़ी पीनेवाले लोगों से स्वभावतः घृणा होती है, पर भांग पीनेवालों को कोई बुरी नजर से नहीं देखता। भांग तो शंकर का प्रसाद समझा जाता है, क्योंकि शिवजी को सभी वस्तुओं से प्रिय भांग ही है। अतएव उनके भक्त लोग भी भांग का प्रयोग करना एक धार्मिक कृत्य समझते हैं। भांग की ही तरह गाँजे का प्रयोग भी भक्त लोग अच्छा समझते हैं। बड़े-बड़े महात्मा लोग गाँजे का दम लगाया करते हैं।

नशा सेवन करने वालों का वर्गीकरण—नशा सेवन करने वालों को लुइस गिलिन के अनुसार हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :— *

१—सामान्य व्यक्ति :—जो किसी तरह संगत में पड़कर नशा का सेवन करने लग जाते हैं। ये सीमित मात्रा में शराब पीते हैं और उससे इसके काम-धाम में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। अन्य सामान्य-व्यक्तियों की तरह ये समाज में रहते हैं।

२—वेश्यागामी :—वेश्या तथा अन्य अनैतिक व्यक्ति जो कि अनियमित मात्रा में शराब तथा अन्य नशा का सेवन करते हैं। ये जब-तक नशा-पान नहीं करते तबतक इन्हें चैन नहीं मिल सकती।

३—अपराधी व्यक्ति :—जो कि कुसंगति में पड़कर अपने अपराधी साथियों से शराब पीना सीखते हैं और अनियमित रूप से पीते हैं। जब इन्हें कोई खतरे का काम करना होता है, तो नशा सेवन कर अपने को उसके लिए तैयार कर लेते हैं।

---

* John Lewis Gillin—Social Pathology, P. 60

४—वंशपरम्परा, रोग या विकृत मस्तिष्क के फलस्वरूप नशा सेवन करने वाले :—दूसरे और तीसरे वर्ग में विशेषकर इस तरहके व्यक्ति पाये जाते हैं।

नशा-सेवन के कारण—नशा-सेवन के कारणों पर विचार करते हुए हमें निम्नलिखित कारण दिखाई पड़ते हैं :—

(१) वैयक्तिक—कुछ लोगों के मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी होती है कि उन्हें बिना किसी तरह का नशा सेवन किये चैन नहीं मिल सकती और कुछ लोग मस्तिष्क की कमजोरी से जल्द ही इसकी आदत में पड़ जाते हैं। मन्दबुद्धि-व्यक्ति तथा मानसिक-रोगी प्रायः इसके शिकार होते हैं।

(२) सामाजिक बहुत से समाज में शराब तथा अन्य नशा सेवन की प्रथा चलती है। प्रथा के अनुसार सबको वैसा करना पड़ता है। शराब पीने के लिए उत्सव मनाया जाता है तथा समाज के सभी व्यक्ति उस उत्सव में शरीक होकर शराब पीते और नाचते हैं। सामाजिक वातावरण का भी बहुत असर पड़ता है और लोग शराबी हो जाते हैं।

(३) धार्मिक—शराब पीना बहुत से समाजों में धार्मिक-कृत्य माना जाता है और वे अपने देवताओं को भी शराब चढ़ाते हैं।

(४) औद्योगिक—औद्योगिक-विकास के फलस्वरूप कार्य की जटिलता तथा कार्याधिक्य के कारण मानसिक तथा शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए श्रमिकों में शराब की प्रथा चल पड़ी है। इसमें मनोरञ्जन के साधन की कमी भी सहयोग देती है। साथ ही डाक्टर की कमी तथा चिकित्सा मँहगी होने के कारण लोग शराब पीकर बीमारी को दूर करने की चेष्टा करते हैं।

मद्यपान का समाज पर प्रभाव—मद्यपान का व्यक्ति पर ही नहीं वरन् समाज पर भी उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति

का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। स्वास्थ्य खराब होने से उसके परिवार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि घरका कामकाजी व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है तो उसकी आय ही बन्द हो जाती है, जिससे सारे परिवार को तकलीफ उठानी पड़ती है। जिसे यह लत लग जाती है वह पैसे को इसके आगे कुछ नहीं समझता। चाहे किसी प्रकार का नशा क्यों न हो, वह व्यक्ति को गरीब बना देता है। नशा सेवन के पीछे वह अपने परिवार को भी भूल जाता है और फलस्वरूप परिवार के लोग तरह-तरह की बुराइयों के शिकार हो जाते हैं।

नशा व्यक्ति को मस्तिष्क-शून्य, असंयमी, झगड़ालू, अधीर, दुष्ट तथा दुराचारी बना डालता है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। वह अच्छे-बुरे का कोई ज्ञान नहीं रख पाता है और तरह-तरह के कुकर्मों में पड़कर अपने को तथा अपने परिवार को बरबाद करता है। शराबी मनुष्य प्रायः अपराधी होता है। शराब के नशे में वह क्या से क्या कर बैठता है। शराब के नशे में तो वह जो करता है उसका उसे उस समय पता नहीं चलता, परन्तु इसके अतिरिक्त वह जानते हुए भी बहुत-सा कुकर्म कर बैठता है। ऐसे बहुत से उदाहरण देखे गये हैं कि शराब पीने के लिए पुरुष ने पत्नी से पैसे माँगे, पैसे न रहने पर आभूषण माँगा और यदि उस समय उसने नहीं कर दिया, तो पुरुष को इतना गुस्सा होता है कि तत्काल पत्नी की हत्या कर बैठता है। इसी प्रकार गांजा तथा अफीम आदि अन्य नशे के बारे में भी घटनाएँ घटती रहती हैं।

नशा चाहे किसी भी प्रकार का हो, अच्छा नहीं होता। इससे समाज में अनैतिकता फैलती है, अपराध और व्यभिचार की वृद्धि होती है। जिस समाज में अधिकांश व्यक्ति नशा सेवन करते हैं, उस समाज की प्रगति अच्छी दिशा की ओर बहुत कम होती है। समाज की विचारधारा कुंठित हो जाती है।

भारत में मद्यनिषेध कार्य और उसकी सफलता—भारत में मद्यनिषेध का कार्य व्यवस्थित रूप से गांधीजी ने चलाया, इस क्षेत्र में उन्हें काफी सफलता मिली। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होने पर सरकार ने यह कार्य अपने हाथ में लिया और बहुत कुछ काम किया। इस समय भारत के प्रायः सभी राज्यों में यह काम तेजी से चल रहा है और अच्छी सफलता मिल रही है। यहाँ १९५१ ई० में हुए कार्यों का उल्लेख किया जाता है, जिससे इस दिशा में हुए कार्यों तथा उसकी सफलता पर बहुत कुछ प्रकाश मिलेगा।

१९५१ ई० में बम्बई, मद्रास, ट्रावणकोर, कोचीन, मैसूर, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, आसाम तथा पश्चिमी बंगाल में मद्यनिषेध का अच्छा प्रचार किया गया। इसके अतिरिक्त भारत के भिन्न-भिन्न राज्यों में बहुत कुछ काम हुआ। कुछ राज्यों में पूर्ण रूप से निषेध-कार्य हुआ और बाकी में आंशिक रूप से। कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जिनमें यह कार्य बिलकुल हुआ ही नहीं।

१९५१ में बम्बई और मद्रास में पूर्ण निषेध-कार्य हुआ। वहाँ इस दिशा में पूरी सफलता मिली। ट्रावणकोर और कोचीन जिसमें ११ तालुके ऐसे थे, जिनमें पहले से कार्य हुआ था। १९५१ में दो और तालुके में पूर्ण रूप से निषेध हुआ। मैसूर में दूकानों की संख्या काफी घटा दी गई तथा जिलों में पूर्ण रूप से मद्यनिषेध का गतिशील कार्यक्रम किया गया। ९ जिलों में से ५ जिलों में और कुछ तालुकों में पूर्ण रूप से मद्यनिषेध हुआ। उत्तर-प्रदेश के ११ जिलों में अच्छा कार्य हुआ। मध्य-प्रदेश के आधे राज्य में कार्य हुआ। यहाँ सरकार ने गैरसरकारी व्यक्तियों की एक कमिटी बनाई और उसे जाँच का भार सौंपा। आसाम में अफीम का काफी प्रचार था, पर १९५१ के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसका पूर्ण निषेध हुआ। सिर्फ वैसे ही व्यक्तियों को अफीम-सेवन की सुविधा रहने दी गई है कि जिनके लिए उनके

चिकित्सकों ने आवश्यक समझा। पंजाब, पश्चिमी बंगाल तथा कुछ नये राज्यों में साप्ताहिक कार्यक्रम चलाया गया। इसके अतिरिक्त अन्य राज्यों में भी इसकी बिक्री पर बहुत कुछ रोक लगायी गयी, आयात को रोका गया तथा व्यवहार के लिए भी बहुत कुछ मनाही की गई। सारे राज्यों में बच्चों को नशा-पान करने से रोका गया। इस तरह १९५१ ई० में करीब-करीब सारे भारत में मद्यनिषेध का अच्छा कार्य सरकार की ओर से हुआ और अभूतपूर्व सफलता मिली। सरकारी कार्यों के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं ने भी इस दिशा में बहुत प्रयत्न किया।

मद्यनिषेध के कुछ आवश्यक उपाय—निम्न लिखित उपायों द्वारा मद्यनिषेध कार्य में काफी सहायता मिल सकती है :—

(१) मुफ्त चिकित्सा की व्यवस्था
(२) सुधार संस्था की व्यवस्था
(३) कानून की व्यवस्था
(४) निरीक्षण की व्यवस्था
(५) शिक्षा प्रचार
(६) मनोरंजन-केन्द्र की व्यवस्था

चिकित्सा के अभाव में प्रायः लोग पेटेन्ट दवा के रूप में नशा का सेवन करने लग जाते हैं और क्रमशः उनमें यह आदत बन जाती है। आदत बन जाने पर फिर छुड़ाना कठिन हो जाता है। अतः हर क्षेत्रों में चिकित्सा के केन्द्र खोले जाँय और लोगों को मुफ्त दवा देने की व्यवस्था की जाय, जिससे लोग दवा के अभाव में नशा का सेवन न करें।

जिस क्षेत्र में मादक द्रव्यों का अधिक सेवन किया जाता हो, वहाँ सुधार संस्था खोलने की आवश्यकता है। संस्था में नशा सेवन करने वाले व्यक्तियों को रखा जाय। मानसिक और सामाजिक अवस्था के

अनुसार उनका वर्गीकरण किया जाय। यदि व्यक्ति अपराधी हो तो उसे अपराधी-सुधार संस्था में रखकर उसकी चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा करायी जाय। यदि नशा सेवन करनेवाला व्यक्ति शारीरिक बीमारी से पीड़ित हो, तो उसकी चिकित्सा सामान्य अस्पताल में की जाय।

नशा सेवन करने वाली वेश्याओं तथा अनैतिक पुरुषों के लिए संस्था में विशेष वार्ड बनाये जाँय और वहीं उनके सुधार की व्यवस्था की जाय।

नशीली वस्तुओं के सेवन तथा बिक्री के लिये सख्त कानून बनाये जाँय। कानून बनाकर इसकी बिक्री पर रोक लगायी जाय। नशा-का सेवन कानूनन बन्द कर दिया जाय और कानून का पालन सख्ती से कराया जाय। सिर्फ वैसे ही व्यक्ति को दवा के रूप में इसका सेवन करने दिया जाय, जिसके लिये चिकित्सक आवश्यक समझे।

जितने भी नियम मद्यनिषेध के बारे में लागू किये जांय, उनकी देख-रेख की समुचित व्यवस्था की जाय। कहीं ऐसा न हो कि केवल दिखावे के लिये कागजी काम होता रहे, जैसा कि प्रायः सरकारी कामों में हुआ करता है। कागजी-घोड़े दौड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब तक निरीक्षण की समुचित व्यस्था नहीं होगी, कोई भी नियम और कानून सफल नहीं हो सकता।

मद्य-निषेध के कार्यक्रम की सफलता के लिये जनता को शिक्षित बनाना आवश्यक है। जब तक शिक्षा का प्रचार नहीं होता, लोगों के मस्तिष्क को बदलना कठिन है। मद्यपान की बुराइयों को हम अशिक्षित जनता में उतनी अच्छी तरह नहीं दिखा सकते, जितनी कि शिक्षित जनता में। मूर्खों को समझाना और पत्थर पर अनाज बोना बराबर है। अतः हमें शिक्षा के प्रचार के लिये रात्रि पाठशाला, अध्ययन-गोष्ठी, प्रौढ़-शिक्षण-शिविर की व्यवस्था करनी होगी।

कार्य की जटिलता के कारण थकावट को दूर करने के लिये प्रायः कारखाने के श्रमिक शराब पीते हैं तथा कुछ लोग अपने दुःख को भुलाने के लिये शराब तथा अन्य नशे का सहारा लेते हैं। ऐसे लोगों के लिये मनोरंजन केन्द्र का होना आवश्यक है। शराबियों के शराब पीने का एक निश्चित समय हुआ करता है, जिस समय बहुत से शराबी एकत्रित होकर शराब पीते हैं। मनोरंजन केन्द्रों में ऐसे समय को टालने के लिये अच्छे-अच्छे आकर्षक कार्यक्रम रखे जांय, जिससे कि शराब पीने वाले मनोरंजन केन्द्र में जाकर उस समय को व्यतीत कर डालें। समय व्यतीत हो जाने के बाद वे बिना शराब पीये भी रह सकते हैं और यदि लगातार कुछ दिनों तक प्रयत्न होता रहा, तो उनकी आदत धीरे-धीरे मिट जा सकती है।

चतुर्थ अध्याय

आत्म-हत्या

आत्म-हत्या के सम्बन्ध में नित्य समाचार-पत्रों में जो समाचार छपा करते हैं, उनसे ज्ञात होता है यह भी एक बढ़ती हुई समस्या है। यद्यपि जीवन का मोह सबसे अधिक होता है, परन्तु फिर भी इतनी आत्म-हत्याएँ नित्य हुआ करती हैं कि सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दुनियां में जितने भी प्राणि हैं, सबको अपना जीवन प्रिय होता है और मौत का नाम सुनते ही वह एकबार कांप उठता है। जीवन की रक्षा ही सबका प्रथम कर्त्तव्य होता है। चाहे कोई भी जीव क्यों न हो, मृत्यु का भय होते ही अपने को बचाने का भरसक प्रयत्न करता है। जीवन-रक्षा के लिए मनुष्य क्या नहीं करता? वह बुरे-से-बुरे कर्म करने को भी तैयार हो जाता है। दुनियां के अधिकांश काम जीवन-रक्षा के ही निमित्त किये जाते हैं।

किन्तु इतना होते हुए भी कुछ बातें ऐसी हैं जो मनुष्य को जीवन के मोह से अलग कर देती हैं और वह खुशी-खुशी अपने प्राणों की बलि चढ़ा देता है। उदाहरण के लिए देशभक्त अपने को देश के लिए होम कर देता है, माता-पिता अपनी सन्तान के जीवन को सुखी बनाने के लिए और कभी-कभी मित्र अपने मित्र की रक्षा के लिए, बलिवेदी पर चढ़ जाता है। समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य अपने को भूल जाता है और समाज के आगे अपने को तुच्छ समझता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य के सामने कुछ ऐसी समस्या होती है कि जिसे सुलझाने में वह अपने को सर्वथा असमथ पाता है और बिना

सुलझाये समाज में मुंह दिखाना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में सामाजिक मान के आगे जीवन का मोल घट जाता है। वह आत्म-सम्मान को बचाने के लिए अपने जीवन को समाप्त करना ही अच्छा समझता है और अपने ही हाथों अपनी हत्या कर लेता है।

आत्म-हत्या पर जलवायु, जाति, धर्म, उम्र आदि का भी प्रभाव पड़ता है। कहीं आत्म-हत्या अधिक पाई जाती है तो कहीं कम। भिन्न-भिन्न जलवायु में भिन्न-भिन्न संख्या में आत्म-हत्यायें होती हैं। उसी प्रकार जाति, धर्म, उम्र आदि की भिन्नता के अनुसार आत्म-हत्या की संख्या में भिन्नता पाई जाती है। आमतौर से १६ वर्ष की उम्र तक आत्म-हत्या नहीं देखी जाती है। १६ वर्ष के बाद से ही आत्म-हत्या शुरू होती है और क्रमशः बढ़ती हुई प्रौढ़ावस्था तक जाती है। उसके बाद फिर संख्या में कमी हो जाती है। युवावस्था में आत्म-हत्या की संख्या सबसे अधिक रहती है।

संस्कृति का भी आत्म-हत्या पर पूरा प्रभाव पड़ता है और उसके अनुसार भी इसकी संख्या में बहुत-कुछ भिन्नता पाई जाती है। सामाजिक संगठन और परम्पराओं का वैयक्तिक विशृङ्खलता में हाथ होता है और वैयक्तिक विशृंखलता का आत्म-हत्या में। जापान में बहुत दिनों से एक ऐसी प्रथा चली आती है कि एक विशेष परिस्थिति में मनुष्य को आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए।* यह संस्कृति का प्रभाव है कि यदि उस स्थिति में व्यक्ति आत्म-हत्या नहीं करता है तो लोग उसे अच्छा नहीं समझते। इस प्रकार जिस संस्कृति में इस तरह की बातें पाई जाती हैं, वहां आत्म-हत्या की संख्या में अधिकता पाई जाती है। यदि व्यक्ति एक ऐसे समाज में रहता है जहां कि उसकी प्रारम्भिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तो आत्म-हत्या की भावना नहीं पैदा होती। परन्तु ऐसे समाज में जहां कि व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं, उसे

* Social Pathology, By J. L. gillin, Page 143.

पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और उन कठिनाइयों के चलते समाज में अपमानित होना पड़ता है, वहाँ आत्म-हत्या अधिक होती है। आशा आत्म-हत्या को रोकती है और निराशा आत्म-हत्या को और भी अधिक बढ़ाती है। यह आशा और निराशा भी भिन्न-भिन्न संस्कृति और भिन्न-भिन्न समाज में भिन्नता लिए रहती है। जहाँ के लोग अधिक निराशावादी होते हैं, वहाँ आत्म-हत्या अधिक होती है।

आत्म-हत्या के कारण—आत्म-हत्या के बहुत से कारण हैं, जिनमें मुख्य कारणों का उल्लेख कर देना यहाँ पर्याप्त होगा :—

(१) मानसिक बीमारी—अकारण चिन्ता (Melancholia), पैरानोईया (Paranoia), मिरगी (Epilepsy) आदि बीमारियों का आत्म-हत्या से विशेष सम्बन्ध होता है। इन मानसिक बीमारियों में मनुष्य का मस्तिष्क ठीक से काम नहीं करता। कभी-कभी रोगी अचानक आवेश में आकर आत्म-हत्या कर बैठता है।

(२) मानसिक उलझन—जब मनुष्य किसी ऐसी मानसिक उलझन में पड़ जाता है कि किसी तरह उसे सुलझा नहीं पाता है तो अन्त में निराश हो आत्म-हत्या कर लेता है।

(३) शारीरिक असाध्य बीमारी—जब बीमारी का इलाज कराते-कराते मनुष्य थक जाता है और बीमारी अच्छी नहीं दिखाई देती है, तो ऊबकर वह आत्म-हत्या की शरण लेता है। यदि कोई अति दुखदाई बीमारी होती है तो उसकी असह्य-पीड़ा से घबड़ाकर मनुष्य आत्म-हत्या कर लेता है। कैंसर के ऐसे बहुत से बीमारियों का उदाहरण देखा गया है जिन्होंने स्वयं गोली मारकर आत्म-हत्या करली है। स्त्रियों में बहुत-सी स्त्रियाँ बच्चा पैदा होने के समय की असहनीय वेदना की कल्पना कर बच्चा पैदा होने के कुछ दिन पहले ही आत्म-हत्या कर लेती हैं।

(४) आत्म-विश्वास की कमी—आत्म-विश्वास की कमी के कारण मनुष्य की आशा जाती रहती है। उसे सफलता की कोई आशा नहीं दिखाई पड़ती। उसके आगे घोर निराशा की तमिश्रा छा जाती है और तब शान्ति का एक ही मार्ग रह जाता है कि वह आत्म-हत्या करके चिर-शान्ति की निद्रा में सो जाय।

(५) असफलता—जब मनुष्य बहुत प्रयत्न करने पर भी सदा असफलता ही प्राप्त करता है तो वह जीवन से ऊबकर आत्म-हत्या कर लेता है। प्रेम की असफलता में अधिकांश युवक और युवतियाँ आत्म-हत्या की शरण लेती हैं। बहुत से युवक परीक्षा में फेल होने पर भी आत्म-हत्या करते हुए पाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश वे युवक होते हैं जिनमें सहिष्णुता की कमी होती है।

(६) गरीबी—अतिशय गरीबी के कारण जब व्यक्ति भूखा रहते-रहते परेशान हो जाता है, तो वह आत्म-हत्या कर लेता है।

(७) बेकारी—बेकारी के फलस्वरूप मनुष्य की आर्थिक अवस्था ऐसी दयनीय हो जाती है कि समाज में रहना उसके लिए दुष्कर हो जाता है। बेकारी के कारण वह अपने परिवार का पालन-पोषण करने में असमर्थ रहता है। अन्त में जब हालत अधिक नाजुक हो जाती है, तो वह उससे छुटकारा पाने के लिए आत्म-हत्या कर लेता है।

गरीबी और बेकारी आज की आत्म-हत्या का प्रधान कारण बन गयी है। नित्य समाचार-पत्रों में एक-न-एक समाचार इस तरह के देखने को मिलते हैं। अभी हाल में ही छपे एक समाचार का उद्धरण दे देना अनुचित न होगा, जिसमें एक भूखे व्यक्ति ने जिलाधीश से प्रार्थना की है कि वह तथा उसके परिवार की तीन नाबालिग लड़कियाँ एवं उसकी पत्नी भूख के कारण मरणासन्न अवस्था में हैं। उसने अपने पत्र में लिखा है कि उसके गांव का एक व्यक्ति भूख के कारण तड़प-तड़प कर कुएँ में कूद कर आत्म-हत्या कर चुका है। उसे भी इधर कोई काम

नहीं मिला है जिससे उसके परिवार में ८-८ दिन तक उपवास चला है। बरगद की कोपलें एवं बकल की पत्ती खाते-खाते शरीर में चलने-फिरने की भी शक्ति नहीं रह गई है। यदि उसकी कोई व्यवस्था न हुई तो वह घुट-घुट कर मरने की अपेक्षा आत्म-हत्या करके इस नारकीय जीवन से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। इसी तरह बेकारी से भूखा रहकर अभी हाल में बनारस के एक बिनकर ने अपनी स्त्री और बच्चे को घायल कर स्वयं आत्म-हत्या का जो असफल प्रयास किया, वह भुलाया नहीं जा सकता।

(८) सामाजिक नियम—व्यक्ति कभी कोई ऐसा कार्य कर बैठता है जो सामाजिक नियमों के प्रतिकूल होता है। अतः समाज उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। सामाजिक बहिष्कार और सामाजिक उपेक्षा से तंग आकर या सामाजिक घृणा की बात सोचकर ही वह समाज में मुँह दिखाना नहीं चाहता है। इन सब बातों से बचने के लिए वह आत्म-हत्या कर सब से दूर हो जाता है।

आत्महत्या कम करने के उपाय—आत्म हत्या एक ऐसी समस्या है जिसे दूर करना बहुत कठिन है। फिर भी प्रयत्न करने पर इसे बहुत कुछ कम किया जा सकता है। नीचे लिखे उपायों द्वारा इस पर बहुत कुछ विजय प्राप्त हो सकती है :—

(१) मानसिक स्वास्थ्य में सुधार
(२) सामाजिक प्रवृत्ति में परिवर्तन
(३) आर्थिक अवस्था में सुधार
(४) बेकारी का निराकरण

मानसिक अस्वस्थता के कारण बहुत सी आत्महत्याएँ हुआ करती हैं। अतः मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत बनाया जायगा तो आत्महत्या की बहुत कम संभावना रहेगी। मानसिक स्वास्थ्य को ठीक करने के

लिए मनोविज्ञान तथा समाज शास्त्र का सहारा लेना होगा। मानसिक अस्पताल की व्यवस्था करनी होगी, जिसमें विकृत मस्तिष्क वालों की चिकित्सा हो सकेगी। इस क्षेत्र में मनोविश्लेषण काफी सहायक सिद्ध होगा। मनोविश्लेषण करके जब मस्तिष्क की विकृति के मूल को ढूंढ़ निकाला जायगा, तो मानसिक बीमारी अच्छी हो जायगी और तब वे आत्महत्याएँ बन्द हो जायंगी जो कि मानसिक रोगों से प्रायः हुआ करती हैं। इसके अतिरिक्त मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत बनाने के लिए अन्य विविध प्रकार के मनोवैज्ञानिक उपायों को काम में लाना होगा। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की शिक्षा इसमें काफी सहायक सिद्ध होगी।

आत्महत्या को रोकने के लिए सामाजिक प्रवृति में परिवर्तन लाना भी आवश्यक है। सामाजिक भावनाओं को बदल कर सामाजिक सम्बन्धों को ठीक करना होगा। यदि कोई भूल से भी कुछ गलत कार्य कर बैठता है तो लोगों की धारणा में वह पतित माना जाता है और उसे देखने में भी लोग पाप समझने लगते हैं। ऐसी अवस्था में उसे ऐसी आत्मग्लानि होती है कि आत्महत्या ही एक मात्र सहारा रह जाता है। इसके अतिरिक्त विधवा, परित्यक्ता, अवैध बच्चे उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते हैं। यह सामाजिक प्रवृति बन गई है कि इन्हें दुत्कार दिया जाय। परिणामस्वरूप ऐसे लोगों को जब कहीं शरण नहीं मिलती तो वे आत्महत्या कर लेना ही अच्छा समझते हैं। अतएव इस बुराई को बदलना होगा। समाज को ऐसा मानना चाहिए कि विधवा तथा अवैध बच्चे भी समाज की उपज हैं। समाज ने ही उन्हें पैदा किया है। इसमें उन बेचारों का क्या दोष ? वे भी मनुष्य हैं और उनके प्रति भी मानवता का व्यवहार होना चाहिए। उनके प्रति भी दया और सहानुभूति होनी चाहिए। इसी तरह अन्य बहुत सी बातों के प्रति सामाजिक प्रवृत्ति को परिवर्तन करना आवश्यक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आर्थिक कारणों से भी बहुत अधिक आत्य-हत्याएँ होती हैं। भूख से तड़प-तड़प कर मरने की अपेक्षा आत्महत्या करके मरना आसान है। अतः आर्थिक अवस्था में सुधार करके समाज को अधिक से अधिक सुखी बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। समाज की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि समाज का एक भी व्यक्ति भूखा और नंगा न रहने पावे।

आत्महत्या को दूर करने के लिए बेकारी का भी मिटाना अति आवश्यक है। बेकारी के फलस्वरूप मनुष्य तरह-तरह की बुराइयों का शिकार होता है और अन्त में जब वह कोई उपाय नहीं देखता तो आत्महत्या करके सारे दुःखों को भूलने की चेष्टा करता है। अतः यदि बेकारी दूर कर दी जायगी तो इससे उत्पन्न होनेवाली बुराई नहीं होगी और बुराइयों के परिणाम स्वरूप होनेवाली आत्महत्याएं भी बन्द हो जायंगी।

पंचम अध्याय

भिक्षावृत्ति की समस्या

भिक्षावृत्ति भारत की एक जटिल समस्या हो रही है। भारतीय समाज में यह प्राचीन काल से चली आ रही है। किन्तु पहले यह समस्या के रूप में न थी। औद्योगिक विकास के बाद ही इसने समस्या का रूप ग्रहण किया और आज तो इसका भीषण रूप सामने है, आज यह भारत के लिए अभिशाप तुल्य हो रही है। भिक्षुकों की संख्या यहाँ लगभग २० लाख है। इतने भिक्षुकों का होना कोई छोटी बात नहीं है, और अब इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसपर ध्यान देना आवश्यक है।

यह समस्या दिन प्रति दिन जबर्दस्त और भयंकर होती जा रही है। इससे हमें भारत की सामाजिक और आर्थिक दशा का सच्चा ज्ञान होता है। भारत का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य कितना गया-गुजरा है, इसकी असमर्थता कितनी बढ़ी हुई है, यहां गरीबी किस तरह छायी हुई है, और इसका कितना नैतिक पतन हो गया है, इसका पता हमें यहां की भिक्षुक-संख्या से चलता है। भारत के भूखे, नंगे और रोगियों का चित्रण देखना हो तो भिक्षुओं की ओर देखें। कितनी बेकारी, कितना अपराध, कितना व्यभिचार फैल रहा है ?

हिन्दुस्तान में जितने भी तीर्थस्थान हैं, उनमें कोई भी ऐसा न होगा जहाँ दल के दल भिक्षुक न दिखाई दें। बड़े-बड़े शहरों तथा मेलों में तो इसकी भरमार है। काशी के दशाश्वमेध घाट पर तो सदा और

हरवक्त भिक्षुकों का तांता लगा रहता है। प्रत्येक धार्मिक स्थानों की यही गति है। यदि कोई सुबह से प्रत्येक भिखमंगे को एक-एक पैसा ही देता चले, तो इसमें सन्देह नहीं कि सन्ध्या समय तक वह बाँटता रह जाय और उसके सैकड़ों रुपये बँट जाँय। इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि एक-एक शहर में कितने भिक्षुक रहते हैं। गंगा का कोई भी ऐसा घाट न होगा जहाँ कि भिक्षुओं का तांता न दिखाई पड़े। इसके अतिरिक्त धर्मशालाओं के सामने, मन्दिरों के सामने, रेलवे-स्टेशन, बस-स्टैंड आदि स्थानों में भी बहुत से भिक्षुक सदा दिखाई पड़ते हैं। ट्रेन में यात्रा करते कभी ऐसा अवसर न आयगा जब कि किसी भिखमंगे सूरदास से भेंट न हुई हो।

भिक्षुओं के प्रकार

भिक्षुकों की समस्या एक विश्वव्यापी समस्या है। किसी न किसी रूपमें सर्वत्र भिक्षुक पाये जाते हैं। अतः इसका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। भारत में डाक्टर (कुमारी) कातायुन एच० कामा ने इसका निम्नलिखित वर्गीकरण करते हुए १५ प्रकार के भिक्षुओं को बतलाया है: —*

(१) बाल भिक्षुक

(२) शारीरिक-दोषवाले

(३) मानसिक-दोषवाले और मानसिक रोगी

(४) रोगी

(५) योग्य शरीरवाले

(६) धार्मिक भिक्षुक

(७) बनावटी धार्मिक भिक्षुक

(८) पेशेवर भिक्षुक जाति

* Dr. J. M. Kumarappa—Our Beggar Problem, P. 4.

(६) नियुक्त भिक्षुक
(१०) अल्प-व्यवसायी भिक्षुक
(११) अस्थायी बेकार जो कि काम में लगाये जा सकते हों
(१२) „ „ „ न लगाये जा सकते हों
(१३) कुछ स्थायी बेकार जो काम में लगाये जा सकते हों
(१४) स्थायी बेकार जो काम में न लगाये जा सकते हों
(१५) „ „ „ बदमाश और काम करने के अनिच्छुक हैं और जिनका सुधार नहीं हो सकता।

बाल भिक्षुक—इस वर्ग में छोटे-छोटे बच्चे आते हैं, जो कि प्रायः किसी बड़े भिक्षुक के साथ रहते हैं। बड़े भिक्षुक छोटे भिक्षुक का काफी शोषण करते हैं। ऐसे बच्चे या तो अपने माता-पिता के साथ रहते हैं या किसी संबंधी के साथ। ऐसे बच्चे खरीदे और बेचे भी जाते हैं। ऐसी हालत में वे खरीदने वाले के साथ रहते हैं। जिनके साथ ये बच्चे रहते हैं वे दिन भर इनसे काम लेते हैं, परन्तु बेचारे को दिन भर मांगते रहने पर भी भूखा रहना पड़ता है। ये जो कुछ मांगकर प्राप्त करते हैं, इनके अभिभावक ले लेते हैं। इन्हें दयनीय दशा में मरने के लिये छोड़ दिया जाता है। बाल-भिक्षुक में प्रायः वे बच्चे रहते हैं, जो कि जन्म से अपूर्ण होते हैं यथा लूला, लङ्गड़ा, अंधा, बहरा आदि। कभी-कभी ये अपने माता-पिता द्वारा भी विकृत बनाये जाते हैं। अपने लाभ के लिये वे बच्चे की आँखें फोड़कर उन्हें अँधा बना देते हैं और उनसे भिक्षा मंगवाते हैं। कभी उनके हाथ-पांव तोड़ दिये जाते हैं! ऐसा वे इसलिये करते हैं कि लोगों को बच्चे की विकृत अवस्था देखकर दया आ जायगी और वे भिक्षा देंगे।

ऐसी बहुत-सी संस्थाएँ भी होती हैं, जहाँ छोटे-छोटे बच्चे रखे जाते हैं और उन्हें विकृत कर भिक्षा माँगने भेजा जाता है। चुराये गये बच्चे अक्सर इसी काम में लगाये जाते हैं। संस्था द्वारा भी इनके

साथ बड़ी क्रूरता बरती जाती है। यह संस्था छिपे रूप में काम करती है। इनका पेशा ही होता है बच्चों से भिक्षा मंगवाना। बच्चों को तरह-तरह की तकलीफें दी जाती हैं। उन्हें दागा जाता है, पीटा जाता है तथा अन्य प्रकार की बहुत-सी सजाएँ दी जाती हैं। इन बच्चों से व्यभिचार भी कराया जाता है। अविकसित-चित्र लड़कियां प्रायः संगठित रूप में संस्थाओं में रखी जाती हैं, और उन्हें भिक्षावृत्ति तथा व्यभिचार-वृत्ति में लगाया जाता है।

शारीरिक दोष वाले—इस वर्ग में अंधे, बहरे-गूंगे, अंगहीन आदि शारीरिक असमर्थ आते हैं। यह असमर्थता जन्म से, किसी घटना से या किसी बीमारी से हो सकती है। अति वृद्ध होने पर यदि उसे कहीं शरण नहीं मिलता, तो वह भी इस कोटि के भिक्षुओं में आ जाता है। बहुत दिन तक बीमार रहकर जो अपनी शक्ति को खो बैठता है, वह भी इस श्रेणी के भिक्षुओं में आ जाता है।

मानसिक दोष वाले और मानसिक रोगी—इसमें अविकसित-चित्त तथा मानसिक बीमारियों से ग्रस्त यथा पागल, विक्षिप्त आदि आते हैं। ये लोग कोई काम करने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं और इधर-उधर भटकते फिरते हैं।

रोगी—इस वर्ग के भिक्षुओं में ऐसे रोगी आते हैं, जो मिरगी, कोढ़, टी० बी०, चर्मरोग तथा गुप्तांग के रोगों से पीड़ित होते हैं। ये काम करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं और सांघातिक बीमारी के फलस्वरूप समाज में इन्हें रहने नहीं दिया जाता है। ये एकमात्र भिक्षा पर ही आश्रित रहते हैं। अस्पताल में भी ऐसे रोगियों को शरण नहीं मिलती। इस तरह ये तमाम घूमकर बीमारी को और भी फैलाते हैं।

योग्य शरीर वाले—इस वर्ग में वे भिक्षुक आते हैं, जो शरीर से हट्ट-कट्टे और पूर्ण समर्थ होते हैं। भिक्षा मांगना इनका जन्म-सिद्ध

अधिकार समझा जाता है। ये जनता को काफी तंग किया करते हैं और तकलीफ भी देते हैं। अगर कोई इन्हें भिक्षा नहीं देता और काम करने को कहता है, तो ये तरह-तरह की गालियाँ भी दिया करते हैं। दुर्वाशा की नाई ये क्रोधी होते हैं और शाप देने के लिये सदा तैयार रहते हैं। भिक्षा मांगना ही इनकी पैतृक पेशा है। इसके अलावा ये कभी कोई काम नहीं जानते। ये जनता को सताने के लिये ही जन्म लेते हैं।

धार्मिक भिक्षुक—इस वर्ग में साधु, संन्यासी, योगी, वैरागी, फकीर, दरवेश आदि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों सम्प्रदाय के धार्मिक व्यक्ति आते हैं। भिक्षा मांगना इनका धार्मिक कर्त्तव्य होता है और ऐसे लोगों को भिक्षा देने में भी लोग अपना अहो-भाग्य समझते हैं। परमात्मा तथा देवी-देवता के नाम पर भिक्षा लेकर आजीविका चलाना ही इनका एकमात्र कार्य रहता है।

बनावटी धार्मिक भिक्षुक—धार्मिक व्यक्तियों की देखा-देखी बहुत से अन्य व्यक्ति भी जटा बढ़ाकर, भस्म और चन्दन लगाये गले में कंठी पहने साधुओं के वेश में घूमा करते हैं तथा भिक्षा पर स्वयं तथा परिवार का निर्वाह करते हैं। धार्मिक व्यक्तियों को लोग बड़ी श्रद्धा के साथ भिक्षा देते हैं, अतः बहुत से काहिल तथा काम से जी चुराने वाले व्यक्ति उसी वेश को ग्रहण कर लेते हैं। सच्चे और बनावटी साधु को अलग करना भी आज असंभव-सा प्रतीत होता है।

पेशेवर भिक्षुक जाति—हिन्दुस्तान में बहुत-सी ऐसी जातियां हैं, जिनके लोग भिक्षावृत्ति को छोड़ और कुछ नहीं करते। ये जाति सदा एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमती रहती हैं और भिक्षा मांगती फिरती हैं। लोगों की बड़ी-बड़ी तारीफ करके, उन्हें कविता सुनाकर या गाने गाकर खुश करना और भिक्षा लेना ही इनकी एकमात्र पेशा

रहती है। भारत में बहुत-सी घुमक्कड़ जातियाँ हैं, जो सदा एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमती रहती हैं। ऐसी जातियों में पुरुष, स्त्री, और बच्चे सभी भिक्षा मांगते हैं। भिक्षावृत्ति तथा चोरी पर ही इनका निर्वाह होता है। ये पूरे खानाबदोश होते है। कहीं इनका घर-द्वार नहीं होता।

नियुक्त भिक्षुक—भारत में ऐसे स्त्री-पुरुषों की भी कमी नहीं है, जो कि रात को किसी कारखाने या मिल में काम करते हैं और दिन में भिक्षा मांगते हैं। कारखाने की अपेक्षा वे भिक्षा-वृत्ति से अधिक आय कर लेते हैं। दिन में वे अपना वेश इस प्रकार बना लेते हैं कि कोई उन्हें पहचान नहीं पाता। वे कोढ़ी, अपङ्ग तथा धार्मिक भिक्षुओं का वेश बनाकर उससे भी अधिक आय कर लेते हैं।

अल्प व्यवसायिक भिक्षुक— कुछ लोगों की आदत ही मांगने की होती है। यद्यपि वे छोटे-छोटे व्यवसाय में लगे रहते हैं, फिर भी उन्हें संतोष नहीं होता और भिक्षा मांगते हैं। छोटी-छोटी दूकानें खोलकर बारी-बारी से ये दूकान भी देखते हैं और भीख भी माँगते हैं। भारत में भिक्षावृति सबसे सरल काम और अधिक आय-वाली पेशा है। आदतन जो इस पेशे में रहते हैं, वे गरीबी के कारण ऐसा नहीं करते वरन् वे तो स्वभाव से ही लाचार रहते हैं। यद्यपि हजारों रुपये उनके पास होते हैं, पर वे सदा फटे-चिटे चिथड़ों में रहते हैं। मरते दम तक वे भीख मांगना नहीं छोड़ते। ऐसे लोग भूखे रह कर जीते हैं और मरते समय काफी रुपये छोड़कर मरते हैं।

अस्थायी बेकार पर काम में लगाये जा सकनेवाले भिक्षुक—श्रमिकवर्ग के बहुत से लोग काम की अनियमितता के फलस्वरूप भिक्षा-वृत्ति ग्रहण करते हैं। जब काम नहीं मिलता तो विवश होकर उन्हें भीख माँगनी पड़ती है। इस तरह आगे चलकर उनकी आदत-सी हो जाती

है। काम की अनियमितता अनेक कारणों से होती है और अनेक कारणों से उन्हें बेकार रहना पड़ता है। मन्दी, बीमारी, दुर्घटना आदि बहुत से कारण होते हैं जो कि उन्हें भिक्षावृत्ति के लिए विवश करते हैं।

अस्थायी बेकार जो कि काम में न लगाये जा सकते हों—कम मजदूरी, प्रतिकूल कार्य, आदत के प्रतिकूल कार्य आदि के कारण काम से एक अनिच्छा उत्पन्न हो जाती है। ऐसी हालत में वह आत्म-सम्मान को खो बैठता है और वह भिक्षावृत्ति को अपना लेता है। वह काम करने से अच्छा भिक्षावृत्ति को समझता है।

कुछ स्थायी बेकार जो काम में लगाये जा सकते हों—इस वर्ग में वे लोग आते हैं जो कि व्यवसाय या बाजार में परिवर्तन के फलस्वरूप या किसी आर्थिक कारण से बेकार हो जाते हैं, पर काम करने की इच्छा रखते हैं और काम करने के योग्य हैं। ऐसे लोगों की जब कोई व्यवस्था नहीं हो पाती ; तो ये भिक्षावृत्ति पर आ जाते हैं। ऐसे लोग सुविधा मिलने पर पुनः अपने सामान्य कार्यों में लग सकते हैं। परन्तु यदि बहुत दिनों तक कोई काम नहीं मिलता तो धीरे-धीरे ये आलसी हो जाते हैं।

स्थायी बेकार जो काममें न लगाये जा सकते हैं—इस वर्ग में वे लोग आते हैं जो किसी कारण से स्थायी रूप से बेकार हैं और वे किसी तरह के काम को करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसमें अधिकांश संख्या उन लोगों की होती है जो आवारा होते हैं और भोजन तथा स्थान पाने की ताक में रहते हैं। ऐसे भिक्षुओं के उत्पादन में दुर्बल-चित्तता, मानसिक रोग तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की वैयक्तिक विश्रृङ्खलता कारण बनती है।

स्थायी बेकार जो दुराचारी और काम करने के अनिच्छुक हैं और जिनका सुधार नहीं हो सकता—इस वर्ग में आलसी, रोगी,

बेईमान, आवारा आदि आते हैं। ये अर्ध-अपराधी, दुराचारी, आदतन दान पर निर्भर करनेवाले तथा समाज के लिए बड़े खतरनाक होते हैं।

भिक्षावृत्ति के कारण

भिक्षावृत्ति के बहुत से कारण हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं:—

(१) गरीबी।
(२) बेकारी।
(३) असमर्थता।
(४) पारिवारिक विशृङ्खलता।
(५) सामाजिक उपेक्षा।
(६) पात्रापात्र विवेकहीन दान।
(७) धार्मिक भावना।

गरीबी—अतिशय गरीबी के कारण जब किसी के पास कुछ नहीं रह जाता है, तब अन्त में अपने को जीवित रखने के लिए वह सारे आत्म-सम्मान को खोकर भिक्षावृत्ति ग्रहण करता है। एक कहावत है, 'मरता क्या नहीं करता'। जीवन का मोह इतना अधिक होता है कि कोई आसानी से मरना नहीं चाहता। प्राण बचाने के लिए वह जघन्य पाप तक करने को तैयार हो जाता है। फिर भिक्षावृत्ति तो भारत में एक धार्मिक कृत्य ही समझा जाता है। जब व्यक्ति के पास खाने की कमी पड़ जाती है, तब वह पहले तो बहुत कुछ प्रयत्न करता है। परन्तु जब वह देखता है कि उसके सारे प्रयत्न बेकार सिद्ध हो रहे हैं, तब अन्तिम पेशा भिक्षावृत्ति को अपनाता है।

बेकारी—बेकारी का गरीबी और कार्यक्षमता पर पूरा प्रभाव पड़ता है। बेकारी के कारण व्यक्ति की आय घट जाती है और आय के घटने से गरीबी बढ़ जाती है। फिर तो गरीबी के कारण अनेक

प्रकार की समस्यायें उत्पन्न होती हैं, जिनमें भिक्षा-वृत्ति भी एक है। वेकारी के कारण मनुष्य की कार्यक्षमता घट जाती है और कार्यक्षमता के घटने से मनुष्य में अकर्मण्यता आती है। यदि मनुष्य अधिक दिनों तक वेकार रह जाता है, तो फिर वह अपाहिज हो जाता है। काम करने की उसकी इच्छा नहीं होती और वह परोपजीवी हो जाता है। इस तरह वह सब से सरल मार्ग भिक्षा-वृत्ति को अपनाता है।

वेकारी और गरीबी को बढ़ाने के पीछे औद्योगिक विकास का पूरा हाथ रहा है। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप गृह-उद्योग पर विपत्ति आयी और सारे गृह-उद्योग बन्द हो गये। शहरों का विकाश हुआ और गांवों के गृह-उद्योग का स्थान शहरों में खुलनेवाले कल-कारखानों ने ले लिया। गृह उद्योग में लगे हुए जितने भी लोग थे, सभी वेकार हो गये। वे शहरों की ओर वढ़े, पर उतनी बड़ी संख्या की खपत वहां के कारखानों में भी न हो सकी। इस तरह वेकारी की वृद्धि से भटकते हुए लोगों में वेतरह गरीवी छा गई और जब उनके सामने और कोई चारा न रहा, तब अन्तिम उपाय भिक्षा-वृत्ति को ग्रहण किया।

असमर्थता – असमर्थता चाहे शारीरिक हो या मानसिक, वह मनुष्य को निकम्मा बना देती है। जब मनुष्य काम करने में असमर्थ हो जाता है, तब उसके सामने भिक्षा-वृत्ति के सिवा और कोई चारा नहीं रह जाता। अन्धे, अपंग, बहरे-गूंगे, वृद्ध, बीमार, घायल आदि जितने भी शारीरिक-असमर्थ हैं, अपने जीविकोपार्जन के लिए भिक्षा-वृत्ति को छोड़ और कुछ नहीं कर सकते। इसी प्रकार अविकसित-चित्त, विक्षिप्त, पागल आदि मानसिक रोगों से जितने ग्रस्त हैं, उनमें अधिकांश मानसिक-असमर्थता के फलस्वरूप कुछ नहीं कर पाते और जीवन की रक्षा के लिए भिक्षा-वृत्ति ही उनके सामने एकमात्र अवलम्ब रह जाती है। असाध्य बीमारी पारिवारिक सम्बन्ध को भी छुड़ा देती है। अस्पतालों में भी उसकी चिकित्सा नहीं होती। इस तरह वह घर और बाहर

कहीं भी स्थान नहीं पाता। यथा—कोढ़, गर्मी, सुजाक, टी० बी० आदि असाध्य बीमारियों से ग्रस्त व्यक्ति को कोई देखने वाला नहीं होता। ऐसे लोगों को मरने और बीमारी फैलाने के लिए छोड़ दिया जाता है। काम करने में सर्वथा असमर्थ होने के कारण, ये भिक्षा-वृत्ति पर अपने को जीवित रखने का प्रयत्न करते हैं।

पारिवारिक विश्रृङ्खलता (Family break-down)—तलाक, परित्याग अथवा मृत्यु के फलस्वरूप जब परिवार का जीवन बिखर जाता है, तब उसमें तरह-तरह की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। तलाक हो जाने के पश्चात् यदि स्त्री को कहीं आश्रय नहीं मिलता है तो वह अवैध-सम्बन्ध में पड़ सकती है। परित्याग के साथ तो प्रायः अवैध-सम्बन्ध लगा ही रहता है। अवैध-सम्बन्ध के फलस्वरूप समाज से निकाली जाने पर वह भिक्षा-वृत्ति ग्रहण करती है। विधवाओं में भी बहुत कुछ ये बातें पाई जाती हैं। तलाक और परित्याग के बाद स्त्री के सामने अपने जीवन-यापन की बड़ी विकट समस्या उपस्थित होती है। यदि वह अन्य प्रकार से जीविकोपार्जन में सफल नहीं होती, तो उसके सामने भिक्षा-वृत्ति ही एकमात्र सहारा होता है।

पति की मृत्यु के उपरान्त विधवा की बड़ी दुःखद अवस्था होती है। उसे लोग तरह-तरह से तंग करके घर से निकल जाने के लिए विवश करते हैं। ऐसे समय में जब उसे और कहीं आश्रय नहीं मिलता, तो वह अनैतिक जीवन प्रारम्भ करती है। परित्यक्त स्त्री की भी यही अवस्था होती है। बुरे समाज में पड़ने के फलस्वरूप ऐसी स्त्रियाँ गुप्त रोगों से पीड़ित होती हैं और तब वह दर-दर मारी-मारी फिरती हैं। भिक्षावृत्ति के अलावा उनके लिये और कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता।

घर में माता-पिता के अभाव में बच्चे को तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पढ़ता है। सौतेली मां का होना बच्चों के लिये महा दुःखदायी होता है। बच्चे घर से भाग खड़े होते हैं। ऐसे भागे

हुए बच्चों में अधिकांश भिक्षावृत्ति ग्रहण करते हैं। ऐसे बच्चों में कुछ तो कहीं काम पा जाते हैं और शेष चोरी तथा भिक्षावृत्ति में प्रवृत्त होते हैं। घर से भागी हुई लड़कियाँ बुरे समाज में पड़ जाती हैं और जब वे गुप्त रोग की शिकार होती हैं, तब अन्त में भिक्षावृति से दुःखद जीवन व्यतीत करती हैं।

सामाजिक उपेक्षा--सामाजिक उपेक्षा के फलस्वरूप अनाथ, विधवा, परित्यक्त, धर्मभ्रष्ट, अवैध बच्चे तथा असाध्य बीमारी से ग्रसित रोगियों से लोग घृणा करते हैं और उन्हें समाज से निकल जाने के लिये विवश करते हैं। समाज की उपेक्षा उन्हें भिक्षावृत्ति ग्रहण करने के लिये बाध्य कर देती है। समाज से निकाले जाने पर ऐसे लोगों का एकमात्र अवलम्ब भिक्षावृत्ति ही रह जाती है।

पात्रापात्र विवेक-हीन दान—हिन्दुस्तान में लोग पात्रापात्र का विचार किये बिना दान देकर भिक्षावृत्ति को और भी बढ़ाते हैं। दानी दान देना अपना कर्त्तव्य समझता है। भारत में दानियों की कमी भी नहीं है। भिक्षुओं के लिये बहुत-सी धर्मशालाएँ हैं और प्रति वर्ष कुछ न कुछ बनती ही रहती है। ऐसी धर्मशालाओं में बहुत से हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति साधु-वेश में पोषण पाते हैं। दानी लोग खुशी-खुशी ऐसे लोगों को दान देते हैं। ऐसे लोगों के लिये उनके खजाने में बराबर धन बना रहता है। इस तरह पात्रापात्र का विचार किये बिना दान देने वालोंकी संख्या भारत में बहुत अधिक है और वे भिक्षुओं की संख्या में काफी वृद्धि कर रहे हैं। ऐसे दानियों से यदि कहा जाय कि किसी गरीब विद्यार्थी की सहायता कर दें, तो उनके पास रुपये के अभाव का ही बहाना सदैव रहेगा। समाज-हितकारी संस्थाओं को दान देने में इनका रुख सदा नकारात्मक ही रहता है।

धार्मिक भावना—धार्मिक भावना ने भिक्षावृत्ति को बढ़ाने में

सबसे अधिक काम किया है। लोगों का दान, कर्म, धार्मिक भावना से ही होता है। शिवालय, मंदिर आदि बनवाने के लिये लोगों के पास धन की कमी नहीं रहती पर स्कूल, दवाखाने, सेवाश्रम आदि संस्थाओं के लिये उनके पास पैसे की सदा कमी रहती है, क्योंकि उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं होता कि मंदिर की अपेक्षा विद्यालय बनवाना कहीं अधिक पुण्यदायक और लाभकारी है। धार्मिक भावना के आगे वे किसी भी अच्छी बात को नहीं समझ सकते। स्वयं लेखक के दादा एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने हजारों रुपये खर्च करके एक मंदिर बनवाकर १३ एकड़ जमीन खुशी खुशी अर्पित कर दी, पर लेखक को विद्या-प्राप्ति के लिये एक पैसा भी देने से साफ अस्वीकार कर दिया। ऐसे व्यक्तियों की हिन्दुस्तान में कमी नहीं है। भारत में बहुतसे ऐसे मंदिर हैं, जिनमें अकर्मण्य लोगों का विलासपूर्ण जीवन व्यतीत होता है। मन्दिरों के द्वारा शायद ही कभी समाज-हितकारी कार्यों में धन व्यय किया जाता है।

भिक्षावृत्ति को रोकने के लिये आवश्यक उपाय

भिक्षावृत्ति एक ऐसी समस्या है, जिसे रोकने के लिये बहुत-से प्रयत्न किये जा रहे हैं और बहुत-सी योजनाएँ भी विद्वानों द्वारा बनायी गई, पर अब तक सफलता बहुत कम मिल पाई है। इसे दूर करने के लिये एक विस्तृत योजना की आवश्यकता है। नीचे लिखे उपाय इसकी रोक में बहुत कुछ सहायक सिद्ध होंगे :—

(१) केन्द्रीय सरकार की ओर से कानून बनाकर भिक्षावृत्ति पर रोक लगायी जाय।

(२) प्रान्तीय सरकार तथा स्थानीय संस्थाओं का कानून के पालन कराने में पूरा सहयोग हो।

(३) बेकार, बीमार, वृद्ध और विधवाओं के लिये सामाजिक सुरक्षा

की व्यवस्था की जाय। बेकारी का बीमा, बीमारी का बीमा आदि की व्यवस्था हो।

(४) गरीबी को दूर करने का प्रयत्न और सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था हो।

(५) धार्मिक भिक्षुओं को काम में लगाया जाय।

(६) भिक्षुओं की पुनर्व्यवस्था की जाय।

(७) आवारागर्दी पर रोक लगायी जाय।

(८) श्रमजीवी-क्षतिपूर्ति की उचित व्यवस्था की जाय।

(९) वृद्धों के लिये सहायता की व्यवस्था की जाय।

(१०) उपेक्षित माताओं और बच्चों के लिये सहायता की व्यवस्था की जाय।

(११) असमर्थों (अन्धे, लूले, लंगड़े आदि) के लिये सहायता की व्यवस्था की जाय।

केन्द्रीय सरकार एक कानून बनाकर भिक्षावृत्ति अवैध घोषित कर दे और इस कानून का पालन कराने के लिये सारे राज्य सरकारों पर दबाव डाले। कानून के अनुसार भिक्षुओं की गिरफ्तारी की जाय और उन्हें भिक्षक-गृह में रखा जाय। प्रत्येक जिले में एक भिक्षुक-गृह की व्यवस्था की जाय। जितने भी व्यक्ति भिक्षा मांगते पाये जाँय, सबको पकड़कर भिक्षा-गृह में भेज दिया जाय। भिक्षा-गृह में जाने पर सर्वप्रथम इस बात की जाँच की जाय कि वे किन कारणों से इस पेशे में आये हैं। इसकी जाँच के लिये समाजशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक का रहना आवश्यक है। जाँच करने पर जो जिस कारण से इस पेशे में आया हो, उसके लिये उसी ढंग की व्यवस्था करनी होगी। जैसे—

(१) यदि कोई बेकार है और काम करने की इच्छा रखते हुए भी काम न मिलने के कारण उसने इस पेशे को अपनाया है, तो उसके लिये काम की व्यवस्था करके उसे मुक्त छोड़ दिया जाय।

(२) यदि कोई हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति जो काम करके अपनी आजीविका चला सकता है, परन्तु देखादेखी आलस्यवश वह भी काम से जी चुरा कर भिक्षा मांगता हुआ पकड़ा जाय, तो उससे भिक्षा-गृह के अन्दर पूरा काम लिया जाय। इसके लिये भिक्षा गृह में उद्योग-केन्द्र तथा उसकी शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। ऐसे व्यक्ति को भिक्षा-गृह में तब तक रखा जाय, जब तक कि उसमें सुधार के लक्षण न आ जांय और वह इस बात का विश्वास न दिलाये कि भविष्य में वह कभी भिक्षा न मांगेगा।

(३) परन्तु यदि अभियुक्त प्रथम अपराधी हो और वह इस बात का विश्वास दिलाता हो कि वह भविष्य में कभी वैसा न करेगा, तो उसे (उसकी पूरी हुलिया लेकर) छोड़ दिया जाय। दुबारा पकड़े जाने पर उसके साथ भी उसी भाँति कार्रवाई की जाय जैसा कि (२) में बताया गया है। वैसी अवस्था में छोड़े जाने पर भी उस पर कुछ दिनों तक पूरी निगरानी की आवश्यकता है। यह काम स्थानीय संस्थाओं से लिया जाय।

(४) धार्मिक भिक्षुओं तथा ऐसे भिक्षुओं के साथ जो कि भिक्षावृत्ति अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हों, वैसा ही व्यवहार किया जाय, जो कि योग्य शरीरवाले अन्य भिक्षुओं के साथ बताया गया है। धर्म के नाम पर इनके साथ किसी भी प्रकार की रियायत न होनी चाहिये। ऐसे व्यक्ति देश के लिये भारस्वरूप हैं और देश की उन्नति में बाधक हैं।

(५) स्त्री अभियुक्ता को उनके संबंधियों की जमानत पर छोड़ दिया जाय और यदि कोई जमानतदार न हो तो उन्हें किसी अबला-आश्रम या विधवा-आश्रम में भेज दिया जाय, जहाँ की उनकी समुचित व्यवस्था हो सके। परन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात है कि उन्हें किसी ऐसी संस्था के सुपुर्द न किया जाय, जहाँ कि उनकी खरीद-बिक्री होती

हो। आजकल ऐसी संस्थाओं की बाढ़-सी आ गई है, जहाँ कि स्त्रियों का व्यापार किया जाता है।

(६) १६ वर्ष से नीचे के बच्चों को चरित्र-सुधार के लिये विशेष प्रकार के विद्यालयों (Reformatery school or correction School) में भेजा जाय। जहाँ कि उन्हें अच्छी शिक्षा देकर अच्छा नागरिक बना दिया जाय और गृह-उद्योग की शिक्षा देकर आवश्यक पूँजी के साथ उन्हें गृह-उद्योग में लगा दिया जाय।

(७) अन्धे भिक्षुओं को अँधों की संस्था में भेज दिया जाय, जहाँ उचित शिक्षा के साथ उनसे काम लिया जा सके तथा उनकी उचित देखरेख भी हो सके। इसी प्रकार गूंगे-बहरे, लूले-लङ्गड़े लोगों को भी उनकी विशेष संस्थाओं में भेज दिया जाय।

(८) बीमार भिक्षुओं की चिकित्सा कराई जाय और जब वे अच्छे हो जाँय, तो उन्हें किसी काम में लगा दिया जाय। चिकित्सा की व्यवस्था सामान्य अस्पतालों में कराई जा सकती है, पर इसमें ध्यान देने की बात है कि गुप्त-रोग वालों तथा कुष्ट रोग वालों के लिये अलग वार्ड की व्यवस्था करनी होगी, अन्यथा वे अपनी बीमारी का और भी प्रसार करेंगे। ऐसे रोगियों की चिकित्सा के लिये यदि भिक्षुक-गृह में ही अस्पताल हो, तो और भी उत्तम हो।

(९) अविकसित-चित्त व्यक्ति के लिए तथा मानसिक रोगी के लिए मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता होगी अतः ऐसे लोगों को मेंटल क्लिमिक्स तथा मेंटल एसाइलम में भेजकर इनकी चिकित्सा कराई जाय और जब वे अच्छे हो जांय तो उनकी पुनर्व्यवस्था की जाय।

(१०) वृद्ध तथा असमर्थ भिक्षुओं को भिक्षागृह के आश्रम में रखा जाय और उनके खाने, पीने तथा रहने की समुचित व्यवस्था की जाय।

षष्ठ अध्याय

बेकारी की समस्या

बेकारी आज की सबसे बड़ी समस्या है। काम नहीं मिलने से मनुष्य की आय रुक जाती है। आय के रुकने से उसकी आर्थिक अवस्था बड़ी दयनीय हो जाती है। उसकी सारी इच्छाएं प्रवंचित होती हैं क्योंकि किसी भी आवश्यकता की पूर्ति करने में वह सर्वथा असमर्थ रहता है। मकान किराया,कर, चन्दा आदि देने में वह असमर्थ रहता है। धीरे-धीरे उसकी सारी पैत्रिक सम्पत्ति भी बिक जाती है और ऋण का एक भारी बोझ उसके सिर पर आ जाता है। इस तरह बेकारी के कारण मनुष्य हरतरह परेशान रहता है।

बेकारी का व्यक्ति पर ही नहीं वरन् समाज पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बेकारी अधिक बढ़ जाने के फलस्वरूप बाजार में मन्दी छा जाती है और चीजों को खरीदनेवाले बहुत कम रह जाते हैं। समाज के सारे आर्थिक प्रयत्न ढीले पड़ जाते हैं और मनुष्य के सारे सामाजिक सम्बन्ध बिखर जाते हैं। समाज में घोर अनैतिकता और भ्रष्टाचार फैल जाता है। अपराध, आत्म-हत्या, भिक्षावृत्ति आदि समस्याओं की भयंकर वृद्धि होती है तथा समाज में अनेकानेक बुराइयाँ फैल जाती हैं। इस तरह एक बेकारी के कारण समाज को भीषण क्षति उठानी पड़ती है।

आज समस्त संसार ही बेकारी की समस्या से प्रभावित हो रहा है। एक रूस को छोड़ कर कोई भी देश ऐसा नहीं है जहां बेकारी न हो। भारत में तो यह एक प्रमुख समस्या हो गई है। यहाँ के लाखों व्यक्ति

आज बेकारी से ग्रसित हैं। बेकारी के फलस्वरूप भूखे रह कर कितने ही मनुष्य नित्य आत्म-हत्या करते सुने जाते हैं। बेकार व्यक्तियों की संख्या का हिसाब लगाना कोई आसान काम नहीं है। भारत सरकार के पास इस तरह का कोई आंकड़ा नहीं है, जिससे कि यहां के बेकारों का सही-सही हिसाब दिया जा सके।

बेकारी के आंकड़े+

बेकारों की संख्या (हजारों में)

देशों का नाम	१९३८	१९४८	१९४९	१९५०	१९५१
आष्ट्रिया	२४४.०	४३.४	९१.२	१२४.८	११६.२
आस्ट्रेलिया	....	२.६३	१०.३३	१.२३	०.७९
बेलजियम	१७३.९	१२९.२	२३४.९	२२३.५	२०६.५
बर्मा	......	२.४५	.७६	१.८६	३.९७
कनाडा	५१६.०	१०३.०	१३७.०	१८६.०	१०८.०
लंका	....	५३.५	६८.४	६८.५	५६.८
फ्रांस	४०२.२	७७.८	१३१.१	१५२.९	१२०.१
जर्मनी (पश्चिमी)	....	५९२.०	१२३०.०	१५८०.०	१४३२.०
भारत	....	२२४ ९	२९३.०	३१७.३	३३८.४
जापान	२३७.०	२४२.०	३७८.०	४३६.०	३८६.०
पाकिस्तान*	....	७८.०	७१.०	९६ ४	१०३.९
स्पेन	....	११७.०	१६०.१	१६६.२	१४४.२
स्विटजरलैण्ड	५२.६	३ ०	८.१	९.६	३ ८
दक्षिणी अफ्रिका	५.२८	१२.१७	१५.१४	१६.२८	१०.१९
यूनाइटेड किंडम	१७८६.५	३३१.३	३३८.०	३४१.१	२८१.४

\+ Current Affairs, 1953

* सिर्फ शहरी क्षेत्र में

देशों का नाम	१९३८	१९४८	१९४९	१९५०	१९५१
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	१०,३९०	२,०६४	३,३९५	३,१४२	१,८७९
इटली	....	१.७४८	१.६७३	१.६१५	१.७२१
न्यूज़ीलैण्ड	....	०.०७	०.०९	०.०४	०.०४

किन्तु उपर्युक्त आंकड़ों से यहाँ के सभी बेकारों का पता चलना असम्भव है। ये आँकड़े रोजगार-दफ्तर के आधार पर दिये गये हैं। रोजगार-दफ्तरों से तो सिर्फ ऐसे ही बेकारों का पता चलता है, जो स्वयं रोजगार-दफ्तरों में जाकर अपना नाम लिखाते हैं। यहाँ तो अधिकांश ऐसे बेकार हैं जो दिन-रात गली-गली भटकते फिरते हैं पर रोजगार-दफ्तरों में जाकर अपना नाम नहीं लिखाते। अशिक्षित और ग्रामीण व्यक्ति तो रोजगार-दफ्तर को जानते तक नहीं। वास्तव में भारत में बेकारों की संख्या उपर्युक्त आंकड़े से दस गुणे से भी अधिक होगी। आज प्रत्येक बड़े शहर में १५-२० प्रतिशत व्यक्ति बेकार हैं।

बेकारी के कारण

बेकारी के कारणों को हम मोटे रूप से चार भागों में बांट सकते हैं:—

(१) वैयक्तिक कारण।

(२) सामाजिक कारण।

(३) प्राकृतिक कारण।

(४) औद्योगिक कारण।

इन कारणों में चौथा कारण सबसे बड़ा कारण है और आज इसी की सर्वाधिक प्रधानता है। यहाँ हम एक-एक कर सब पर बहुत थोड़े में प्रकाश डालेंगे।

(१) व्यक्ति में कुछ ऐसे विशेष कारण होते हैं, जिनके फलस्वरूप वह अपने को किसी काम में लगा नहीं पाता। कुछ व्यक्तियों का स्वभाव

ही ऐसा होता है कि वह अपने को किसी कार्य के लायक बना नहीं पाता। उसके मनोनुकूल कोई काम नहीं मिल पाता है और वह बेकार पड़ा रहता है। दुर्बलचित्तता, मानसिक रोग, असंतुलित मस्तिष्क, शारीरिक अवस्था आदि कारणों को हम इसके अन्तर्गत ले सकते हैं।

(२) सामाजिक कारण सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक उद्देश्य के फलस्वरूप पैदा होते हैं। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप समाज का मूल्य बदल जाता है और समाज के रीति-रस्म में परिवर्तन आ जाता है। इस तरह सभी व्यक्ति सभी तरह के कार्यों को नहीं अपना सकता। सामाजिक आदर्श और उद्देश्य के अनुसार व्यक्ति का चलना अनिवार्य है। अतः व्यक्ति वैसे ही कार्यों को अपना सकता है जो समाज-स्वीकृत हो। समाज में रहने के लिए व्यक्ति को सामाजिक नियमों, परम्पराओं और आदर्शों की रक्षा करनी पड़ती है और इसीके चलते वह बेकार भी रह जाता है।

(३) प्राकृतिक कारणों में हम उन सब कारणों को ले सकते हैं, जिन पर मनुष्य का कोई प्रभाव नहीं रहता और उसे पता भी नहीं चलता कि कब कौन-सा कारण उपस्थित हो सकता है। यद्यपि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने बहुत प्रयत्न किया है, परन्तु अभी तक उसे जो कुछ सफलता मिल सकी है, वह नहीं के बराबर है। दुर्भिक्ष, बीमारी, दुर्घटना आदि बहुत से ऐसे कारण हैं, जिन्हें हम प्राकृतिक कारण के अन्दर ले सकते हैं।

(४) पहले कहा जा चुका है कि औद्योगिक कारण सबसे प्रमुख और प्रभावशाली कारण है और आज की समाज-व्यवस्था में इसीका सबसे बड़ा हाथ है। मोटे रूप से औद्योगिक कारणों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है :—

(क) श्रम की मांग में अस्थिरता।

(ख) उद्योग की श्रम-नीति।

पुनः श्रम की मांग में अस्थिरता के बहुत से कारण हैं, यथा—

१—सुरक्षित (रिजर्व) श्रम—मिलमालिक काम में लगे श्रमिकों के अतिरिक्त कुछ अधिक श्रमिक रख लेते हैं, जो कि मजदूरों की कमी पड़ने पर काम देते हैं। यह मिलमालिक के लिए तो बहुत अच्छा होता है, पर श्रमिकों के हक में अच्छा नहीं होता। बेकारों को स्थान नहीं मिल पाता।

२—असंगठित श्रम बाजार—इससे मिलमालिक को श्रमिकों की कमजोरी मालूम हो जाती है और वह उसका बेजा लाभ उठाता है। फलस्वरूप बेकारी बढ़ती है।

३—सामयिक अस्थिरता—इससे बेकारी बहुत अधिक बढ़ती है। सामयिक कार्यों के कारण काम समाप्त होनेपर मजदूर बेकार हो जाते हैं। इसके साथ प्राकृतिक कारण भी जुड़ा हुआ है। सामयिक उद्योग प्राकृतिक उपज के अनुसार ही हुआ करते हैं।

४—व्यवसाय चक्र—मन्दी आनेपर बहुत-से श्रमिकों को काम से हटा दिया जाता है, जिससे बेकारी बढ़ती है। इस तरह व्यवस्था-चक्र सदा चलता रहता है और समय-समय पर बेकारी बढ़ती रहती है।

५—व्यवसाय-संगठन में अव्यवस्था के कारण अस्थिरता—यदि व्यवसाय संगठित रूप से नहीं चलता है, तो कारखाने प्रायः किसी न किसी कारण से बन्द हुआ करते हैं। कभी तो कच्चे माल की कमी पड़ जाती और कभी कुछ और वस्तु कम पड़ जाती है। इस तरह अव्यवस्था के फलस्वरूप मिल बन्द रहता है और श्रमिक बेकार रहते हैं।

६—कारखाने की आन्तरिक अस्थिरता—कारखानों में नई मशीनों का आविष्कार होनेके फलस्वरूप कम लोगों की या विशेष प्रकार के लोगों की आवश्यकता होती है। इस तरह बहुत-से मनुष्य कारखाने से निकाल दिये जाते हैं और वे बेकार हो जाते हैं।

७—क्रय शक्ति में परिवर्तन—क्रय-शक्ति में परिवर्तन होने के फलस्वरूप बाजार में मन्दी आती है। मन्दी होने के कारण मिल की तैयार वस्तु बिक नहीं पाती है। अतएव मिल मालिकों को उत्पादन कम कर देना पड़ता है। मिल बन्द रखे जाते हैं और श्रमिक बेकार हो जाते हैं।

८—उपभोग्य वस्तुओं की मांग में परिवर्तन—जब कोई नया फैशन निकल पड़ता है, तो पुरानी वस्तुओं की मांग बहुत घट जाती है। ऐसी अवस्था में पुरानी चीजों का उत्पादन बन्द हो जाता है और उसमें लगे श्रमिक बेकार हो जाते हैं।

उद्योग की श्रम-नीति—मजदूरी निर्धारण करने की नीति का बेकारी पर सीधा असर पड़ता है। इनमें कुछ नीति तो असंगठित श्रम-बाजार और कुछ अधियोजक व्यवस्थापक की तरफ से होता है। इन नीतियों में नये व्यक्ति को पुराने व्यक्ति की जगह लगाने की नीति एक है। उद्योग में इतना विशेषीकरण और श्रम-विभाजन हो गया है कि ट्रेन्ड-व्यक्ति की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। पुराने स्थायी पदों पर नये व्यक्ति को लगा दिया जाता है। इससे टर्न ओवर (Turn-over) बढ़ जाता है और फलस्वरूप बेकारी फैल जाती है। श्रम-समस्या जटिल हो जाती है और मजदूरों को काफी परेशानी उठानी पड़ती है।

आर्थिक मन्दी के समय मिल-मालिक तरह-तरह की नीति को अपनाता है। काम के घन्टे कम करके, साप्ताहिक दिन में कमी करके तथा मजदूरी में कमी करके उत्पादन को कम करता है। कभी-कभी कुछ दिनों के लिए कारखाने को बन्द कर देता है। इस तरह मजदूरों में बेकारी बढ़ती है।

कभी-कभी उद्योग के विस्तार की नीति से भी मजदूरों में बेकारी फैलती है। कारखाने का विस्तार बेकारी का मनोवैज्ञानिक कारण बनता है। उद्योग का संगठन इतना विस्तृत हो जाता है और श्रम-

शक्ति का इतना अधिक नियमन किया जाता है कि मिलमालिक और मजदूरों का सम्बन्ध अच्छा नहीं रह जाता। जब श्रमिकों की जरूरत होती है तब बहुत-सी भर्ती हो जाती है पर जब मन्दी का समय आता है तो अधिकांश हटा दिये जाते हैं। इस तरह भयंकर बेकारी फैलती है। उद्योग के विस्तार में प्रायः लोगों की आंशिक नियुक्ति होती है। इससे भी बेकारी बढ़ती है। मालिक-मजदूर का सम्बन्ध ठीक नहीं होने से टर्न-ओवर बढ़ता है और टर्न-ओवर से बेकारी बढ़ती है।

बीमारी और दुर्घटना—बीमारी और दुर्घटनाओं के फलस्वरूप श्रमिकों की कार्यक्षमता घटती है और कार्यक्षमता के घट जानेसे वह बेकार हो जाता है।

श्रम बाजार के संगठन की कमी—श्रमिक और मालिक दोनों ही आवश्यकता में रहते हैं। श्रमिक काम करना चाहता है पर उसे पता नहीं कि कहाँ काम मिलेगा। उसी तरह मालिक को भी आदमी की आवश्यकता होती है; पर उसे पता नहीं होता कि कौन काम करना चाहता है और कहाँ आदमी मिलेगा। दोनों के बीच में किसी के न होने से बेकार लोग बेकार ही बने रह जाते हैं।

बेकारी के फलस्वरूप होनेवाली बुराइयाँ

बेकारी के फलस्वरूप निम्नलिखित बुराइयाँ फैलती हैं :—

(१) आय की कमी, गरीबी की वृद्धि

(२) कार्यक्षमता का ह्रास, उत्साह की कमी

(३) पारिवारिक विशृंखलता

(४) औद्योगिक असंतोष

(५) राजनैतिक असंतोष

(६) सामाजिक अनैतिकता, कार्यकर्त्ता और उसके परिवार का नैतिक पतन

(७) भिक्षावृत्ति की वृद्धि

(८) अपराध की वृद्धि

(९) आत्महत्या की वृद्धि

बेकारी आय के उद्गम को ही रोक देती है। बिना काम किये आय कहाँ से हो सकती है। आय का उद्गम बन्द हो जानेपर स्वाभाविक रूप से गरीबी बढ़ने लगती है और पुनः गरीबी से उत्पन्न होनेवाली सारी बुराइयाँ आने लगती हैं। हमेशा चिंता में डूबे रहने के कारण कार्यक्षमता का ह्रास हो जाता है। पहले जिस उत्साह से काम होता था वह नहीं रह जाता है। चिन्ता मनुष्य के मस्तिष्क को ही खराब कर देती है। इस तरह व्यक्ति तो काफी परेशान होता ही है, उसके साथ-साथ परिवार में भी विश्रृंखलता आ जाती है। गरीबी परिवार के सभी लोगों को सताती है। जब व्यक्ति काम नहीं पाता है तो उसके साथ-साथ उसके परिवालों को भी भूखों रहना पड़ता है, जिससे काफी विश्रृंखलता फैल जाती है।

जब बहुत लोग बेकार हो जाते हैं तो औद्योगिक और राजनैतिक असंतोष काफी बढ़ जाता है। पूँजीपति तथा सरकार के प्रति एक विद्रोह की भावना हो जाती है। क्रान्ति के लिए लोग तैयार हो जाते हैं, क्योंकि जब मरना ही है तो 'भूखे न मरें वरन् लड़कर मरें, यह भावना आ जाती है। गरीबी के कारण जो समाज में अनैतिकता फैलती है, वही अधिक बेकारी में दिखाई पड़ती है। कार्यकर्त्ता और उसके परिवार के सामने भूखे मरने का जब प्रश्न आता है तो वह तरह-तरह के असामाजिक कृत्य में भी पड़ जाता है। इस तरह भिक्षावृत्ति, अपराध और आत्महत्यायें बहुत अधिक होने लगती हैं। भूख की ज्वाला को शान्त करने के लिए मनुष्य क्या नहीं करता। जिसे आत्म सम्मान होता है वह भिक्षावृत्ति तथा चोरी को अपना नहीं सकता, परन्तु आत्महत्या तो वह कर ही लेता है। बेकारी के फलस्वरूप आत्महत्या बहुत अधिक बढ़ जाती है।

बेकारी को दूर करने के उपाय

निम्न लिखित व्यवस्थाओं द्वारा बेकारी की समस्या को बहुत कुछ दूर किया जा सकता है :—

(१) विज्ञापन
(२) रोजगार-दफ्तर
(३) बेकारी का बीमा
(४) बेकारी का पेंशन
(५) उद्योग धन्धों का प्रचार

जहाँ भी कहीं काम खाली हो उसका विज्ञापन करा दिया जाय, जिससे कि बेकार लोगों को मालूम हो जाय कि कहाँ उन्हें काम मिल सकता है और वे उसके लिए आवेदन कर सकें। बहुत-से ऐसे स्थानों में जहाँ काम खाली रहता है, काम के लिए आदमी की सख्त जरूरत रहती है परन्तु अधियोजक (Employer) को यह पता नहीं होता कि कहाँ आदमी मिल सकेगा। ऐसे मौके पर विज्ञापन बहुत काम करता है।

रोजगार-दफ्तर द्वारा भी यह समस्या बहुत कुछ हल की जा सकती है। रोजगार-दफ्तर, राज्य मिलमालिक तथा मजदूर तीनों की ओर से चलाये जांय। प्रत्येक शहर में सरकार की ओर से एक रोजगार दफ्तर चलाने की आवश्यकता है।

बेकारी के बीमे की व्यवस्था में भी राज्य, मिलमालिक तथा मजदूर तीनों को हाथ बटाना चाहिए। तीनों मिलकर एक कोष की स्थापना करें और उस कोष से बेकारी के समय श्रमिकों की सहायता की जाय। तीनों को ही आर्थिक जिम्मेदारी निभानी होगी। बिना इसकी व्यवस्था के मजदूरों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता और उनकी बेकारी दूर नहीं हो सकती।

बड़े-बड़े उद्योगोंमें बड़ी-बड़ी औद्योगिक बेकारी भी होती है। मिल के बन्द हो जाने पर श्रमिकों की स्थिति बड़ी खराब हो जाती है। आय वन्द हो जाने के कारण गरीबी बुरी तरह सताने लगती है। अतः इसके लिए बेकारी का पेंशन सरकार देने की व्यवस्था करे। श्रमिकों को मिल मालिक के कारण जितनी क्षति हुई हो, उस क्षति की पूर्ति सरकार कर दे और वह (सरकार) मिल-मालिकसे वह रकम वसूल करे।

इसके अतिरिक्त सरकार समय-समय पर जनहित कार्यों की व्यवस्था करे और नये-नये कार्यों को चलाकर बेकार व्यक्तियों को लगा दे। तरह-तरह के उद्योग धंधों को चलाकर उनमें बेकार लोगों को लगाया जाय। इससे बेकारी भी दूर हो जायगी और जनता का बहुत कुछ कल्याण भी हो सकेगा। देश में अमन-चैन की बंशी बजेगी। किसी तरह का खुराफात न होगा। बेकारी के कारण जनता में सरकार के प्रति जो क्रान्ति की भावना आ जाती है, वह भी इन उपायों से दूर हो जायगी।

सप्तम अध्याय

अपराध की समस्या

अपराध की परिभाषा

अपराध निर्णय के दो दृष्टिकोण हैं, एक कानूनी और दूसरा सामजिक। कानूनी दृष्टिसे मनुष्य का वह कार्य अपराध कहलाता हैं, जो कानून की अवहेलना करता है और जिसके लिए कानून की ओर से दण्ड की व्यवस्था रहती है। अपराध की सीमा समय-समय पर बदलती रहती है। जो कार्य कलतक अपराध की सीमा नहीं था, वह आज अपराध की सीमा में आ सकता है। नये कानून के निर्माण से पहले के कुछ ऐसे कार्य भी अपराध की सीमा में आ जाते हैं, जो कभी अपराध की गिनती में नहीं थे। अपराध देश के अनुसार भी भिन्न होता है। एक देश में जो कार्य अपराध समझा जाता है, वही दूसरे देश में अपराध की सीमा से बाहर रह सकता है। एक ही कार्य किसी विशेष स्थिति में कोई गुरुतर अपराध माना जाता है, तो वही दूसरी स्थिति में उससे कम गुरुतर तथा तीसरी स्थिति में बिलकुल तुच्छ अपराध में लिया जा सकता है। इसी प्रकार समाज के अनुसार भी अपराध भिन्न हुआ करता है। इसे एक वाक्य में इस तरह कह सकते हैं कि अपराध देश, काल, परिस्थिति तथा समाज के अनुसार भिन्न हुआ करता है। प्रत्येक देश और प्रत्येक समाज का अलग-अलग कानून होता है। जब कोई व्यक्ति उस कानून में हस्तक्षेप करता है, तो वह अपराधी माना जाता है और उसके लिए कानून की ओर से दण्ड की व्यवस्था होती है। एक उच्च-से-उच्च कम-

चारी या अफसर भी यदि कानून की अवहेलना करता है, तो वह अपराधी माना जाता है और उसके लिए दण्ड की व्यवस्था होती है।

कानून की अवहेलना दो प्रकार से की जा सकती है—(१) किसी विधेय कार्यको न करके और (२) किसी निषिद्ध कार्य को करके। माता पिता का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी संतान का पालन-पोषण करे किन्तु यदि वह इस कर्त्तव्य की उपेक्षा करता है, तो पहले के नियमानुसार वह अपराधी माना जाता है, क्योंकि इस तरह की उपेक्षा कर वह कानून की उपेक्षा करता है। इसी तरह दूसरे प्रकार के उदाहरण में हम हत्या, लूट, मारपीट आदि को ले सकते हैं। क्योंकि कानून की दृष्टि से ऐसे कार्य निषिद्ध हैं। अपराध के लिए प्रायः कार्य और संकल्प दोनों का होना आवश्यक होता है। केवल संकल्प से कोई अपराध नहीं हो सकता। जैसे कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की कोई वस्तु चुरा लेने का संकल्प करता है, परन्तु जब तक वह उस कार्य को नहीं कर लेता, तबतक वह अपराधी नहीं बन सकता। इसी प्रकार बिना संकल्प के भी कोई अपराध नहीं होता, जैसे किसी दूसरे व्यक्ति की कोई वस्तु ले ली, परन्तु उसे लेने में उसका कोई संकलल्प नहीं था या अपना समझकर ले लिया, तो गलत कार्य होते हुए भी वह अपराध नहीं है। इस तरह अपराध के लिए संकल्प और कार्य दोनों ही आवश्यक हैं। संकल्प जब तक कार्यरूप में परिणत नहीं हो जाता, वह अपराध नहीं बन सकता है।

सामाजिक दृष्टि से सामाजिक नियमों की उपेक्षा अपराध है। प्रत्येक समाज का अलग-अलग नियम होता है। चाहे कैसा भी समाज क्यों न हो, उसमें एक नियम अवश्य होता है और उसका पालन करना समाज के प्रत्येक सदस्य के लिये आवश्यक होता है। यदि कोई उस नियम की उपेक्षा करता है, तो समाज उसे अपराधी घोषित कर देता है और उसके लिये दण्ड की व्यवस्था करता है। इस तरह सामाजिक

दृष्टि से अपराध व्यक्ति के उस व्यवहार और उस कार्य को कहेंगे, जो मानव-संबंधों के उस संगठन के विरुद्ध होगा, जिसे समाज ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये प्रारम्भिक शर्त के रूप में बनाया है। इसके अनुसार व्यक्ति और समाज के बीच के सामंजस्य को भङ्ग करने वाला कार्य अपराध की श्रेणी में आ जाता है।

गैर-कानूनी और समाज-विरोधी कार्य अपराध की श्रेणी में आते हैं। कुछ गैर-कानूनी कार्य समाज-विरोधी नहीं होने पर भी अपराध माने जाते हैं और कुछ समाज-विरोधी कार्य होते हुए भी अपराध नहीं माने जाते। कुछ ऐसे कार्य होते हैं, जिनके लिये कानून कठिन दण्ड की व्यवस्था करता है, परन्तु कुछ ऐसे समाज-विरोधी कार्य भी होते हैं, जिनके लिये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनसे समाज को कोई लाभ नहीं है, बल्कि बहुत हानि है, पर कानून की दृष्टि में वह अपराध नहीं माना जाता तथा उसके लिये किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं की जाती। ऐसे कार्य जिनके लिये किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं की जाती, अपराध नहीं माने जाते। अस्तु, अपराध वह कार्य है, जिसके लिये उसके करने वाले को दण्डित किया जा सकता है। सामाजिक दृष्टि से मनुष्य समाज की भावना को छिन्न-भिन्न करनेवाला समाज की प्रकृति के विरुद्ध कार्य अपराध कहलाता है। दूसरे शब्दों में जो कार्य समाज को व्यवस्थित करने के बजाय अव्यवस्थित कर डाले वह अपराध है।

अपराध के कारण

प्राचीन काल के लोगों का ऐसा विचार था कि अपराध भूत-प्रेत अथवा पिशाच की प्रेरणा के फलस्वरूप होते हैं। इसलिये अपराधी व्यक्ति को कठिन दण्ड दिया जाना चाहिये। अपराधी को कठिन दण्ड देना ही ईश्वरोचित न्याय का पालन करना है। सबसे पहले बेकारिया

(Beccaria) और बंथम (Bentham) ने प्राचीन विचार का खंडन किया और बताया कि अपराधी कोई भूत-प्रेतग्रस्त व्यक्ति नहीं वरन् साधारण सदस्य ही होता है, जो प्रलोभन के वश में होकर अपराध कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। अतएव अपराधियों को जो सजा दी जाय, परन्तु उसका उद्देश्य प्रतिशोधात्मक न होकर निवर्त्तक होना चाहिये। इसके बाद पुनः एक दूसरी विचारधारा चली, वह यह कि अपराधी साधारण मनुष्य ही होते हैं, फिर भी उनमें कुछ भेद होता है, सभी एक से नहीं होते। अतः उनकी सजा भिन्न-भिन्न प्रकार की होनी चाहिये और निवर्तन के साथ-साथ सुधार कार्य भी होना चाहिये।

लोम्ब्रोजो (Lombroso) ने बताया कि अपराधी साधारण मनुष्य से बहुत भिन्न होता है। अपराधियों में कुछ शारीरिक दोष होते हैं। अपराधी मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट में कुछ ऐसी विशेषताएं होती हैं, जिनका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। अभ्यस्त अपराधी साधारण मनुष्य से बहुत भिन्न होता है। लोम्ब्रोजो का यह दावा था कि वे मस्तिष्क की बनावट को देखकर मनुष्य के बारे में सारी बातें बता सकते थे। इस तरह वे अपराधियों के जन्मजात गुणों पर अधिक जोर देते थे।

पुनः लोम्ब्रोजो की विचारधारा के विरुद्ध एक दूसरी विचारधारा चली कि अपराधी पैदा नहीं होते वरन् बनाये जाते हैं। व्यक्ति को अपराधी बनाने की जिम्मेदारी समाज के ऊपर है। बुरा वातावरण मनुष्य को अपराधी बनाता है। बुरी परिस्थिति, बुरे घर, दरिद्रता, शराबखोरी आदि कारण ही अपराध को पैदा करते हैं। इस तरह अपराध के लिए व्यक्ति और समाज दोनों जिम्मेवार हैं। कुछ लोगों ने बताया कि अपराध को पैदा करने में सारी जिम्मेवारी समाज के ऊपर है। व्यक्ति के अपराधाचरण के लिए परिस्थितियाँ मूल कारण हैं और परिस्थितियों का निर्माण समाज करता है। अतः व्यक्ति के अपराध के

लिए समाज दोषी है। अपराधी के आचरण को ठीक करने के लिए उसके सामाजिक वातावरण को ठीक करना होगा। वातावरण को सुधार कर समाज में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय कि व्यक्ति को अपराधाचरण सीखने का अवसर ही न मिले।

गोरिंग (Goring) ने अपराध को एक बीमारी के रूप में माना है। उनके मत के अनुसार अपराधी अन्य लोगों से मानसिक और शारीरिक रूप से निम्नश्रेणी का व्यक्ति होता है। गोरिंग की विचारधारा के विरुद्ध अन्य लोगों ने बताया कि अपराधी शारीरिक रूप से निम्नश्रेणी का नहीं होता, वरन् अपराधी के निर्माण में परिस्थिति का जबर्दस्त हाथ होता है। परिस्थिति ही मनुष्य को अपराधी बनने के लिए विवश करती है।

मार्सियर (Mercier) ने अपराध के दो कारण बताये हैं—प्रथम कारण है कि परिस्थिति व्यक्ति को अपराध की ओर ले जाती है, और द्वितीय कारण के अनुसार व्यक्ति के अन्दर कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन दोनों ही कारणों में से किसी में एक की अधिकता होती है तो किसी में दूसरे की। एक की जितनी ही अधिकता होगी, दूसरे की उतनी ही कम मात्रा में आवश्यकता होगी।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर हीले (Healy) ने अपराध के कारणों में मानव स्वभाव तथा परिस्थिति दोनों पर जोर दिया। उनके अनुसार मानव प्रकृति तथा परिस्थिति दोनों ही अत्यन्त जटिल हैं। प्रकृति और परिस्थिति दोनों ही से अनेक कारण बनते हैं जो अपराध को जन्म देते हैं। हीले साहब ने अपराध से अधिक अपराधी के अध्ययन पर जोर दिया। प्रत्येक अपराधी का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है। अपराध के कारणों को ज्ञात करने के लिए अपराधी के व्यक्तित्व का अध्ययन आवश्यक है। अविकसितचित्त व्यक्ति में अपराध की प्रवृत्ति अधिक होती है। ऐसे लोगों में आत्म-संयम प्रायः नहीं ही होता है। प्रलोभनों में पड़कर ऐसा व्यक्ति बहुत जल्द

अपराधाचरण में फँस जाता है। अविकसित-चित्त व्यक्ति में धैर्य-शक्ति बिलकुल नहीं होती, जिससे वह सामाजिक कठिनाइयों का मुकाबला नहीं कर पाता और बहुत शीघ्र अपराध के कार्यों को कर बैठता है।

भारत में इन दिनों अपराधों की वृद्धि बड़ी तेजी से हो रही है। दिनोंदिन यह समस्या बढ़ती ही चली जा रही है। लूट और हत्या तो साधारण बात हो गई है। कोई भी दिन ऐसा व्यतीत नहीं होता, जिस दिन कहीं-न-कहीं डाका न पड़ता हो या हत्या न होती हो। यहां के बढ़ते हुए अपराध के कारणों में निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(१) गरीबी
(२) आबादी की वृद्धि
(३) शिक्षा की कमी
(४) बुरा वातावरण
(५) शासन की बुराई
(६) मानसिक विकृति

अतिशय दरिद्रता के कारण जब खाने को नहीं मिलता है, तो तरह-तरह की कुत्सित विचारधाराएँ उत्पन्न होती हैं और इससे अपराध की वृद्धि होती है। एक कहावत है—'मरता क्या नहीं करता', जब व्यक्ति सभी तरह से परेशान हो जाता है तो उसका दिमाग ठीक से काम नहीं करता। उसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं रह जाता है। शिक्षा के अभाव में भी व्यक्ति को अच्छे और बुरे कार्यों की पहचान नहीं हो पाती। जब गरीबी और अशिक्षा समवेत रूप से काम करती है तो व्यक्ति क्या करेगा क्या नहीं, इसका उसे स्वयं ज्ञान नहीं रह जाता। वह तरह-तरह के कुत्सित कार्यों को भी अपना लेता है। आबादी की वृद्धि गरीबी को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो रही है। दिनोंदिन जनसंख्या बढ़ती जा रही है और जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से खाद्यपदार्थ की वृद्धि नहीं होने के कारण अधिकांश लोगों को भूखा रहना

पड़ता है। फलस्वरूप चोरी और डाके की भरमार हो रही है। जीविका-निर्वाह के पर्याप्त साधन नहीं होने के कारण तथा फसल की खराबी से इन दिनों अपराधों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। आर्थिक कठिनाइयों का अपराध से सीधा सम्बन्ध होता है। जब व्यक्ति आर्थिक अव्यवस्था से परेशान हो जाता है, तो क्या से क्या कर बैठता है।

बुरे वातावरण का अपराधसे घनिष्ट सम्पर्क होता है। अधिकांश अपराध वातावरण के ही फलस्वरूप होते हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण का पूरा हाथ होता है। जिस तरह के वातावरण में व्यक्ति पलता है, उसी तरह का उसका व्यक्तित्व बनता है। अपराधी कही जानेवाली जातियों* के बीच जन्म लेनेवाला बच्चा प्रायः अपराधी होता है, वह इसलिये कि उसका वातावरण ही उसे अपराध की ओर ले जाता है। बचपन से वह उसी वातावरण में रहता है, जहाँ सदा अपराध ही अपराध होते रहते हैं। बुरे घर, बुरे माता-पिता, बुरे साथी तथा बुरा पड़ोस व्यक्ति को अपराधी बनाये बिना नहीं छोड़ता। एक कहावत है 'संगत से गुण होत है, संगत से गुण जात', बुरी संगित में पड़कर कोई भी व्यक्ति अपराधी बनने से बच नहीं सकता। शहरों के विकास ने वातावरण को दूषित करने में काफी काम किया है।

आज शासन-व्यवस्था की बुराई से ही अधिकांश अपराध बढ़ रहे हैं। सरकार के अन्दर अपराधी व्यक्तियों की भरमार हो गई है। रिश्वत का बाजार गर्म हो रहा है। चोर और डाकू समझता है कि चलो घूसखोरों का तो राज्य है, कुछ देकर मामला तय कर लेंगे। होता भी यही है ; पुलिस को पता लग जाता है कि डाका कौन डालता है और चोरी कौन करता है। वह कभी-कभी अपराधियों को पकड़ भी लेती

* ३१ अगस्त १९५२ से अपराधी जाति का अन्त हो गया है, अब कोई भी जाति-कानूनी दृष्टि से अपराधी नहीं है।

है, पर सौ-पचास रुपये लेकर पुनः छोड़ देती है। एक ही व्यक्ति कई बार पकड़ा जाता है और बार-बार इसी तरह छोड़ दिया जाता है। आजकल अधिकांश चोरी और डाके में पुलिस का हाथ होता है। उसका हिस्सा पहले से ही तय किया रहता है। इस तरह वास्तविक अपराधी बहुत कम पकड़ा जाता है और झूठे मुकदमों की भरमार रहती है।

आज की चोर-बाजारी का तो और भी पूछना ही क्या। उसमें तो बड़ों-बड़ों की करनी होती है। अच्छे-अच्छे पदों पर आसीन शासन के संचालक तक इस अपराध-कार्य में प्रवृत्त हैं। परन्तु वे परोक्ष रूप से ही अपना काम निकाल लेते हैं। प्रत्यक्ष रूप में उनके ऊपर कोई लांछना लगावे, तो उसका सिद्ध करना भी कठिन हो जाता है। इस तरह अपराध दिनों-दिन वृद्धि की ओर ही अग्रसर हो रहा है। जब कानून बनाने वाले ही कानून को तोड़ने भी लग जाँय, तो उसकी रक्षा कौन करे ? नियम का पालन उचित रीति से तभी होता है, जब कि नियन्ता स्वयं उसका पालन करे। यदि नियंता अपने बनाये हुए नियमों से नहीं चलता, तो सभी कोई उस नियम की उपेक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त नियम और कानून किसी भी समाज में तभी तक माने जा सकते हैं, जब तक कि उससे समाज का हित होता है और समाज की रीति-नीति और परम्परा की रक्षा होती है। इसके खिलाफ होते ही कानून की उपेक्षा होने लगती है। धार्मिक नियमों के खिलाफ भी कोई कानून टिक नहीं सकता। उसकी उपेक्षा अवश्यंभावी है।

अपराध के मनोवैज्ञानिक कारण

मनुष्य को सभ्य जीवन में आने के लिये बहुत सी प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ा है। प्रवृत्तियों का दमन सभी एक तरह से नहीं कर सकते। कुछ तो इसमें बहुत अधिक सफलता प्राप्त कर लेते हैं और

कुछ बिलकुल सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। लोम्ब्रोजो का कहना था कि मनुष्य में आदिम प्रवृत्तियों का अवशेष ही उसके अपराधी बनने का कारण होता है। यदि आदिम काल के मनुष्य को आज के समाज में लाकर रख दिया जाय, तो वह एक विचित्रता का अनुभव करेगा और वह स्वाभाविक रूप से अपराध कर बैठेगा। इसी तरह जो अपनी प्रवृत्तियों के दमन में सफल नहीं हो पाये हैं, वे आदिम जंगली मनुष्य की भांति हैं और वे उसी प्रकार अभ्यस्त अपराधी बन जाते हैं। ऐसी हालत में अपराधी को स्थायी रूप से नजरबन्द रखने की आवश्यकता होती है। क्योंकि वह नियमित रूप से काम करने में तथा अपने साथियों से सहयोग करने में सदा असफल रहता है।

कामज-अनुभवों और विशेष प्रकार के अपराधों का संबंध भी बहुत कुछ स्पष्ट रहता है। उदाहरण के लिये वेश्यावृत्ति, कामज-आक्रमण या कामज-प्रदर्शन में काम का आधार स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। परन्तु कभी-कभी काम-ग्रंथि से अन्य प्रकार के अपराध भी होते देखे जाते हैं। दमित भाव अनेक प्रकार से अनेक कार्य रूप में निकलता है। जिस प्रकार नदी को बाँध देने पर जल की अनेक धाराएँ इधर-उधर निकल पड़ती हैं, उसी प्रकार दमित ग्रंथियाँ अनेक रूप धारणकर निकल सकती हैं। कभी दमित ग्रंथियाँ आशंका (anxity neurosis) के रूप में तथा कभी हिस्टीरिया के रूप में निकल सकती है और इस तरह लकवा या संज्ञा शून्यता हो सकती है। इसी प्रकार कभी-कभी दमित ग्रंथियाँ किसी विशेष कर्म के करने की इच्छा के रूप में भी निकल सकती हैं। क्रोध यदि स्वाभाविक मार्ग नहीं पाता है, तो वह किसी सामान के तोड़ने-फोड़ने में या किसी निर्दोष व्यक्ति के ऊपर क्रूरतापूर्ण प्रहार में निकल सकता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के मानसिक द्वन्द्वों से नाना प्रकार के मानसिक अपराध निकल पड़ते हैं। इस तरह के कुछ उदाहरण संक्षेप में यहाँ दिये जाते हैं—

एक व्यक्ति बहुत दिनों से अपनी पत्नी से अलग होकर संयम का जीवन व्यतीत कर रहा था। उसकी दमित काम-इच्छा एक ऐसी ग्रंथि बन गई, जिसके कारण वह छोटी-छोटी लड़कियों पर आक्रमण किया करता था, यद्यपि सामान्य रूप से वह बच्चों से प्रेम करता था।

एक दूसरे पुरुष में इस कारण एक दमित ग्रंथि उत्पन्न हो गई थी, कि उसके परिवार के लोग उसकी पत्नी के विवाह के पूर्व अनैतिक आचरण के कारण पत्नी को नीची नजर से देखते थे। अतः उसकी अव्यक्त इच्छा थी कि वह कोई अपराध करके अपने को भी अपने परिवार की नजरों में गिराकर अपनी पत्नी के स्तर में ले आवे।

अधिकांश दमित ग्रंथियों का कामज आधार होता है और उससे होनेवाला द्वन्द्व अनेक प्रकार के अपराधों को उत्पन्न कर सकता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति अनेक प्रकार की चोरी, हिंसात्मक आक्रमण आदि अपराधों में पड़ सकता है। इनमें एक विचित्रता होती है कि इन कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले कष्टों का पूरा ज्ञान अपराधी को रहता है। परिणाम के अति भीषण होते हुए भी अपराधी बार-बार अपराधों को दुहराता रहता है।

मानसिक रोग अपराध के कारण और उनकी चिकित्सा के उपाय में बहुत कुछ समता रहती है। अतः मानसिक रोग पर भी विचार करना आवश्यक है। निम्नलिखित मानसिक बीमारियों का अपराध से सीधा संबंध रहता है :—

(१) मानसिक दौर्बल्य (Neurasthenia)

(२) दैनिक आशंकाजनित विकार (Anxiety Neurosis)

(३) हिस्टीरिया (Histeria)

(४) आवेश (Compulsion Neurosis)

(५) चोरी (Cleptomenia)

(६) अतिमद्यपान (Dipsomenia)

(७) नरहत्या (Homicidal impulses)

(८) मिरगी (Epilepsy)

(९) तीव्र विषोन्माद (Acute confusional insanity)

(१०) वृद्धावस्था का बुद्धिह्रास (Senile Dementia)

मानसिक दौर्बल्य का रोगी सामान्य जीवन-संघर्ष में ही अपराधी बन जाता है। वह जरा भी शारीरिक या मानसिक श्रम से बहुत अधिक थकावट का अनुभव करता है। काम करने का विचार ही उसे बुरा प्रतीत होता है। दैनिक आशंका जनित विकार में काम पूर्ति की व्यक्त इच्छा का दमन हो जाता है और उसके आधार पर इच्छा का उलटा भय उत्पन्न होता है। साधारण घटनाएँ अथवा संकट कल्पित रूप से आशंका उत्पन्न करती हैं। वास्तविक खतरे में तो अतिरंजित भय उत्पन्न हो जाता है, जो बड़ा ही भीषण होता है। हिस्टीरिया के रोगी छोटी-छोटी बातों से ही शीघ्र खीझ जाते हैं। ये आत्म-केन्द्रित होते हैं और सदा दूसरों की सहानुभूति चाहते हैं। यदि असफल रहते हैं तो तरह-तरह की झूठी बातें बनाने लगते हैं। हिस्टीरिया के रोगी प्रायः अपराधी होते हैं। आवेश में व्यक्ति किसी विशेष विचार या प्रेरणा से विवश होकर इच्छा विरुद्ध कार्य करता है। चोरी, अतिमद्यपान तथा नर-हत्या इसके अन्तर्गत बीमारियाँ हैं। इसमें कभी-कभी दौरे आते हैं और दौरे में ही कोई चोरी कर बैठता है, कोई अत्यधिक मद्यपान करने लग जाता है तथा कोई किसी की हत्या कर बैठता है। इङ्गलैंड के प्रधान मंत्री ग्लेडस्टन में चोरी की ऐसी एक बीमारी थी। वे जब शहर में घूमने जाते थे, तो दूकानों से छोटी-छोटी वस्तुएँ चुरा लिया करते थे। मिरगी, तीव्र-विषोन्माद तथा वृद्धावस्था के बुद्धिह्रास में आत्म-विस्मृति हो जाती है। बीमारी के दौरे के समय उसे बिलकुल ज्ञान नहीं रहता और वह कुछ का कुछ कर बैठता है।

अपराधों का वर्गीकरण—अपराधों के गुणों के अनुसार इसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) बड़े अपराध (Felonies) और (२) छोटे अपराध (Misdemeanour)। पहले के लिए कठिन दण्ड की व्यवस्था होती है और दूसरे के लिए हल्के दण्ड दिये जाते हैं अथवा भविष्य में अच्छे आचरण के बारे या जमानत पर छोड़ दिये जाते हैं। बड़े अपराध विशेषत: इण्डियन पिनलकोड में देखे जाते हैं और छोटे अपराध क्रिमिनल प्रोसिडियरकोड में। परन्तु यह वर्गीकरण उचित नहीं है। क्योंकि एक राज्य में जो अपराध बड़ा माना जाता है, वही दूसरे राज्य में छोटा माना जाता है और जो छोटा होता है, वही दूसरे में बड़ा। अतः वस्तुतः कोई भी अपराध छोटा या बड़ा नहीं है। छोटे अपराध करनेवाले को छोटा अपराधी और बड़े अपराध करनेवाले को बड़ा अपराधी कहते हैं और छोटे अपराधी बड़े अपराधी की अपेक्षा कम खतरनाक समझे जाते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त वहीं खतम हो जाता है जब कि एक ही व्यक्ति एक दिन छोटा अपराध करता है तो दूसरे दिन बड़ा। इस तरह कोई यह नहीं कह सकता है कि कौन छोटा अपराधी है और कौन बड़ा।

बोंजर (Bonger) के अनुसार अपराधों का वर्गीकरण अपराधियों के संकल्प के अनुसार इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) आर्थिक
(२) राजनैतिक
(३) कामज
(४) अन्य अपराध

अमेरिका में अपराधों का वर्गीकरण सुविधा और गणना के ख्याल से इस प्रकार किया गया है :—

(१) शारीरिक आक्रमण—किसी व्यक्ति पर प्रहार करना।

(२) किसी की संपत्ति का अपहरण।
(३) सार्वजनिक सुरुचि की उपेक्षा।
(४) सार्वजनिक व्यवस्था की उपेक्षा।
(५) सार्वजनिक न्याय की उपेक्षा।

भारत के इण्डियन-पिनल-कोड में प्रायः सभी देशों में होनेवाले अपराध आ जाते हैं। अमेरिकन वर्गीकरण के सिद्धान्त को मानते हुए यहां अपराध को निम्नलिखित अठारह वर्गों में विभाजित किया गया है :—

(१) राज्य के विरुद्ध अपराध।
(२) सेना और जन-सेना सम्बन्धी।
(३) सार्वजनिक शान्ति के विरुद्ध।
(४) सरकारी नौकरों से सम्बद्ध।
(५) सरकारी कर्मचारियों के कानूनी अधिकारों की उपेक्षा।
(६) झूठी गवाही देना।
(७) सरकारी सिक्कों और स्टाम्प सम्बन्धी।
(८) तौल और नाप सम्बन्धी।
(९) सार्वजनिक स्वास्थ्य, रक्षा, सुविधा, सुरुचि और नतिकता सम्बन्धी।
(१०) धर्म सम्बन्धी।
(११) मानव शरीर सम्बन्धी।
(१२) सम्पत्ति के विरुद्ध।
(१३) दस्तावेजों और ट्रेडमार्क या सम्पत्ति-चिन्ह सम्बन्धी।
(१४) पारस्परिक सहायता के इकरारनामे को तोड़ना।
(१५) विवाह सम्बन्धी।
(१६) मानहानि सम्बन्धी।

(१७) धमकाना, अपमानित करना या परेशान करना।

(१८) अपराध करने का प्रयत्न करना।

इसके अतिरिक्त यहाँ किसी अपराध-कार्य को प्रोत्साहन देना अथवा अपराध सम्बन्धी किसी तरह का षड्यन्त्र करना भी अपराध माना जाता है। अपराध किसी एक प्रेरणा से प्रेरित नहीं होते! वे अनेक प्रकार की प्रेरणाओं से प्रेरित होते हैं। एक डाकू से जब न्यायालय में उसके अपराध का कारण पूछा गया, तो उसने बताया कि वह अमीरों का धन लूटकर गरीबों में बांटता है और उसके सारे अपराध पवित्र संकल्प से होते हैं।

भारतीय दण्ड विधान (इण्डियन-पिनल-कोड) के दोष:— भारतीय-दण्ड-विधान का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें प्रत्येक अपराध के लिए पहले से ही सजा निर्धारित कर दी गई है। यदि इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो इससे न तो समाज का कोई लाभ है और न अपराधियों की मनोवृत्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन लाया जा सकता है। यह तो वैसी ही बात है जैसे कि किसी रोगी के लिए अस्पताल में रहने की अवधि पहले से ही निश्चित कर दी जाय। कोई भी डाक्टर इस तरह का नियम बना कर अपनी बेवकूफी का परिचय नहीं दे सकता। पहले से सजा निर्धारित होने के कारण न्यायाधीश को यह अधिकार ही नहीं रह जाता है कि वह अपराधी की स्थिति पर विचार करे तथा अपराध के कारणों का पता लगाते हुए उसकी सजा की व्यवस्था कर उसमें सुधार करने का प्रयत्न करे। न्यायाधीश इस बात के लिये वाध्य है कि वह एक निश्चित अपराध के लिए निश्चित अवधि तक अपराधी को जेल में बन्द रखे या निश्चित रकम तक उससे जुर्माना वसूल करे या कोई शारीरिक दण्ड की व्यवस्था करे।

दण्ड के सिद्धान्त

दण्ड का प्रारम्भ बदला लेने की भावना से हुआ। पहले जो दण्ड दिये जाते थे, सबके मूल में बदला लेना ही ध्येय रहता था, परन्तु उससे अपराधी में कोई सुधार न हुआ वल्कि वह और भी अधिक अपराधी होता गया। इसके बाद क्रमशः निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ :—

(१) **रक्षात्मक सिद्धान्त**—इससे अपराधियों से समाज की रक्षा होती है। इस सिद्धान्त के माननेवालों का कहना है कि न तो अपराधी से बदला लेना है और न उसका सुधार ही करना है। दण्ड इस उद्देश्य से दिया जाता है कि इससे अपराधी से समाज को बचाया जा सके। अपराधियों को जेल इसलिये भेजा जाता है कि समाज उसके अपराध से बचा रहे। हो सकता है कि जेल में भी वह अपराध कर बैठे। परन्तु इससे कोई मतलब नहीं है। इस सिद्धान्त का मत- है समाज की रक्षा करना, जेल के अपराधियों की नहीं। इसके अति- रिक्त अपराधी में सुधार हो या न हो उससे भी कोई मतलब नहीं है। जेल के बाहर जो समाज है वह उससे बचा रहे, दण्ड का यही एकमात्र उद्देश्य है।

(२) **अपराध निवारक सिद्धान्त**—दण्ड को देख कर तथा सुन कर दूसरे व्यक्ति अपराध नहीं करेंगे अर्थात् अपराध का निवारण होगा, यह इस सिद्धान्त का ध्येय है। समाज आगे अपराध न करे इसके लिए सजा दी जाती है। सजा का उद्देश्य ऐसा आदर्श खड़ा करना है कि उसे देख कर दूसरा व्यक्ति अपराध न करे। इसमें अच्छे कार्यों के लिए इनाम और बुरे कार्यों के लिए सजा दी जाती है। एक के बदले दूसरे को भी सजा दी जा सकती है।

(३) **प्रतिफलमूलक सिद्धान्त**—इससे अपराधी अपने किए का

फल भोगता है और जिस बात से उसकी हानि हुई रहती है, वह उसके लिए सन्तोष करता है। इसमें सजा का उद्देश्य है कि व्यक्ति को मालूम हो जाय कि अपराध का क्या फल होता है। अपराधी अपने किये का फल भुगतने में पश्चात्ताप करता है और जिसकी क्षति हुई रहती है, वह अपराधी के दुःख को देख कर सन्तोष करता है।

(४) **सुधारक सिद्धान्त**—दण्ड पाने के बाद अपराधी पुनः कोई भी अपराध न करेगा; उसमें सुधार हो जायगा और समाज में वह ठीक से रहेगा, ऐसा सुधारात्मक सिद्धान्त में माना जाता है। इसके अनुसार बचपन की शिक्षा तथा समाज की खराबी से मनुष्य अपराधी बन जाता है। अतएव अपराध को दूर करने के लिये समाज की खराबी को दूर करना चाहिए। समाज में परिवर्तन लाकर परिस्थिति को ठीक करना ही अपराध में कमी करना है।

दण्ड-व्यवस्था

फाँसी--भारत में फांसी की सजा अभी तक प्रचलित है। परन्तु इससे अपराधों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई है। फाँसी की सजा अपराध-निवारक नहीं, वरन् अपराध की वृद्धि करने वाली है। जिसे फांसी दी जाती है उसे प्राण निकलने के पूर्व तक भले ही कुछ भय और चिन्ता होती है, परन्तु फाँसी पड़ते ही जब उसके प्राणपखेरू उड़ जाते हैं, तो वह अपने सारे दुःखों से छुटकारा पाकर चला जाता है। अब जरा दूसरी ओर दृष्टिपात कीजिए कि फाँसी की सजा अपराध की वृद्धि में किस प्रकार सहायक होती है। मान लीजिए कि जिसे फाँसी दी गई उसके घर में उसकी स्त्री तथा ४-५ छोटे-छोटे बच्चे हैं, जिनके पालन-पोषण की पूरी जिम्मेवारी उसी व्यक्ति पर थी, जिसे फांसी पर चढ़ा दिया गया। फांसी देने के पश्चात् राज की ओर से तो उन बच्चों की कोई व्यवस्था होगी नहीं। अब उनका पालन-पोषण कैसे होगा, यह

विचारणीय प्रश्न है। इसका परिणाम कितना भीषण हो सकता है, यह कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति आसानी से सोच सकता है। बच्चे अपनी छोटी अवस्था से ही चोरी आदि बुरे कार्यों में पड़ सकते हैं और स्त्री आर्थिक कठिनाइयों से तंग आकर या तो अनैतिकता की ओर बढ़ सकती है या कठिन श्रम के परिणामस्वरूप अकाल-काल-कवलित होकर बच्चों को और भी निराश्रित छोड़ जा सकती है। ऐसी हालत में बच्चे भयंकर से भयंकर अपराधी भी हो सकते हैं। इस तरह फांसी की सजा का समाज के लिये बहुत बुरा परिणाम होता है।

किसी की हत्या करना कानून की दृष्टि से अपराध है, तो उस हत्या के बदले में अपराधी को फांसी पर चढ़ाना भी कोई कम अपराध नहीं होना चाहिए। यदि प्राण देना किसी व्यक्ति के अधिकार की बात नहीं है तो उसे लेना भी अधिकार के बाहर होना चाहिये। फांसी की सजा देकर अपराधी को अपराध के लिये पश्चात्ताप करने से मुक्त कर दिया जाता है। पर उचित तो यह है कि उसे जीवित रखा जाय और एक लम्बी अवधि तक उसे पश्चात्ताप करने को विवश किया जाय। पश्चात्ताप करके वह स्वयं अपनी गलती को स्वीकार करे तो उसमें आवश्यक सुधार आ सकता है और भविष्य में वह पुनः अपराध से मुख मोड़ सकता है। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि किसी निर्दोष व्यक्ति को फांसी की सजा हो जाती है और फांसी हो जाने के बाद सच्चे अपराधी का पता भी चल जाता है। पर जब व्यक्ति मर चुका, तब क्या होता है ? उसका प्राण तो लौटाया जा सकता नहीं। अतः फांसी की सजा बहुत बुरी है, उसे दुनिया से उठा दिया जाना चाहिये। यह उस समय के लिये ही ठीक था, जब कि जेल तथा सुधार-गृह की व्यवस्था नहीं हुई थी। आज के युग में जब कि सजा का मुख्य उद्देश्य अपराधी का सुधार माना गया है,

फांसी की सजा से समाज का कोई लाभ नहीं है। इसके द्वारा अपराधियों के सुधार की कल्पना करना बिलकुल बेढंगी बात है।

बेंत की सजा—छोटे अपराधों के लिए बेंत की सजा भारतीय दण्ड-विधान में निर्धारित की गई है। यह एक ऐसा दंड है जिसे हम प्रारंभिक और पाशविक कह सकते हैं। पशु भी अपने दुश्मनों से बदला सधाने के लिए उसे सींग, सूंढ़, पंजे या दुम से मारते हैं या दांत से काटते हैं। इस तरह बेंत मारना पूर्ण पशुता है। इससे अपराधों की संख्या में कमी नहीं की जा सकती। डाक्टर बार्न्स (Barnes) का कथन है कि बेंत मारने से किसी अपराधी का भला नहीं होता, वह और भी पक्का अपराधी हो जाता है। डौस्टास्की (Dostoievsky) ने लिखा है—"यह समझना नितान्त भूल है कि तीव्र शारीरिक पीड़ा के भय से अपराधी स्वभावतः द्वेष या वासना से विरत हो जायगा। यह दण्ड नीचे दर्जे की सभ्यताओं के ही अनुकूल है।" भगवानदास केला ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि बेंत लगाने से अपराधी का नैतिक पतन होता है। वह बार-बार अपने अपराध की कल्पना करता है। इससे उसकी अपराध करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। वह जज और कोड़े लगानेवाले को विशेष रूप से अपना शत्रु समझता है। उसमें समाज के प्रति प्रतिहिंसा की भावना का उदय होता है। मानसिक कष्ट से पागल हो जाने के कारण उसे बार-बार अपराध करने की प्रेरणा होती है। लौरियर का कहना है कि कोड़े लगाने के संबंध में लोकमत और विशेषकर शिक्षित लोकमत में जो उदासीनता दिखाई देती है, उसका कारण है कि लोगों को इसकी अत्यन्त घृणित दशा के संबंध में ज्ञान नहीं है। मूवर का कथन है कि कोड़े की सजा अपराधी को अपराध पर विचार करने का अवसर नहीं देती। इससे अपराध करने की प्रवृत्ति पैदा होती है।

अर्थ दण्ड—जुर्माना तथा माल की जप्ती करके अपराधियों की

आर्थिक कठिनाइयों को और भी बढ़ाया जाता है और उसे और भी अधिक अपराध करने के लिये विवश किया जाता है। आर्थिक दण्ड सिर्फ अपराधी को ही नहीं भुगतना पड़ता है, वरन् उसके पूरे परिवार को भुगतना पड़ता है। इस तरह एक अपराधी को ठीक करने के बजाय उसे तथा उसके पूरे परिवार को अपराधी बनाया जाता है। कभी-कभी यह दण्ड निर्दोष और सीधे-सादे व्यक्ति को भी भयानक अपराधी बना डालता है। अपराधी की मनोवृत्ति पर इसका और भी उल्टा प्रभाव पड़ता है और वह संभलने के बदले और भी बिगड़ता जाता है तथा अपराध की संख्यामें कमी के स्थान पर और भी वृद्धि होती जाती है। भगवानदास केला का कथन है—"यह कार्य किसी रक्तविकार के रोगी को रक्त शोधक औषधि न देकर उसके पके हुए फोड़ों पर कुछ ऐसा मल्हम लगा देने के समान है, जो सम्भव है, न केवल अन्य उभरने वाले फोड़ों को आराम न पहुंचावे, वरन् उस पके हुए फोड़े के लिए भी अधिक कष्टजनक हो।"

कैद, नजरबन्दी तथा निर्वासन— जेल में बन्द रखकर अपराधी को सुधारा नहीं जा सकता, जब तक कि उसके लिए सुधारने का और कोई यत्न न किया जाय। वर्तमान समय की जेल व्यवस्था में जहाँ कि सुधार के अन्य कोई कार्य नहीं किये जाते, अपराधी और भी भयंकर बन जाता है। जेल से निकलने पर अपराधी अपराध के बहुत से गुणों को लेकर निकलता है। जो चोर चोरी की एक कला का जानकार था, वह जेल से निकलने पर सैकड़ों कलाओं का जानकार हो जाता है। जेल में सभी प्रकार के अपराधी इकट्ठे होते हैं और परस्पर अपराध की कला का आदान-प्रदान करते हैं। इस तरह अपराधियों में सुधार होने के बजाय और भी अपराध की शिक्षा मिल जाती है। जेल में अपराधियों के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है वह मनुष्य को मानवता से वंचित कर डालता है। श्री भवगानदास केला ने कहा

है—"आधुनिक जेल की उस अस्पताल से तुलना की जा सकती है जो डबल निमोनिया के मरीज को इलाज करने के लिए उसे बर्फ में स्नान कराये और फिर उसे ऐसे स्थान में बैठाये, जहाँ ठंडी हवा के झोंके खूब आते हों, तथा सोने की जगह भी खूब सर्द हो और ओढ़ने बिछाने के के कपड़े भी बहुत कम हों।" जेल में अपराधी को कैद या नजरबन्द रखकर सुधार का स्वप्न देखना गदहे के सिर पर सींग उगाने का प्रयत्न करना है। इस तरह निर्वासन की सजा देकर भी अपराधी मनोवृत्ति को नहीं बदला जा सकता है। इससे सुधार न होकर और भी बुराई हो सकती है। मनुष्य के मस्तिष्क पर उसका बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इसके अतिरिक्त अपराधीके परिवार पर अनेक तरह की आपत्ति आ सकती है और वह अपराध की ओर अग्रसर हो सकता है। कभी-कभी पूरा का पूरा परिवार भी अपराधी बन सकता है। श्री भगवान-दास जैन के शब्दों में "जिन अपराधियों को किसी उपनिवेश में भेज दिया जाता है, उनके बच्चे स्कूल तथा समाज से प्रभावित होकर या तो कानून माननेवाले बन जाते हैं या समाज द्वारा घृणा पाने पर कानून तोड़ने वाले।" *

अपराधियों के सुधार के लिए अपराध संबंधी सिद्धान्तों की अपेक्षा अपराधी के अध्ययन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सामाजिक तथा मानसिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। उसका प्रत्येक कार्य उसकी परिस्थिति के अनुसार होता है। मनुष्य को बनाने और बिगाड़ने में वातावरण का प्रमुख हाथ होता है। अतः अपराधियों के सुधार के लिये उसके वातावरण में सुधार करना आवश्यक है। आजकल जितने अपराध होते हैं उनमें ९५% वातावरण के दोष से होते हैं। अतः बिना वातावरण में सुधार लाये अपराध की संख्या में कमी करना असंभव है।

* जनसेवक १ नवम्बर १९४८

गाँधीजी का अपराध और दण्ड पर विचार*

"मेरा व्यक्तिगत विचार है कि जो लोग हिंसा भी करते हैं, उनको दण्ड देने के लिए बन्दी करने का भी मैं कायल नहीं हूं। मेरा अहिंसा का धर्म चोर, डाकू तथा हत्यारों को भी दंड देने के पक्ष में नहीं है। किसी को फांसी पर चढ़ाया जाय इस बात पर विवेकशीलता से मैं कभी सहमत नहीं हो सकता।

"यदि मैं दण्ड-विधान तथा इसके आदेशों का समर्थन करूँ तो मैं हिंसा का भागी हूंगा। यदि मेरा वश चले तो मैं जेल के फाटक खोल दूं और हत्यारों तक को जाने दूं। परन्तु मुझे ज्ञात है कि इस मत का होने में मैं एक की संख्या अल्पसंख्यक के गौरवपूर्ण स्थान में हूं।

"सारे अपराध भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग हैं और उनका इसी प्रकार सुधारकों द्वारा उपचार होना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि पुलिस ऐसी सार्वजनिक घटनाओं के संबंध में अपना कर्त्तव्य न करेगी, पर उनके कार्य इन सामाजिक गड़बड़ी के कारणों को ठीक करने का उद्देश्य नहीं रखते।

"यह कार्य सुधारक का विशेष गौरवास्पद अधिकार है। और जब तक समाज का नैतिक स्तर ऊपर न उठाया जायगा, ये अपराध बन्द नहीं होंगे। इस साधारण कारण के कारण कि इन मूर्खों की नैतिक बुद्धि गोठिल हो गई है। अतएव मेरे विचार में केवल एक ही उपाय है—कुछ उत्साही सुधारक मिलकर एक बुराई को दूर करने के लिए जोरदार काम करें।

"विशेष परिस्थियों में मुझ में गलती करने वालों को दंड देने की सिफारिश करने की भी क्षमता है, उदाहरणार्थ, समाज की वर्तमान अवस्था में मैं चोर-डाकुओं को जेल में रखने में न हिचकिचाऊँगा जो

* जनसेवक २ अक्टूबर १९४९

कि स्वयं एक दंड है। समाज की वर्तमान दशा में मेरे पास कोई दूसरा उपचार बताने को नहीं है। अतएव बंदी-गृहों को दंड-गृह की अपेक्षा अधिकतर सुधारगृह के रूप में प्रयोग किये जाने का मैं प्रसन्नता से समर्थन करूँगा।

"परन्तु मैं फांसी, नजरबन्दी तथा शारीरिक दंड में भी विभेद करूंगा। मेरे विचार से इनमें न केवल परिणाम का पर गुण का भेद है। नजरबन्दी का दंड मैं स्मरण कर सकता हूं। जिस मनुष्य को मैं शारीरिक दंड दूंगा उसे मैं हर्जाना भी दे सकूंगा। पर मनुष्य जब एक बार मर जाता है, दंड न उसे जीवित कर सकता है और न हर्जाना दे सकता है। केवल ईश्वर ही प्राण मांग सकता है, क्योंकि वही इसे दे सकता है।"

अपराधी-जाति

अपराधी जाति आदि काल से कोई जाति नहीं थी। यह अंग्रेजों के मस्तिष्क की उपज थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंगरेजी सरकार ने इस तरह का एक कानून बनाकर कुछ जातियों को अपराधी-जाति घोषित कर दिया। भारत सरकार के गृह सदस्य श्री जे० बी० स्टीवेन्स के मतानुसार अपराधी प्रवृत्तियों का संबंध जाति से माना गया और अपराध के निराकरण के लिए उन जातियों पर कानूनी प्रतिबंध लगाना आवश्यक समझा गया। फलतः १८७१ में सर्वप्रथम भारत सरकार ने एक कानून अपराधी जाति के लिए लागू किया। १८७१ का यह कानून १८९७, १९११ तथा १९२३ में संशोधित हुआ और फिर १९२४ में सब धाराओं के अनुसार इस कानून को लागू किया गया। इस कानून में प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दिया गया कि वे स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर इस कानून को लागू करें।

इस अन्यायपूर्ण कानून के द्वारा देश के लाखों व्यक्तियों को अपराधी घोषित कर दिया गया। उन्हें नागरिकता के अधिकार से वंचित किया गया। समाज से उन्हें पृथक् कर रखे जाने की व्यवस्था की गई। जब व्यक्ति की अवस्था १५ वर्ष की होती थी, उसी समय से उसे पुलिस की निगरानी में रहना पड़ता था। समाज में उसकी उपेक्षा होती और उसे शिक्षा आदि की सुविधा से वंचित रहना पड़ता था। सामान्य समाज और अपराधी जातियों के बीच एक बड़ी गहरी खाई बना दी गई। श्री किंगजेम्स स्टीफेन का सिद्धान्त था कि अपराध में प्रवृत्त होना किसी जाति विशेष की प्रवृत्ति है। अपराध उन्हीं जाति विशेष की परम्परागत वृत्ति है। अपराधी में जन्म से ही बुराई होती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने अपराध को रोकने के लिए बहुत-सी जातियों को कानूनन अपराधी जाति घोषित कराया। १८७१ के इस कानून में १८८६-८७ में दो बार संशोधन किया गया। संशोधन के फलस्वरूप अपराधी जातियों के गमनागमन पर भी प्रतिबंध लगाया गया। फलतः अपराध की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गई। अतः १९०२ में एक पुलिस कमीशन की नियुक्ति हुई, जिसने संशोधित कानून की कड़ी आलोचना की। परन्तु जिस त्रुटि को दूर करने के लिए यह सब किया गया, वह दूर न होकर और भी बढ़ती गयी। अतः १९११ में पुनः त्रुटियों को दूर करने के लिए एक बिल पेश किया गया और कानून को और भी दृढ़ किया गया। इसके अनुसार सुधरे हुए व्यक्ति को प्रतिबंध से मुक्त करने की व्यवस्था की गई। इस तरह कुछ सफलता मिली। १९२३ में पुनः एक नया कानून बनाकर अपराधी जातियों की निगरानी का भार प्रान्तीय सरकारों को सुपुर्द किया। १९२४ में श्रीखापर्डे की सलाह के अनुसार अपराधी जाति संबंधित सारे कानून का एकीकरण किया गया। तब से सारे देश में यही कानून व्याप्त रहा।

भारत सरकार ने अपराधी जातियों के अध्ययन के लिए एक जाँच समिति की नियुक्ति की, जिसने भारत सरकार के विभिन्न भागों में रहनेवाली अपराधी जातियों की समस्याओं का अध्ययन करते हुए जरायम पेशा कानून को हटा देने की सिफारिश की। फलतः भारतीय संसद ने १९५२ की फरवरी में १९२४ के अपराधी जाति सम्बन्धी अधिनियम को हटा दिया और ३१ अगस्त १९५२ तक सारे प्रान्तों को अधिनियम हटा लेने का आदेश दिया।

इस प्रकार ३१ अगस्त १९५२ को अपराधी-जातीय-कानून का अन्त हुआ। इसके साथ-ही-साथ अब अपराधी-जाति अपराधी के दुर्नाम से मुक्त है।

अपराधों की संख्या

अपराधों की संख्या का ठीक-ठीक हिसाब लगाना कोई आसान कार्य नहीं है। अदालतों के फैसलों को देखते हुए उनके रेकार्डों के अनुसार यद्यपि बहुत-कुछ संख्या बतायी जा सकती है, परन्तु वे वास्तव में सही नहीं होते। उनसे अपराध की संख्या का ठीक-ठीक पता नहीं चल सकता। बहुत-से अपराधी ऐसे होते हैं जो पकड़े नहीं जाते हैं और जिनका अपराधियों की श्रेणी में कहीं नाम ही नहीं होता। इसके विपरीत बहुत-से निर्दोष व्यक्ति अपराध की पकड़ में आ जाते हैं और वे वकीलों की बहस के द्वारा अपराधी सिद्ध कर दिये जाते हैं। इस तरह बहुत से अपराधी बच जाते हैं और अन्य निरपराध व्यक्ति अपराधी कहला जाते हैं तथा सजा भोग लेते हैं। वर्तमान युग में सच्चे अपराधी का निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो गया है। मुकदमें में जो व्यक्ति अधिक खर्च कर सकता है, वह अपराधी होते हुए भी अपराधी कहलाने से बच जाता है, परन्तु जो मुकदमे में अधिक खर्च नहीं कर पाता वह निरपराध होते हुए भी अपराधी घोषित किया जाता है और उसे दण्ड भुगतना पड़ता है! आज-कल की सबसे बड़ी विशेषता

तो यह है कि जितने मुकद्मे चलाये जाते हैं, उनमें अधिकांश झूठे होते हैं। जब कोई घटना घटती है तो उसमें जो बास्तविक अपराधी होता है वह तो पकड़ा ही नहीं जाता। पुलिस की अकर्मण्यता से वह बाल-बाल बच जाता है। यदि धोखा-धड़ी से पकड़ा भी जाता है तो पुलिस उससे कुछ लेकर उसे छोड़ देती है और अन्य भले लोगों को जिनसे रुपये वसूल किये जा सकते हैं, मुकद्मे में फाँस लेती है। इस तरह अधिकांश निर्दोष व्यक्ति ही सजा भोगने के लिए वाध्य किये जाते हैं। स्वतन्त्र भारत में यह दोष और भी बढ़ गया है तथा दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है।

बिहार में अपराध की स्थिति

१९५२ के प्रथम चार महीने में यहां ७३० डकैती, २७६ खून और ६३८१ चोरी की घटनाएँ हुई। यहाँ के मुख्य मन्त्री श्रीकृष्ण सिंह ने १६ जुलाई को लेजिस्लेटिव कांसिल में श्री जयदेव प्रसाद को उत्तर देते हुए यहाँ के अपराध के सम्बन्ध में जो आंकड़ा दिया है उससे इस विषय पर पूरा प्रकाश मिलता है। उक्त आंकड़ा इस प्रकार है :—

खून

	जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रेल
१९३५-३९ में औसत	२५	२५	२७	२५
१९४०-४४ „ „	३५	३८	३६	३९
१९४७-५१ „ „	४९	५५	५८	५४
१९५१ का योग	५६	६४	५७	६१
१९५० „ „	३८	४३	५९	५०

डकैती

	जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रेल
१६३५-३६ में औसत	४४	३६	४१	४५
१६४०-४४ ,, ,,	१११	१२४	१४८	१२८
१६४७-५१ ,, ,,	११५	१२६	१४१	१२८
१६५१ का योग	११७	१३६	१७७	१३८
१६५० ,, ,,	६०	८१	६३	१०३

लूट (Robbery)

	जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रेल
१६३५-३६ में औसत	२२	१७	२१	२५
१६४०-४४ ,, ,,	४१	३६	२८	३२
१६४७-५१ ,, ,,	५०	५१	५१	४७
१६५१ का योग	६५	४८	६४	६८
१६५० ,, ,,	५६	५४	५४	५३

सेंद (Burglary)

	जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रेल
१६३५-३६ में औसत	१४६२	१४६०	१४०५	११७७
१६४०-४४ ,, ,,	१८३१	१८८२	१६२५	१५३२
१६४७-५१ ,, ,,	१८२६	१६६२	१६३१	१३६६
१६५१ का योग	१६७४	१७६८	१६०५	१४४६
१६५० ,, ,,	१६८७	१५८६	१४७६	१२७२

चोरी

	जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रेल
१६३५-३६ में औसत	८६०	८३३	८६१	७४२
१६४०-४४ " "	११६५	१२६६	१२४६	११६०
१६४७-५१ " "	१५८६	१४५४	१५३३	१४३८
१६५१ का योग	१६१६	१५२०	१५१४	१४६५
१६५० " "	१५६५	१४३२	१४६२	१३३१

दङ्गा

	जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रेल
१६३५-४६ में औसत	५१	५३	६२	६७
१६४०-४४ " "	७४	७२	१०५	७०
१६४७-५१ " "	१०४	१०७	१६२	१६३
१६५१ का योग	६०	८७	१६२	१४१
१६५० " "	६६	८७	१६२	१४१

उत्तर प्रदेश में अपराध की स्थिति

अप्रेल १६४८ से मार्च १६४६ तक उत्तर प्रदेश में कुल ५ लाख रुपये की सम्पत्ति पकड़ी गई और ६२६ व्यक्ति दण्डित किए गये। अप्रेल १६४८ से दिसम्बर १६४८ तक कुल ६३१४ मुकदमे चलाये गये। १६४६-४७ में ६७ और १६४८ के १५ अगस्त तक कुल ८० व्यक्ति जहर खिलाकर लूटे गये। १६५० में यहाँ कंट्रोल उल्लंघन में ३६८ मुकदमे चलाये गये, जिनमें २८४ को सजा हुई और ५०० व्यक्ति दण्डित हुए। कुल १००० मामलों में कार्यवाही की गई।

अपराध निवारण के उपाय

अपराध और अपराधियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा रही है। नित्य नये-नये अपराध होते हैं तथा नये-नये व्यक्ति अपराध में संलग्न होते दिखाई पड़ते हैं। जहाँ देखिये वहीं कोई न कोई अपराध और कोई न कोई अपराधी अवश्य दिखाई पड़ेगा। चोरी, लूट, डाका, हत्या तथा अन्य अपराध तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। अपराध के चलते भले लोगों का जीवन सुरक्षित नहीं रह गया है। सदा कोई न कोई खतरा मौजूद रहता है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ कानून की संख्या में वृद्धि हो रही है और साथ-साथ अपराध की बाढ़ आ गई है।

अपराध एक ऐसी समस्या है, जिसका मूलतः निराकरण करना वर्तमान समय के लिये कठिन है और भविष्य में शायद ही कभी ऐसा समय होगा, जब कि दुनियां में कोई अपराध न होगा। फिर भी प्रयत्न करने पर इसे कम तो किया ही जा सकता है। इसे दूर करने के लिये निम्नलिखित उपाय काफी सहायक सिद्ध होंगे :—

(१) गरीबी को दूर करना।

(२) बेकारी को दूर करना।

(३) घनी आबादी को रोकना।

(४) शिक्षा का प्रचार करना।

(५) शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की उन्नति करना।

(६) अपराधी का अध्ययन कर अपराधजनक कारणों को दूर करना।

(७) परिस्थिति को ठीक करना।

(८) सप्रतिबंध मुक्ति (Probation)।

(९) आश्वासनमुक्ति (Parole)।

(१०) अपराधी की पुनर्व्यवस्था (छूटे हुए कैदी की पुनर्व्यवस्था)।

गरीबी अपराध को बढ़ाने में काफी सहायक होती है। गरीबी के कारण व्यक्ति को पग-पग पर प्रवंचना होती है। उसे भूखा रहना पड़ता है तथा उसकी सारी आवश्यकताएँ अपूर्ण रहती हैं। कोई व्यक्ति भूख से छटपटाता हो और कोई उसके सामने गुलछर्रे उड़ाता रहे, तो यह स्वाभाविक है कि भूखे व्यक्ति के मन में तरह-तरह के विचार उत्पन्न हों और भोजन प्राप्त करने की चेष्टा के फलस्वरूप तरह-तरह के अपराध कर बैठे। अतः अपराध के निवारण के लिये गरीबी को दूर करना आवश्यक है। इसके लिये प्रथम खण्ड के चतुर्थ अध्याय में उपाय बतलाये गये हैं, यहां उनके दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

बेकारी के कारण अपराधों की संख्या में कितनी वृद्धि होती है, यह बताया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट है कि अपराध को दूर करने के लिये बेकारी को दूर किया जाना आवश्यक है। बेकारी से होनेवाली बुराइयाँ बेकारी के अध्याय में दिखाई जा चुकी हैं। अपराधों से इसका सीधा संबंध है। अतः जब तक बेकारी रहेगी, तब तक अपराध भी बना रहेगा। इसे दूर करने के लिये बेकारी के अध्याय में उपाय बताये गये हैं, उन्हीं उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिये।

घनी आबादी में कलह का साम्राज्य सदा बना रहता है। अतः इसके लिये सरकार तथा म्युनिसिपैलिटियों को प्रयत्न करना चाहिये कि शहरों में मकानों की उचित व्यवस्था हो। घनी आबादी को बिखरने का प्रयत्न किया जाय। मकानों की व्यवस्था इस ढंग से हो कि प्रत्येक मकान के पास कुछ भूमि बच्चों के खेलने आदि के लिये हो। कामज-अपराध भी सघन आबादी में विशेष पाये जाते हैं। अतः सघन आबादी को विखेरने के लिये सरकार की ओर से प्रयत्न होना आवश्यक है। यदि शहरों में सरकार की ओर से विशेष प्रकार के मकान बनवाकर उसमें रहनेवाले अधिक से अधिक सदस्यों की संख्या निर्धारित कर दी जाय, तो और भी उत्तम हो।

अपराधों को दूर करने के लिये शिक्षा का प्रचार भी आवश्यक है। स्कूलों की संख्या काफी बढ़ाई जाय और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाय, जिससे कि अधिकाधिक व्यक्ति उच्च शिक्षा को प्राप्त कर सकें। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति को अच्छी बातें समझाना कठिन हो जाता है। शिक्षा पाकर व्यक्ति नैतिकता को ग्रहण करता है और नैतिकता के प्रचार से अपराध की संख्या में स्वभावतः कमी होगी।

शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता से व्यक्ति श्रम करने में अपने को असमर्थ पाता है, अतः वह अपराधाचरण में पड़ जाता है। अतः शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की उन्नति के लिये पर्याप्त अस्पताल, मेंटल क्लिनिक्स आदि खोलकर मुफ्त चिकित्सा की व्यवस्था की जाय। चिकित्सा जितनी ही सस्ती होगी, उतने ही अधिक लोग उससे लाभ उठा सकेंगे। अतः जहाँ तक हो सके, मुफ्त चिकित्सा की व्यवस्था सरकार की ओर से होनी चाहिये।

अपराध को दूर करने का सबसे उत्तम उपाय है कि अपराधी का अध्ययन किया जाय। अपराधी के अध्ययन में इस बात पर ध्यान देना होगा कि वह किन कारणों से अपराध में प्रवृत्त हुआ है। जिन कारणों से वाध्य होकर व्यक्ति अपराधाचरण में पड़ता है, उन कारणों को दूर करने से ही अपराध मिट सकता है। अपराधी के अध्ययन में मनोविज्ञान का सहारा लेना आवश्यक है। मनोविज्ञान अपराध को दूर करने में काफी सहायक होता है। अपराधी के मन की बातों को मनोविज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है और मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा ही उसे दूर किया जा सकता है। मनोविज्ञान के जरिये अपराधी और उसके साथियों का आसानी से पता लगाया जा सकता है और उसे सुगमता पूर्वक सही रास्ते पर लाया जा सकता है।

मनुष्य परिस्थिति का गुलाम है। परिस्थिति के अनुसार ही व्यक्ति का स्वभाव होता है और उसीके अनुसार आचरण करने के

लिये बाध्य होता है। अच्छी परिस्थिति पाकर दुर्जन भी अच्छा सज्जन बन जाता है और बुरी परिस्थिति में पड़कर सज्जन भी दुर्जन बन जाता है। किसी काम को बुरा समझते हुए भी व्यक्ति उसे इसलिये करता है कि वह परिस्थिति से बाध्य हो जाता है। आत्म-रक्षा के लिये उसे वैसा करना पड़ता है। दुनिया में अधिकांश अपराध बुरी परिस्थिति के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। परिस्थिति मनुष्य की बुद्धि को बदल डालती है। बुरी परिस्थिति में पड़कर सज्जनों की बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। ऐसी अपस्था में उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रह जाता है और वह अपराध कर बैठता है। शान्त और धीर व्यक्ति भी परिस्थिति विशेष में पड़कर कभी-कभी इतना क्रुद्ध हो जाता है कि वह अपने को रोक नहीं पाता और हत्या तक कर बैठता है। अपराधी को सुधारने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी परिस्थिति का अध्ययन किया जाय और उसमें सुधार करने का प्रयत्न किया जाय। अच्छी परिस्थिति को पाकर बड़े से बड़ा अपराधी भी बहुत शीघ्र अपने को सुधार लेता है। अतः अपराध के निवारण के लिये परिस्थिति को सुधारने का सबसे अधिक प्रयत्न किया जाना चाहिये।

सप्रतिबन्ध-मुक्ति (Probation)

प्रोबेशन एक ऐसा तरीका है जिसके द्वारा अपराधियों को बिना जेल में दिये कोर्ट द्वारा उसे निरीक्षण और अनुशासन में रख कर सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। यह खासकर बाल-अपराधियों, प्रथम अपराधियों तथा हल्के अपराध करनेवालों के लिए व्यवहार में लाया जाता है। इस तरह प्रोबेशन की परिभाषा में हम कह सकते हैं कि यह वह तरीका है जिसके द्वारा अदालत अपराधियों को जेल न भेज कर प्रोबेशन अफसर के निरीक्षण में सुधरने का अवसर प्रदान करती है। इसके द्वारा अपराधियों में पर्याप्त सुधार होता है और वह एक अच्छा नागरिक बन जाता है। प्रोबेशन के द्वारा अपराधियों को पूरा

अवसर दिया जाता है कि वह अपने में सुधार करके नेक चलन बन सके। इस अवसर को पाकर यदि अपराधी इससे लाभ नहीं उठाता है तो पुनः कोई अपराध कर बैठता है या प्रोबेशन की शर्तों को तोड़ता है तो उस पर मुकदमा चला कर पहले ही अपराध पर सजा देकर उसे जेल भेज दिया जाता है। अपराधी को उसके अपराध की सजा सुना कर अथवा बिना सजा सुनाये अदालत से जो रिहा कर दिया जाता है। इस रिहाई का नाम सप्रतिबन्ध-मुक्ति या आजमाइशी रिहाई है। यदि सजा पहले ही सुना दी जाती है तो शर्तों के तोड़ने पर अपराधी को उसी सजा के अनुसार जेल भेज दिया जाता है और यदि सजा नहीं सुनाई जाती है तो शर्तों के तोड़ने पर उसे सजा सुना दी जाती है और तब उसे सजा भुगतने के लिए जेल भेज दिया जाता है। प्रोबेशन पर छोड़ते समय अपराधी के अपराध और उसके कारण, उम्र, स्वास्थ्य, मानसिक स्थिति तथा पिछला चालचलन देखा जाता है।

प्रोबेशन की शुरूआत अमेरिका के मेसेचुएट्स रियासत से हुई। इसका जन्मदाता जान आगस्टस नामक एक मोची था, जो कि बोस्टन शहर का रहनेवाला था। १८४८ में उसने अदालत से प्रार्थना की कि कम उम्र के अपराधियों को उसकी निगरानी में छोड़ा जाय। फ्रांस के जिरदाँ ने अखबारों में इसी मत का समर्थन किया। इसके पश्चात् कुक नामक एक दानी सज्जन ने इस मामले में अधिक दिलचस्पी ली और अनभ्यस्त अपराधियों को अर्थात् कम उम्र के प्रथम तथा हल्के अपराध के अपराधियों को सुधारने का बड़ा प्रयत्न किया। उनके काम से प्रसन्न होकर अदालत के जज लोग उनकी सलाह लेने लगे तथा उनकी निगरानी में कम उम्र के अपराधियों को छोड़ने लगे। इस तरह कुक को काफी सफलता मिली और इस दिशा में सरकारी काम होने लगे। १८७८ में सर्वप्रथम प्रोबेशन अफसर की नियुक्ति बोस्टन शहर में हुई। इस संबंध में एक कानून भी कुछ दिन बाद १८८० में बना, किन्तु

उसका विशेष प्रभाव न पड़ा, क्योंकि उससे विशेष काम न लिया गया। १८६१ में एक और कानून बना और फौजदारी अदालतों में प्रोबेशन अफसर के रखने की आज्ञा दी गयी। इसके पश्चात् धीरे-धीरे अन्य देशों में भी प्रोबेशन का प्रयोग किया जाने लगा और अब तो प्रायः सभी देशों में इसका प्रयोग हो रहा है। पुरुष, स्त्री और बच्चे सभी अपराध की गुरुतानुसार प्रोबेशन पर छोड़े जाते हैं। स्त्री के लिये स्त्री प्रोबेशन अफसर होती है। बच्चों को विशेषकर प्रोबेशन पर छोड़ा जाता है।

भारत में प्रोबेशन

१८६७ के एक्ट ८ धारा ३१ के अनुसार ऐसा नियम है कि कम उम्र के अपराधी को उसके माता-पिता को सौंपा जा सकता है या चेतावनी देकर छोड़ा जा सकता है। भारत में प्रोबेशन का प्रयोग १६३५ के इण्डिया एक्ट के बाद किया गया। Criminal Procedure Code में दफा ५६२ के अनुसार ऐसे अपराधी जिनका अपराध गुरुतर नहीं हो या प्रथम अपराध हो, इस शर्त पर छोड़ा जा सकता है कि तीन साल के अन्दर यदि वह नेकचलनी से न रहे, तो पुनः सजा भुगतने के लिये बुलाया जा सकता है। इस व्यवस्था में अपराधी प्रोबेशन अफसर तथा किसी संस्था की निगरानी में छोड़ा जाता है जो विशेष रूप से उस पर निगरानी रखता है। मद्रास, बम्बई, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और बंगाल के बच्चों के लिये ऐसा कानून है, जिसके अनुसार अपराधी बालक तथा प्रथम अपराधी को प्रोबेशन अफसर की निगरानी में छोड़ा जाता है। दफा ५६२ के अनुसार प्रथम अपराधी को प्रोबेशन पर छोड़ा जा सकता था, परन्तु वह अब रद्द कर दिया गया है। उसके स्थान पर अब प्रोबेशन पर रिहाई दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम अपराध में यदि चोरी, गबन या धोखा देने का कार्य करता है, तो ऐसी हालत में अदालत अपराधी के चाल-चलन, रहन-सहन,

मानसिक और शारीरिक अवस्था पर विचार करते हुए, साथ ही अप-राध की स्थिति पर ध्यान रखते हुए चेतावनी या धमकी देकर बिना किसी सजा के छोड़ सकती है। यदि अपराधी का अपराध ऐसा है कि उसके लिये उसे कठिन सजा मिलनी चाहिये, पर मौत या काला-पानी नहीं, और अदालत यदि चाहे कि उसे सजा देकर जेल न भेजा जाय तो उसे जमानत पर कुछ शर्तों के साथ छोड़ा जा सकता है। इस तरह की मुक्ति के पूर्व अदालत अपराधी की उम्र चाल-चलन, पिछला रहन-सहन, मानसिक और शारीरिक अवस्था, अपराध की परिस्थिति आदि बातों पर सावधानी से विचार कर लेती है। उसे अपने चरित्र को सुधारने के लिए अधिक से अधिक तीन वर्ष की अवधि दी जाती है। जो व्यक्ति अपराधी के लिए जमानत देता है, उसे इस बात की प्रतिज्ञा करनी होती है कि उक्त अवधि के भीतर वह (अपराधी) अच्छे चाल-चलन से रहेगा, किसी से किसी तरह का झगड़ा न करेगा, किसी तरह का अपराध न करेगा तथा जब कभी उसे अदालत से बुलाया जायगा, जमानतदार उसे उपस्थित करेगा।

अपराधी को एक निश्चित अवधि तक प्रोबेशन में रखा जाता है। दिये गये समय के भीतर यदि वह अपने आचरण को ठीक रखता है तथा किसी प्रकार का अपराध नहीं करता है तो उसकी सजा रद्द कर दी जाती है, परन्तु यदि वह शर्त को तोड़ता है तो उसकी सजा रद्द नहीं की जा सकती वरन् और भी सजा भुगतने के लिए उसे जेल भेज दिया जाता है।

अश्वासन मुक्ति (Parole)

पेरोल के द्वारा कैदियों को सुधार का अवसर प्रदान किया जाता है। कैदियों को कुछ दिन के लिए या समय-समय पर किसी संस्था में या किसी व्यक्ति के निरीक्षण में रहने की अनुमति देकर, उसे अपने चरित्र को सुधारने का अवसर दिया जाता है। जेल से कैदी को छोड़ा

जाता है परन्तु उसे उसी संस्था की निगरानी में रहना पड़ता है। अपराधी में सुधार हो रहा है या नहीं, इस बात की परीक्षा की जाती है। पेरोल के साथ जेल की व्यवस्था भी सम्बद्ध रहती है। जेल या सुधार-गृह में अपराधी को ट्रेनिंग द्वारा पेरोल के योग्य बनाया जाता है। उसकी भावना बदलकर इस तरह की बना दी जाती है कि समाज में जाकर वह अपना सामंजस्य कर सके। जब तक ऐसी व्यवस्था नहीं की जायगी, तबतक अकेला पेरोल सफल नहीं हो सकता। जेल में ही पहले अपाधी को इस बात की अच्छी तरह ट्रेनिंग देकर जब कदी को पेरोल पर छोड़ा जाता है कि वह बाहर जाकर किस तरह समाज में अपना सामंजस्य रखते हुए जीवन-यापन कर सकेगा, तब पेरोल पर छोड़ा जाना सफल सिद्ध होता है। इस तरह पेरोल का मुख्य उद्देश्य है कैदी का समाज से सामंजस्य कराना। आवश्यक ट्रेनिंग देते हुए पेरोल पर कैदी को छोड़ कर इस बात की जांच की जाती है कि उसमें सुधार के लक्षण आ रहे हैं या नहीं, उसका चरित्र सुधर रहा है या नहीं। संस्था की उचित निगरानी के साथ कैदी को छोड़ा जाता है और ज्यों-ज्यों उसके चरित्र में सुधार होता जाता है, उसपर होनेवाले नियंत्रण में ढिलाई होती जाती है। इस तरह पेरोल कैदियों को सुधारने के लिए आखिरी उपाय है।

पेरोल की शुरूआत इंगलैंड से हुई। देश निकाले की सजा बन्द कर देने के बाद इंगलैंड के जेल इतने भर गये कि उनका खाली करना भी आवश्यक हो गया, अतः पेरोल की व्यवस्था करके कैदियों को छोड़ा जाने लगा। सर्वप्रथम जनता ने कैदियों को पेरोल पर छोड़े जाने का प्रबल विरोध किया, क्योंकि बिना भली प्रकार जांच किये कैदी को जब छोड़ दिया गया तो छोड़े हुए कैदियों का उत्पात स्वाभावतः बढ़ गया। इसके पश्चात् आयरलैंड में कैदी की जांच की पूरी व्यवस्था

निकाली गई, जिससे काफी लाभ दिखाई पड़ा। आगे चलकर अमेरिका ने भी आयरलैंड की नकल की।

पेरोल में सख्त अपराध के अपराधियों को जिसे तीन वर्ष या इससे अधिक सजा होती है, सजा के अंतिम भाग में जब कुछ दिन बाकी रह जाते हैं, पेरोल पर छोड़ दिया जाता है। छोड़े जाने पर पुलिस उसके ऊपर पूरी निगरी रखता है। दुबारा कैदियों को भी पेरोल पर छोड़ा जाता है। युवा अपराधी भी पेरोल पर छोड़ा जाता है। बोरस्टाल में रहनेवाले युवा अपराधियों को बोरस्टाल एशोसियेशन की निगरानी में पेरोल पर छोड़ा जाता है।

अपराधी की पुनर्व्यवस्था

प्रायः देखा जाता है कि जेल से लौटे हुए अपराधी पुनः किसी गुरुतर अपराध में पड़ जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि जब वह जेल से लौट कर आता है तो अपने को समाज में मिलाने में वह असमर्थ पाता है। वह जहाँ भी कहीं जाता है, सर्वत्र उपेक्षा ही पाता है। कोई उसे अच्छी दृष्टि से देखना नहीं चाहता। समाज में वह अच्छे चाल-चलन को ग्रहण करने पर भी तिरस्कार ही पाता है। लोग उसके पुराने कृत्यों को ही सदा याद रखते हैं। उसे कहीं कोई काम या नौकरी नहीं मिलती। काम की खोज में जहाँ कहीं जाता है, दुत्कार दिया जाता है। उसके प्रति सहानुभूति रखनेवाला कोई दिखाई ही नहीं पड़ता। इस तरह जेल से बाहर आकर वह एक अजीब परिस्थिति का अनुभव करता है, जहाँ उसके लिए एक दिन भी रहना दूभर हो जाता है। परिणाम होता है कि वह पुनः कोई अपराध कर जेल में पहुंच जाता है। इस तरह वह जेल में ही अपने को सुरक्षित पाता है और बाहर रहने की अपेक्षा जेल में ही रहना कहीं अधिक पसंद करता है।

जेल से छूटे हुए अपराधियों के लिए पहले से ही ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि वह बाहर आकर ऐसा न अनुभव करे कि लोग उसे अपराधी समझ कर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जेल से छोड़े जाने के पूर्व उसके लिए किसी काम की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे कि वह जेल से बाहर आते ही काम में लग जाय और अपने जीवन को सुखी बना सके। उसके प्रति सहानुभूति का व्यवहार किया जाना चाहिए। वह कभी ऐसा अनुभव न करे कि वह कभी अपराधी था, जैसा लोग समझते हैं। इस तरह सुख और शान्ति का वातावरण उसके सामने होना चाहिए। जेल में जिस उद्योग की शिक्षा उसे दी गई हो, उस उद्योग में अपने को लगा कर वह अपने तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके, इसके लिए पूञ्जी की व्यवस्था सरकार की ओर से होनी चाहिए। इस तरह पुनर्व्यवस्था करके अपराधी को पुनः समाज के साथ इस तरह मिला दिया जाय कि कभी वह किसी तरह का कटु अनुभव करे ही नहीं और अपने श्रम द्वारा आराम की जिन्दगी व्यतीत कर सके।

अष्टम अध्याय

बाल अपराध की समस्या

इन दिनों अपराधी बालकों की भी संख्या तेजी से बढ़ती नजर आ रही है। छोटे-छोटे बालक भी अपराध करते हुए पकड़े जाते हैं। ट्रेन में, स्टेशनों में, मेलों में छोटे-छोटे बच्चे जेब काटते पाये जाते हैं। घर से सामान चुरा कर भागना, स्कूल से भागना, माता-पिता को गाली देना, बुरे आचरण में पड़ना आदि घटनाएँ तो साधारण बात हैं। इन साधारण घटनाओं को साधारण कह कर टाल देना उचित नहीं है। आज का बच्चा कल का नागरिक होगा। यदि बचपन से ही आदत बिगड़ी रहेगी, तो आगे चल कर वह अपने को अच्छा नागरिक नहीं बना सकेगा। अतः बचपन से ही बच्चों पर समुचित निगरानी रखने की आवश्यकता है। निगरानी के द्वारा उसकी विकृतियों को दूर कर देने पर ही बालक को अच्छा नागरिक बनाया जा सकता है। यदि बालक पर बचपन से ही ध्यान न दिया जायगा तो वही बिगड़ते-बिगड़ते एक दिन भयंकर अपराधी बन सकता है। बाल-अपराध को उपेक्षा की दृष्टि से देखना उसे अपराधी बनने के लिए प्रोत्साहन देना है। एक बुढ़िया का लड़का किसी पड़ोसी का मिर्चा तोड़ लाया। लड़के को उसकी माता की ओर से उसके लिए रोका न गया, वरन् उसे और भी अच्छा ही बतलाया गया। लड़के ने सोचा, "मैं बहुत ही बहादुर हूं और दूसरों की चीज लाकर अच्छा काम करता हूं।" इस तरह उसकी प्रवृत्ति क्रमशः चोरी की ओर बढ़ती गई। इस तरह छोटे-छोटे अपराधों में अभ्यस्त होते-होते वह बड़े-बड़े अपराध भी

करने लगा और एक दिन ऐसी भी नौबत आई कि वह जघन्य अपराध में पकड़ा गया और उसके लिए उसे फांसी की सजा हुई। फांसी के समय उसने अपनी माँ से मिलने की इच्छा प्रकट की और मिलते समय उसने दाँत से माँ की नाक यह कहते हुए काट ली—"यही मेरी फाँसी का कारण है। यदि इसने मुझे प्रारम्भ में ही मिर्चा लाते समय मना किया होता, तो आज मेरी यह हालत न होती।" यह उदाहरण यहाँ इसलिए दिया गया कि मिर्चा तोड़ लाना कैसी छोटी घटना थी और इस तरह की घटनाओं पर लोग कभी ध्यान नहीं देते। इस तरह बालक के बहुत-से ऐसे छोटे-छोटे कार्य होते हैं, जो बुरे होते हैं पर उनके माता-पिता हँस कर उसे टाल देते हैं। अगर कोई बच्चा किसी को गाली देता है तो उसकी माता उस पर प्यार से हँस देती है। परिणाम होता है कि वह इस तरह प्रोत्साहन पाकर और भी विकृत होता जाता है।

बाल अपराध के कारण

बाल अपराध के कारणों को हम मोटे रूप में चार श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) आनुवंशिक दोष।

(२) वातावरण का दोष।

(३) शारीरिक दोष।

(४) मानसिक दोष।

(१) जन्म से ही व्यक्ति में कुछ ऐसे दोष होते हैं, जिनके फलस्वरूप वह अपराधी होता है। आनुवंशिक दोष में लिम्नलिखित दोषों को ले सकते हैं :—

(क) शारीरिक—जन्म से यदि कोई अपंग उत्पन्न होता है तो वह समाज के अन्य व्यक्तियों से अपने को हीन समझता है। उसमें आत्महीनता की भावना आ जाती है और वह सोचता है कि समाज उसे हीन समझता है। अतः वह समाज को दिखा देना चाहता है कि

वह भी अपना कुछ अस्तित्व रखता है। फलतः वह अपना प्रयत्न गलत दिशा में करता है और अपराध-कार्य में अपना नाम प्रसिद्ध करता है।

(ख) **बौद्धिक**—जन्म से सबकी बुद्धि समान नहीं होती। कोई तीव्र-बुद्धि व्यक्ति होता है तो कोई मन्द-बुद्धि। मन्द-बुद्धि व्यक्ति अपराध कार्य में बहुत शीघ्र पड़ जाता है। क्योंकि अच्छी बातें सोचने की उसकी शक्ति नहीं होती। वह विशेष कर गलत दिशा में सोचता है। छोटी-छोटी घटनाओं के फलस्वरूप वह अपराध कर बैठता है। बाल-अपराधियों में अधिकांश व्यक्ति मन्द बुद्धि होते हैं।

(ग) **स्वभाव**—भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है। कुछ व्यक्तियों का जन्म से ही ऐसा स्वभाव होता है कि वे अपराध सम्बन्धी कार्यों को अधिक पसन्द करते हैं। तोड़-फोड़ में वे अधिक दिलचस्पी रखते हैं। अपराध में पड़ना उनका स्वाभाविक रूप होता है। वे अपने स्वभाव से लाचार होते हैं। क्रोधी-स्वभाव का व्यक्ति अधिकतर अपराध में पड़ता है।

(२) वातावरण के दोष को हम दो वर्गों में विभाजित करना अच्छा समझते हैं। प्रथम घर के अन्दर का वातावरण और द्वितीय घर के बाहर का वातावरण। आन्तरिक और बाह्य दोनों ही वातावरणों का व्यक्ति के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है और दोनों व्यक्तियों को अपराधाचरण में प्रवृत्त करते हैं।

आन्तरिक वातावरण में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(क) **गरीबी और सहचारी**—इसमें देखना है कि घर की परिस्थिति कैसी है? आर्थिक स्थिति अति गरीबी की है या सामान्य गरीबी की है अथवा सामान्य सम्पन्न अवस्था में है? घर में बहुत

अधिक लोग तो नहीं रहते ? मनोरंजन के साधनों का अभाव तो नहीं है ?

(ख) पारिवारिक संबंधों का दोष—इसमें देखना है कि बालक के पारिवारिक संबंध में दोष कहाँ पर है ? घर में माता है या नहीं ? मृत्यु, परित्याग, तलाक, अलगाव या अन्य किसी कारण से माता की अनुपस्थिति तो नहीं है ? इतनी ही बातें पिता के संबंध में भी देखनी चाहिए। कहीं माता और पिता दोनों की अनुपस्थिति तो नहीं है ? दोनों की मृत्यु तो नहीं हो गई है या दोनों ने छोड़ तो नहीं दिया है ? या कहीं ऐसा तो नहीं है कि माता और पिता ने बच्चे को किसी मित्र, संबंधी या किसी संस्था में बहुत दिनों तक छोड़ दिया है ? इसके अतिरिक्त पारिवारिक संबंधों में देखना चाहिये कि बच्चे की सौतेली माँ या गोद लेनेवाली माँ तो नहीं है ? इसी तरह पिताके बारे में भी देखना चाहिये कि सौतेला या गोद लेनेवाला पिता तो नहीं है ? या बच्चा अवैध संबंध से तो उत्पन्न नहीं हुआ है ? यदि उपर्युक्त सभी दोषों से रहित है, तो कहीं एकमात्र संतान तो नहीं है ? पारिवारिक संबंधों में इन सभी दोषों का प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। अगर एक भी बुराई होगी, तो बच्चा विकृत हो सकता है।

(ग) अनुशासन के दोष— अनुशासन का दोष कई प्रकार से होता है। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि माता-पिता का संतान पर किसी प्रकार अनुशासन होता ही नहीं और कभी देखा जाता है कि अनुशासन होता भी है, तो वह बहुत कमजोर जिसका कि उलटा ही प्रभाव पड़ता है। कमजोर अनुशासन या तो माता-पिता की नैतिक और बौद्धिक कमजोरी के कारण होता है या माता-पिता के काम पर बाहर रहने के कारण घर से अनुपस्थिति के फलस्वरूप होता है। चाहे किसी भी कारण से हो, कमजोर अनुशासन बालकों को बिगाड़ने में सहायक होता है। कोई-कोई माता-पिता अपनी सन्तान पर बड़ा ही

कठोर अनुशासन रखते हैं। उनका ख्याल रहता है कि कठोर अनुशासन में ही बच्चा ठीक से रहकर जीवन का अच्छा विकास कर सकता है, पर परिणाम उल्टा होता है। इस तरह अनुशासन न तो अत्यन्त कठोर हो या न अत्यन्त ढीला। सामान्य रूप से मध्यम गति से ही अनुशासन भी काम करता है।

(घ) पापपूर्ण घरेलू वातावरण—घर के पापपूर्ण वातावरण से भी बालकों की आदतें बिगड़ जाया करती है। घरेलू वातावरण में यदि अनैतिक संबंध, शराबखोरी, कलह, बुरा बर्ताव और बुरा आचरण होगा, तो उसका बालकों पर बुरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। ये सब बातें बच्चों को अपराध के लिये प्रोत्साहन देती हैं। कभी-कभी बच्चों को अपराध के लिये प्रोत्साहित भी किया जाता है। घर के अन्दर कुछ ऐसे बुरे साथी होते हैं. जो कि बच्चों को कुमार्गगामी बनाते हैं।

बाह्य-वातावरण में निम्नलिखित प्रधान बातें हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है।

(क) साथी—बच्चों को बिगाड़ने में उनके साथियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा करता है। साथियों में एक ही उम्र के बुरे साथी या संस्था के बुरे साथी बच्चों को कुमार्ग की ओर ले जाते हैं। कभी-कभी बड़े साथी या अजनबी साथी भी बच्चों को भ्रष्ट किया करते हैं। इस प्रकार तरह-तरह के साथी तरह-तरह से बच्चों को विकृत कर अपराधी बनाया करते हैं।

(ख) अवकाश की स्थिति—अवकाश की स्थिति भी बालकों के जीवन पर पूरा प्रभाव डालती है। माता-पिता के अवकाश की स्थिति के अनुसार बच्चों की देख-रेख होती है। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति भी होती है कि बच्चा बहुत बड़ा हो जाने पर भी अपने पिता को नहीं देख पाता, क्योंकि अवकाश की स्थिति ऐसी होती है कि बच्चा जब खा-पीकर रात्रि में सो जाता है, तब कहीं पिता को छुट्टी

होती है और वह घर आता है और पुनः सुबह जब कि बालक सोता ही रहता है, वह काम पर चला जाता है। इस तरह संतान तो अपने पिता से अपरिचित होती ही है, साथ ही पिता भी अपनी सन्तान की समुचित देखभाल करने से वंचित रह जाता है।

इसके अतिरिक्त जो बालक काम में लग चुके हैं, उनके अवकाश की स्थिति का तो उनके चरित्र को बनाने और बिगाड़ने में पूरा हाथ होता है। यदि अवकाश की स्थिति प्रतिकूल होती है, तो बालक स्वभावतः अपराधाचरण में प्रवृत्त होता है।

काम की स्थिति (Working condition)— अवकाश की स्थिति की भाँति काम की स्थिति का भी बालक के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रतिकूल नियुक्ति और बेकार जीवन का अपराध से सीधा सम्बन्ध होता है। ऐसी नियुक्ति में जहाँ काम में कभी दिलचस्पी हो ही नहीं सकती, वहाँ एक ओर तो काम की ओर से सदा उपेक्षा की भावना होती है और दूसरी ओर तरह-तरह के खुराफाती विचार उठते रहते हैं, जो कि व्यक्ति को वरवश अपराध की ओर खींच ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त बालकों के कार्य भी कुछ इस ढङ्ग के होते हैं, अर्थात् कुछ बालकों को इस तरह के कार्यों में लगाया जाता है, जिनमें रहकर अपराध की भावना स्वाभाविक रूप से प्रोत्साहन पाती है। उदाहरण के लिये वेश्यागृह में नियुक्त बच्चे की काम की स्थिति ली जा सकती है।

(३) शारीरिक दोष का भी अपराधाचरण पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। दुबला-पतला और कमजोर आदमी स्वभावतः चिड़चिड़ा होता है। इसी तरह अविकसित अंगवाला और अति विकसित अंग वाला व्यक्ति भी अपने को नियंत्रित नहीं रख पाता है। शारीरिक दोष चाहे जन्म से हों या बाद में किसी बीमारी अथवा घटना से, सबका

अपराधाचरण पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। यहाँ प्रमुख शारीरिक दोषों का उल्लेख किया जाता है, वे ये हैं :—

(क) विकास सम्बन्धी दोष—

बौना-शरीर
अति विकसित (शारीरिक दृष्टि से)
अति विकसित (सेक्स की दृष्टि से)
देर से युवावस्था की प्राप्ति
मासिक धर्म के साथ शारीरिक बाधा
आकर्षक चेहरा

(ख) रोग-संबंधी दोष—

शारीरिक कमजोरी (पोषक तत्व की कमी के कारण)
दाँत की खराबी
रिकेट्स (Rickets बच्चों का रोग)
रक्त स्वल्पता
पुराना जुकाम
गिल्टी या टौंसिल
टी० बी०
हृदय रोग
मिरगी
कोरिया (chorea स्नायविक रोग)
गर्मी
पुराना सिर दर्द
आँख की खराबी
कान की खराबी
स्वर की खराबी

(४) मानसिक दोषों में निम्नलिखित दोषों का अपराध से सीधा सम्बन्ध रहता है :—

(क) बौद्धिक

(i) सामान्य—अविकसित-चित्तता, स्वाभाविक सुस्ती, शिक्षा में पिछड़ा

(ii) विशेष—विशेष अयोग्यता, पढ़ना, गणित आदि में

" " बोलने, सोचने आदि में

(ख) भावात्मक

(i) जन्म से—विशेष और सामान्य

(ii) बादका—दिलचस्पी, उलझन

बाल अपराध को दूर करने के उपाय

परिस्थिति में सुधार

बालकों में अपराध की जो प्रवृत्ति होती है, उसके बहुत-से कारण होते हैं, जिनमें परिस्थिति प्रधान कारण है। मनुष्य जो कुछ करता है, परिस्थिति का उसमें सबसे अधिक हाथ रहता है। परिस्थिति के अनुसार ही मनुष्य सारी बातें सोचता और करता है। अच्छी परिस्थिति में अच्छा काम और बुरी परिस्थिति में बुरा काम करने के लिये मनुष्य बाध्य हो जाता है। बालकों पर परिस्थिति का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः बालकों के समुचित विकास के लिये, उसे एक योग्य नागरिक बनाने के लिये परिस्थिति का अनुकूल बनाना आवश्यक है। अपराधी बालकों को सही रास्ते पर लाने के लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उसकी परिस्थिति को ठीक कर ऐसा बना दिया जाय कि वह अपराध की बातें सोचे तक नहीं।

बालक जन्म से निर्दोष होता है। कुछ बालकों में आनुवंशिक कारण होते हैं जैसे—अविकसित-चित्त, मन्द-बुद्धि आदि। इन्हें शिक्षा और अभ्यास के द्वारा दूर किया जा सकता है, परन्तु अपराध के अधिकांश कारण परिस्थिति में निहित हैं। यदि परिस्थिति में सुधार कर

दिया जाय तो अपराध की समस्या बहुत कुछ हल हो जाय। वातावरण का अपराध से सीधा सम्बन्ध रहता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि अपराधी माता-पिता की सन्तान भी अपराधी ही होगी। अपराधी माता-पिता के बच्चे को यदि आरम्भ से ही अच्छे वातावरण में रखा जाय और उन्हें समुचित शिक्षा दी जाय तो कोई सन्देह नहीं कि वे बच्चे भी अन्य साधारण निरपराध माता-पिता के बच्चों के समान होंगे। जब बुरी परिस्थिति में पड़ कर तथा लालन-पालन के दोष से अच्छे माता-पिता के लड़के भी अपराधी हो जाते हैं, तो अपराधी माता-पिता के साथ रहकर उनके बच्चों का अपराधी हो जाना स्वाभाविक बात है, क्योंकि वे आरम्भ से ही ऐसी परिस्थिति में रहते हैं जहाँ सदा अपराध ही अपराध होता रहता है।

अपराध परिस्थिति प्रधान है। बालक जैसी परिस्थिति में जन्म लेता है और जैसी परिस्थिति में उसका पालन-पोषण होता है, वैसा ही उसके चरित्र का निर्माण होता है। जन्म से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था तक बच्चे के ऊपर जो छाप पड़ जाती है वह अमिट होती है और उसके अनुसार ही उसके चरित्र के गुण होते हैं। परिवार और पड़ोस के वातावरण को ठीक रखने से बालकों के ऊपर अच्छी छाप पड़ेगी और वह अच्छे चरित्र का होगा।

घर की आन्तरिक परिस्थिति का बच्चों के जीवन पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। सबसे पहले बच्चों के जीवन में घर की परिस्थिति का ही सामना करना पड़ता है। वह अपने माता-पिता तथा घर के और लोगों के सम्पर्क में आता है। वह उनके व्यवहारों को देखता है—जिनका असर उस पर पड़ता है। बच्चों को प्रायः दबा कर रखा जाता है, साधारण काम करने की भी उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जाती। इस तरह उसकी भावनाएँ सदा दबी रहती हैं और उन दबी भावनाओं का उभाड़ बाहर अपराध-कार्य के रूप में होता है।

माता-पिता के भय से घर में वे सीधे रहते हैं, पर बाहर छिपकर वे अपराध करते हैं। अपनी दमित इच्छाओं की पूर्ति करने की चेष्टा वे बराबर करते रहते हैं।

घर की आन्तरिक परिस्थिति में घर का कलह भी अपराध को बढ़ाने में काफी काम करता है। बच्चे पर कलह का बुरा प्रभाव पड़ता है। आन्तरिक कलह से घर का वातावरण बिलकुल क्षुब्ध रहता है और उस क्षुब्ध वातावरण में बच्चा रहना पसन्द नहीं करता। परिणाम होता है कि वह घर से भाग खड़ा होता है। सौतेली माँ के कारण भी बच्चे घर से ऊब जाते हैं। उसे बराबर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहले उसे जो प्यार मिलता रहता है, वह सौतेली माँ के आते ही छिन जाता है। उसकी बराबर उपेक्षा होती रहती है। अतः बच्चे अपराध की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। घर में यदि माता-पिता में एक ही का प्रभाव रहता है और दूसरे का कुछ भी नहीं तो बच्चे पर इसका उलटा असर पड़ता है। वह उसके विरुद्ध आचरण करने लग जाता है।

अति प्यार, विषम प्यार और उपेक्षा के फलस्वरूप भी बच्चे प्रायः बिगड़ जाते हैं। सम्मिलित परिवार में दादा आदि बूढ़े लोगों के रहने से बच्चों को अधिक प्यार किया जाता है। उसी तरह इकलौता बच्चा, विधवा का बच्चा, बहुत आशा लगाने के बाद पैदा हुआ बच्चा, सबसे छोटा बच्चा, पहला बच्चा, कई लड़कियों के बीच का लड़का, प्रायः बीमार रहने वाला लड़का, किसी शारीरिक बाधा वाला लड़का, कई सन्तानों के मर जाने के बाद का लड़का तथा अनिच्छित बच्चे को भी अति प्यार किया जाता है और इस तरह उनके बिगड़ने की अधिक सम्भावना रहती है। सौतेली माँ बच्चों को बदनामी से बचने के लिए अधिक प्यार करती है। जो व्यक्ति अपने बचपन में प्यार नहीं पाता, वह बड़े होने पर अपने बच्चों को प्यार कर अपनी अतृप्त भावनाओं की पूर्ति करता है। इस तरह अति प्यार करके वह अपने बच्चों को बिगाड़ सकता है।

विषम प्यार का बच्चे के ऊपर बुरा असर पड़ता है। यदि घर में कई बच्चे हैं और उनमें एक को दूसरे से अधिक प्यार किया जाता है, तो कम प्यार पाने वाला बच्चा बिगड़ जाता है। उसके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है और बदले की भावना आ जाती है। यदि एक लड़के को खाने-कपड़े अच्छे दिये जाते हैं और दूसरे को कम तो दूसरा बच्चा बराबर पहले बच्चे की तरह खाना-कपड़ा एवं अन्य वस्तुएँ पाने का प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न के सिलसिले में वह चोरी आदि अपराध कार्य करने लग जाता है। ऐसी बातें घर के बाहर के बच्चों के साथ खेलने में भी होती हैं। यदि एक बच्चे की प्रशंसा बराबर दूसरे के सामने की जाय तो इसका भी बुरा परिणाम होता है। दूसरा पहले की प्रशंसा सुनकर वैसा ही आचरण करेगा, इस आशा से प्रशंसा की जाती है, पर परिणाम उल्टा होता है। वह पहले से बिलकुल विपरीत आचरण करने लग जाता है।

उपेक्षित बच्चे का घर में कोई ख्याल नहीं किया जाता है, अतः सोचने लगता है कि जब मेरी कोई परवा ही नहीं करता तो मैं ही क्यों अपनी परवा करूं। वह दुराचरण में प्रवृत्त हो जाता है। जिस लड़की को घर में प्यार नहीं मिलता वह आगे चलकर दुराचारिणी हो सकती है। वह झूठी प्रशंसा के द्वारा फुसलायी जा सकती है। उपेक्षित बच्चा समाज से बदला लेना चाहता है। वह घर में कुछ शिक्षा नहीं पा सकता है। अतः वह असामाजिक कृत्यों से समाज का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है वह प्रायः बदमाशों के समूह में सम्मिलित हो जाता है। उपेक्षित बच्चा इस बात को अनुभव करता है कि वह समाज के लायक नहीं है, अतः समाज उसे सम्मान नहीं प्रदान कर सकता। इस तरह वह समाज को अपना शत्रु समझने लगता है।

इस तरह घरेलू परिस्थितियों का ठीक कर ऐसा बनाना चाहिए कि

बच्चों का जीवन शान्त वातावरण में व्यतीत हो। उसे न तो अधिक प्यार किया जाय और न उसकी उपेक्षा की जाय। घर में जितने बच्चे हों, सब को समान रूप से प्यार मिले।

खेल और मनोरञ्जन के पर्याप्त साधनों की वृद्धि

खेल और मनोरञ्जन का बालकों के विकास में काफी हाथ रहता है। यदि खेल और मनोरञ्जन के लिए साधन और अवसर बच्चों को न दिये जाते हैं, तो उसका बड़ा बुरा परिणाम होता है। जो व्यक्ति बचपन में खेलता नहीं, वह जीवन-संग्राम में असफल रहता है। अतः बच्चों के खेल की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। खेल के लिए मैदान तथा उसके मनोरञ्जन के पर्याप्त साधन की व्यवस्था होनी चाहिए। आजकल मनोरञ्जन का साधन खर्चीला और व्यावसायिक हो गया है। उसमें बालकों के विकास पर ध्यान नहीं दिया जाता। सिनेमा के अधिकांश खेल बालकों को बिगाड़ने वाले ही होते हैं। अतः सरकार को चाहिए कि बुरे खेलों को बन्द कर अच्छे-अच्छे प्रभावोत्पादक खेलों का प्रचार करे और बच्चों के लिए पार्क, मैदान आदि की व्यवस्था करे।

गरीबी का निराकरण

बच्चों के बिगड़ने में गरीबी बहुत सहायक है। गरीबी के कारण घर छोटे तथा घनी आबादी में होते हैं। बड़े-बड़े शहरों की स्थिति तो और भी भयानक होती है। एक छोटी-सी कोठरी में, जहाँ कभी-कभी दस-दस परिवार तक निवास करते हैं, वहाँ बच्चों के चरित्रवान होने की आशा कहां तक की जा सकती है। एक साथ बहुत से व्यक्तियों के रहने से बच्चों के ऊपर बहुत ही बुरा असर पड़ता है। वह अपने माता-पिता के सारे व्यवहारों को देखता रहता है, जिसकी छाप उसपर पड़ती है। संकीर्ण स्थान के होने से माता-पिता अपने बच्चों से कोई भी व्यवहार छिपा नहीं पाते। स्थानाभाव के कारण बच्चों को पढ़ने-लिखने

तथा खेलने की सुविधा नहीं होती। लड़के सड़कों पर मारे-मारे फिरते हैं, जिससे उनमें बुरी लतें पड़ जाती हैं।

गरीबी के कारण बच्चों की इच्छित माँगें पूरी नहीं होतीं। वह अपने दूसरे साथी को सम्पन्न देखकर अपनी गरीबी के कारण तरस-तरस कर रह जाता है। अपने साथी के पास कुछ ऐसी चीजें देखता है जो कि वह लेना चाहता है, पर उसके माता-पिता उसे दे नहीं पाते। परिणाम यह होता है कि वह चोरी में प्रवृत्त हो जाता है। गरीबी के कारण माता-पिता बच्चों को अकेला छोड़कर काम पर चले जाते हैं। ऐसी अवस्था में बच्चों को अफीम खिला दिया जाता है। इस तरह बालकों का उचित संरक्षण नहीं होने पाता और वह अपराध में प्रवृत्त हो जाता है। अतः गरीबी का विनाश आवश्यक है। बिना गरीबी को दूर किये बालकों की अवस्था का सुधार नहीं हो सकता। गरीबी को दूर करने के उपाय बताये जा चुके हैं।

बेकारी का निराकरण

बेकारी की समस्या भी बच्चों के बिगड़ने में एक सहायक कारण है। पिता के बेकारी से घर में खाने की कमी पड़ जाती है। उसे भूखा रहना पड़ता है। भूख की पीड़ा से वह व्याकुल होकर घर से निकल पड़ता है तथा अवैध उपायों से अन्न-प्राप्ति का उपाय करता है। वह चोरी तथा भिक्षाटन में प्रवृत्त होता है।

बेकार पिता का स्वभाव चिड़चिड़ा होता है। उसकी पत्नी बराबर उससे झगड़ा करती है और इस झगड़े का असर बच्चों पर पड़ता है। बेकार व्यक्ति शराबी भी हो जाता है। शराब के नशे में उसका जो व्यवहार होता है, उसका बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परिणाम-स्वरूप बच्चे अपराध में प्रवृत्त होते हैं। अतः बालकों को अपराध से बचाने के लिए देश की बेकारी भी दूर करना आवश्यक है। इसके

लिए बेकारी के अध्याय में उपाय बताये जा चुके हैं। यहाँ उन्हें दुहराने से कोई लाभ नहीं।

समुचित शिक्षा की व्यवस्था

बालकों को सही मार्ग पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें समुचित शिक्षा मिले। समुचित शिक्षा के ही द्वारा उन्हें अच्छा नागरिक बनाया जा सकता है। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करके ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि आसानी से देश के सभी बच्चे प्रारंभिक शिक्षा को ग्रहण कर सकें और उनसे लाभ उठा सकें। प्रारंभिक शिक्षा के अतिरिक्त कार्य-संबंधी शिक्षा भी बालकों को मिलनी चाहिए, जिससे कि कोई शिक्षा के अभाव में बेकारी की चक्की में न पिसे। आज का बच्चा ही कल का नागरिक होगा। अतः बच्चे को हम शिक्षा देकर जिस तरह का बनाना चाहें बना सकते हैं और देश की उन्नति भी उसी प्रकार कर सकते हैं। जबतक देश में समुचित शिक्षा का अभाव रहेगा, तब तक योग्य नागरिक का अभाव रहेगा और अपराधियों की संख्या में वृद्धि होती रहेगी।

सप्रतिबंध-मुक्ति की व्यवस्था

सप्रतिबंध मुक्ति के बारे में अपराध के सातवें अध्याय में बताया जा चुका है। अपराधी बालकों को सुधारने में उससे काफी सहायता ली जा सकती है। दुनिया के बहुत-से देशों में इसके द्वारा बहुत-से बच्चे सुधारे जा चुके हैं।

बोरस्टाल की व्यवस्था

युवा अपराधियों को सुधारने के लिए बोरस्टाल एक अच्छी व्यवस्था है। इंगलैंड में १६ से २१ वर्ष तक के अपराधियों के लिए बोरस्टाल संस्थाओं की व्यवस्था की गई है। बोरस्टाल संस्थाएं एक प्रकार के ट्रेनिंग स्कूल हैं। इनमें अपराधी दो और तीन वर्ष के बीच रखे जा

सकते हैं अर्थात् यहाँ अपराधी को कम-से-कम २ वर्ष और अधिक से अधिक ३ वर्ष रहना पड़ता है। सभा की देख-रेख में सुधार होने पर तीन महीने में भी छोड़े जा सकते हैं। १९०८ ई० Prevention of Crimes Act तथा १९१४ के Criminal Justice Administration Act के अनुसार दुबारा अपराध करनेवाले आते हैं। अच्छे आचरण पर तीन या छः महीने में भी अपराधी सभा की देखरेख में छोड़ा जाता है। समाज में उसकी पुनर्व्यवस्था कराने का प्रयत्न किया जाता है। सामान्य रूप से बोरस्टालों में अपराधी को अधिक से अधिक ३ तीन वर्ष तक तथा कम से कम २ तक रखने का नियम है। इसमें अधिकांश कई बार अपराध करनेवाले भेजे जाते हैं। बेइमानी करनेवाले अपराधी इसमें विशेष रहते हैं। युवकों के लिये ६ माह तथा युवतियों के लिये ३ माह में यदि सुधरने के लक्षण दीख पड़ें तो छोड़ने का नियम है। छोड़ने पर बोरस्टाल सभा की देख-रेख में उसे रहना पड़ता है। बोरस्टाल सार्वजनिक संस्था है, पर सरकार से सहायता मिलती है। छूटे हुए कैदियों की परिस्थिति सुधार कर उसे ऐसे वातावरण में रखना जिससे कि वह और अपराध न कर बैठे, बोरस्टाल ऐसी व्यवस्था करता है। उसकी पुनर्व्यवस्था का पूरा प्रबन्ध करता है। इस तरह बोरस्टाल कैदी की उसके कैदी-जीवन के बाद भी देख-रेख करता है। नौकरी आदि दिला कर उसे काम में लगा देता है तथा अच्छी सलाह आदि के द्वारा उसके आचरण को ठीक करने का प्रयत्न करता है। बोरस्टाल में निम्नलिखित पाँच सोपान होते हैं :—

(१) प्रथम सोपान।
(२) मध्यम सोपान।
(३) मध्यम'बी' सोपान—Intermidiate 'B' grade.
(४) विशेष सोपान—Special grade
(५) नक्षत्र मार्का विशेष सोपान—Star special grade.

प्रथम सोपान में जब नौजवान कैदी बोरस्टाल में भेजा जाता है, तो उसे अलग रखा जाता है। उसे किसीसे मिलने नहीं दिया जाता है। उसके बाद मध्यम सोपान अर्थात् दूसरी अवस्था में उसे खाना खाते समय अन्य कैदियों के साथ रहने दिया जाता है। शनिवार और रविवार को दिन भर साथ रह सकता है, खेल आदि खेल सकता है। तीन महीने दूसरी अवस्था में रहने के बाद उसे मध्यम बी सोपान में दिया जाता है। मध्यम बी सोपान के बाद वह प्रोवेशनरी सोपान में आता है। प्रोवेशनरी सोपान में कैदी तभी जाता है जब कि संस्था का बोर्ड उसे पास करता है। फिर विशेष सोपान और तब नक्षत्र मार्का सोपान में जाता है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जाता है, उसकी सुविधाएँ बढ़ती जाती हैं। अन्त में जब उसकी अवस्था ऐसी होती है कि वह छात्रावास में रहनेवाले विद्यार्थियों की तरह रहने लगता है, तब उसे छोड़ा जा सकता है।

बोरस्टाल एक प्रकार का ट्रेनिंग स्कूल है। यहाँ कैदियों को औद्योगिक शिक्षा दी जाती है। औद्योगिक शिक्षा के अतिरिक्त सामान्य शिक्षा भी दी जाती हैं। शारीरिक व्यायाम भी कराया जाता है। सुबह ५ बज कर ४० मिनट से रात ६ बजे तक का कार्यक्रम रहता है। व्यायाम, पढ़ाई आदि इसी बीच होती है। दोपहर में भोजनोपरान्त कुछ विश्राम का समय रहता है। ईंट बनाना, बढ़ईगिरी, चित्रकारी, लोहारी, फिटरी, डबलरोटी, बाग का काम खेती आदि की शिक्षा दी जाती है। ज्ञानवर्द्धन के लिये भी प्रयत्न किये जाते हैं।

बोरस्टाल के कर्मचारी या अफसर वर्दी में नहीं होते और जेल की तरह का वहाँ कोई वातावरण नहीं होता। बोरस्टाल कई गृहों में बंटे होते हैं। प्रत्येक गृह के लिये एक अफसर होता है, जिसे गृहपति (House Master) कहते हैं।

किन्तु बोरस्टाल में भी एक ऐसा वर्ग होता है, जिसमें कैदी को कैदी

के रूप में रहना तथा कठिन श्रम करना पड़ता है। इसमें जेल के कपड़े पहनाये जाते है तथा अकेला रखा जाता है, इस वर्ग को सजा (Penal) वर्ग कहते हैं।

बाल-न्यायालय की व्यवस्था

बाल-न्यायालयों (Juvenile Court) और सामान्य न्यायालयों में बहुत ही अन्तर होता है। बाल-न्यायालय में बच्चों के ही केस लिए जाते हैं। इसके सभी कर्मचारी सामान्य वेश में रहते हैं। कोर्ट में बच्चे यह अनुभव नहीं करते कि वे किसी ऐसे अजीब स्थान में हैं, जहाँ कि उनके किये गये कार्यों का न्याय होनेवाला है। वहां मजिस्ट्रेट का व्यवहार गार्जियन का होता है। गार्जियन के रूप में रह कर मजिस्ट्रेट बालकों के सही अपराध और उसके कारण को ढूँढ़ निकालता है और जब सही कारण का पता लग जाता है, तब बालकों को सुधारने में भी कोई विशेष दिक्कत नहीं उठानी पड़ती। जुवनाइल कोर्ट में पुलिस भी वर्दी में नहीं रहती। बालक कभी अनुभव ही नहीं करता कि वह पुलिस के कब्जे में है। इस समय हिन्दुस्तान में बम्बई, कलकत्ता आदि स्थानों में बाल-न्यायालय की व्यवस्था है और उनके द्वारा बालकों के लिए सराहनीय कार्य हो रहे हैं।

अन्य बाल-सुधार संस्थाओं की व्यवस्था

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त रेमान्ड-होम, करक्सन स्कूल (Correction School) आदि की व्यवस्था भी अपराधी बालकों को सुधारने में बहुत ही सफल सिद्ध होगी। ऐसे कई स्कूल अभी चल रहे हैं और इनसे काफी लाभ हो रहा है। ऐसे स्कूलों में बालकों के चरित्र को सुधार कर योग्य नागरिक बनाया जाता है। अपराधी बालकों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है और उन्हें इस ढंग की शिक्षा दी जाती है कि वह अपने अपराधाचरण को छोड़कर बहुत शीघ्र अच्छे आचरण को अपना लेता है। ऐसे स्कूलों की वृद्धि होनी चाहिए। यदि हर जिले में इस ढंग के एक-एक स्कूल की व्यवस्था हो जाय, तो अपराधी बालकों को बहुत जल्द सुधार कर बाल-अपराधों को दूर किया जा सकता है।

भारतीय सामाजिक समस्याएँ
तृतीय खण्ड

तृतीय खण्ड

प्रथम अध्याय

पारिवारिक समस्या

परिवार

सामान्य तौर पर स्त्री, पुरुष और उनसे उत्पन्न हुए बच्चों के सम्मिलित समुदाय को परिवार कहते हैं। यह समाज का सबसे छोटा परन्तु महत्वपूर्ण अंग है। इसे दूसरे रूप में हम कह सकते हैं कि परिवार समाज का सबसे प्रारम्भिक और प्रधान समुदाय है। समाज-शास्त्रियों ने इसे सामाजिक-वंशावली में सबसे प्रधान और सबका नियन्त्रक तथा पथ-प्रदर्शक माना है। यह समाज के स्वरूप को बहुत कुछ प्रभावित करता है। इसी में व्यक्ति का प्रथम आगमन होता है और इसी में उसका व्यक्तित्व बनता है। राज और चर्च परिवार का ही विस्तृत रूप है। बच्चा जब परिवार में जन्म लेता है, उसी समय से वह पारिवारिक-जीवन प्रारम्भ कर देता है। उसी समय उसके कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व बन जाते हैं। कुछ वर्षों तक परिवार में रह कर व्यक्ति बोलना, चलना आदि सारा व्यवहार सीखता है तथा तरह-तरह की आदतों को ग्रहण करता है।

परिवार का उद्गम

परिवार सबसे प्राचीन सम्माननीय सामाजिक समूह है। शारीरिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप बचपन में माता के साथ रहना

आवश्यक हो जाता है। जन्म के बाद बहुत दिनों तक शारीरिक आवश्यकताओं के अनुसार माता के साथ रहने के कारण बच्चे का माता के साथ एक ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है कि बाद में भी वह उसके प्रेम को छोड़ नहीं सकता। इस तरह का प्रेम आदिम मनुष्य के प्रारम्भिक-जीवन में भी देखा जाता है। पिता का स्थान आसानी से इस अवस्था तक नहीं पहुँच सकता, यद्यपि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में पिता का भी प्रमुख स्थान होता है। पिता-माता और बच्चे को मिला कर परिवार की इकाई बनती है। जिस परिवार में पिता नहीं रहता, माता को अनेक तरह की कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं और फिर भी बच्चे की सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होने पातीं। माता-पिता दोनों मिल कर आसानी से सन्तान की रक्षा कर लेते हैं। अकेली माता सन्तान को खिलाने-पिलाने तथा उसकी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ नहीं होती।

जब मनुष्य जंगली अवस्था में सामूहिक-जीवन व्यतीत करता था, उस समय भी उसका एक परिवार होता था। उस समय पहले तो फल सञ्चय करना और आगे चलकर मछली और जानवर का शिकार करना मनुष्य का आर्थिक प्रयत्न था और यही उनकी जीविका थी। इस प्रयत्न में स्त्री-पुरुष सामूहिक रूप से हाथ बटाते थे। परिवार का रूप सामूहिक था और माता के हाथ में प्रधान सत्ता थी। माता ही परिवार की प्रधान होती थी। विवाह का रूप सामूहिक था। समाज-शास्त्रियों ने उस समय के विवाह को यूथ-विवाह के नाम से सम्बोधित किया है। वैयक्तिक रूप से कोई पति-पत्नी नहीं होते थे। विवाह का कोई नियम न था। आरम्भ में तो लोग विवाहित ही पैदा होते थे। मनुष्य का अलग-अलग समूह परिवार समझा जाता था। उस सामूहिक परिवार में परिवार के किसी भी पुरुष से स्त्री यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी। इस तरह किसी भी पुरुष से गर्भिणी होकर वह माता

बन सकती थी। परिवार का हरएक पुरुष परिवार के हरएक स्त्री का पति और परिवार की हरएक स्त्री परिवार के हरएक पुरुष की पत्नी समझी जाती थी। ऐसी अवस्था में सन्तान के वास्तविक पिता का निर्णय नहीं हो सकता था। समूह के सभी व्यक्ति सन्तान के पिता माने जाते थे। चूंकि सन्तान की पहचान माता से होती थी अतः माता के नाम से ही वंशावलि चलती थी। परिवार अधिक बड़ा नहीं होता था, क्योंकि वह प्रायः एक जीवित माता के सन्तानों से ही बना होता था। समूह की हरएक माँ परिवार की प्रधान बनने की इच्छा रखती थी। यौन सम्बन्ध परिवार के अन्दर ही होता था। परिवार एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहता था। जीविकोपार्जन के लिये उसे व्रात्य-जीवन व्यतीत करना पड़ता था। जीविकोपार्जन में स्त्री-पुरुष का समान हाथ होता था।

आगे चलकर जब मनुष्य बर्बर-अवस्था में पहुँचा, तो परिवार का सारा स्वरूप ही बदल गया। माता का अधिकार क्रमशः कम होते-होते पितृप्रधान परिवार हो गया। माता के स्थान पर पिता परिवार का प्रधान होने कगा। इसके पहले जनसत्ता के युग में ही स्त्री-पुरुष के बीच श्रम-विभाजन हुआ और फलस्वरूप स्त्रियों का काम घरेलू वातावरण में सीमित कर दिया। आर्थिक प्रयत्नों में स्त्री का हाथ कम होने के कारण धीरे-धीरे सम्पत्ति पर पुरुष का अधिकार हो गया। विवाह-सम्बन्ध में परिवर्तन हुआ और सन्तान का नाम पिता से चलने लगा। जनसत्ता के युग में ही मिथुन-विवाह चल पड़ा था जिससे सन्तान के पिता का पता चलने लगा। अतः वंश-परम्परा माता के नाम से न चलकर पिता के नाम से चलने लगी।

जब सम्पत्ति पर पुरुष का एकाधिकार हो गया और स्त्रियों का उत्पादन में हाथ नहीं रह गया, तब एक-विवाह का नियम चलाकर स्त्री की स्वच्छन्दता का पूर्णतः अपहरण किया गया। उसे एक ही पुरुष को

पति बनाकर रहने के लिए बाध्य किया गया, यद्यपि पुरुष एक साथ कई विवाह कर सकता था। भारत में यह बात विशेष रूप से देखी गई। एक-एक राजा की सैकड़ों पत्नियाँ होती थीं, परन्तु स्त्री के लिए एक-विवाह का ही नियम रहा। पति की मृत्यु के बाद भले ही वह दूसरा विवाह कर ले, किन्तु वह भी आम रूप में नहीं। अधिकांश समाज में विधवा-विवाह की मान्यता नहीं थी।

सभ्यता के युग में भी यही नियम रहा। एक-विवाह समाज में स्त्रियों के लिए आवश्यक माना गया। यूरोपीय देशों में स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक-विवाह को मान्यता दी गई, पर भारत में यह सदा एकांगी ही रहा। स्त्री का दर्जा क्रमशः घटता गया और परिवार में उसका स्थान दासी का रह गया। स्त्री भोग की सामग्री बन गई और आज तक यही अवस्था बनी हुई है। नारी-जाति की उपेक्षा अभी तक हो रही है। परिवार में पुत्र-जन्म के समय खुशियाली मनाई जाती है, पर कन्या-जन्म पर कोई प्रसन्नता प्रकट नहीं करता।

परिवार के इतिहास को देखते हुए हम पाते हैं कि परिवार किसी-न-किसी रूप में मानव-समाज के प्रारम्भिक काल से ही रहा है। विवाह के नियम प्रचलित होने के पूर्व भी समाज में परिवार की सत्ता मौजूद थी। परिवार का स्वरूप सदा बदलता रहा है और आज भी बदल रहा है। आज के परिवार में वैज्ञानिक प्रवृत्ति, जनतान्त्रिक प्रवृत्ति और शिक्षा का समावेश हो गया है। अंग्रेजों के आने के बाद इसमें विशेष परिवर्तन हुआ। उद्योग और यातायात की वृद्धि ने भी परिवार में बहुत कुछ परिवर्तन किया। परिवर्तनशील परिवार में कभी दो व्यक्ति का परिवार रहा है तो कभी सौ व्यक्ति का और कभी उससे भी अधिक का। परिवार में विवाह के नियम भी सदा बदलते रहे हैं। कभी स्त्री का अधिकार रहा है तो कभी पुरुष का। कभी स्त्री प्रेमिका के रूप में रही है तो कभी सम्पत्ति के रूप में।

समाज में परिवार का स्थान

परिवार समाज की इकाई है। यही समाज का सबसे पहला और प्रारम्भिक संगठन है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो सर्वप्रथम उसका सम्बन्ध परिवार से ही होता है। यह एक ऐसा संगठन है जिसे व्यक्ति को बनाने मी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि बना बनाया मिलता है। इस संगठन में व्यक्ति का एक दूसरे से ऐसा निकट और घनिष्ट सम्बन्ध होता है जिसे अलग नहीं किया जा सकता। परिवार में ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है। इसी में उसकी सारी आदतें बनती हैं। इसी में वह बोलना, चलना तथा नाना प्रकार के व्यवहारों को सीखता है और इसी में वह अपने अधिकार और कर्त्तव्य को भी समझता है। यही वह संस्था है जहाँ व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। दुनियादारी का प्रभाव मनुष्य पर यहीं से पड़ने लगता है और यहीं वह अपने उत्तरदायित्व को भी समझने लगता है।

बचपन में जो आदतें बन जाती हैं, वह व्यक्ति के चरित्र से सम्बन्धित हो जाती हैं। व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक जीवन पर परिवार का विशेष प्रभाव पड़ता है। जैसा परिवार होता है वैसा ही व्यक्तित्व बनता है। उसके सारे गुणों का विकास उसी क्रम से होता है। परिवार की एक-एक बात का, एक-एक घटना का उसपर प्रभाव पड़ता है। यदि परिवार में बच्चों का जीवन भली प्रकार नहीं व्यतीत होता है और उचित रीति से उनका पालन-पोषण नहीं होता है तो उसके मस्तिष्क पर बहुत बुरा असर पड़ता है। वह विकृत एवं दुष्ट प्रकृति का हो सकता है। माता-पिता के व्यवहार एवं लालन-पालन की बुराइयों से बच्चों में अनेक प्रकार के दोष आ जाते हैं। माता-पिता के कलहपूर्ण जीवन का बच्चों के ऊपर बड़ा अनिष्टकर प्रभाव पड़ता है। जहाँ उसे प्यार की आशा रहती है, वहाँ वह देखता है कि एक अजीब खींचातानी चल रही है। माता-पिता के विचार और आदर्श को वह

ग्रहण करता है। बचपन की प्रवञ्चना का उसपर बहुत ही गहरा असर पड़ता है।

बचपन के अतिरिक्त उसके भविष्य के जीवन पर भी परिवार का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि परिवार की व्यवस्था समुचित नहीं होगी, तो व्यक्ति में नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी। इस तरह व्यक्ति को अच्छा और खराब बनाने की सारी जिम्मेवारी परिवार की होती है। व्यक्ति में बुरे आचरण के समावेश से समाज में नाना प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं और वे बुराइयाँ एक समस्या के रूप में समाज के सामने खड़ी हो जाती हैं। इस तरह परिवार, व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रय संबंध है। परिवार व्यक्ति को और व्यक्ति समाज को उन्नत बनाता है। समाज को अच्छा या खराब बनाने में परिवार का एक प्रमुख हाथ होता है।

परिवार और व्यक्ति

व्यक्तित्व के विकास के लिये पारिवारिक जीवन अति आवश्यक है। परिवार में ही व्यक्ति का विकास पूर्णरूप से हो सकता है। व्यक्ति परिवार में बच्चे के रूप में, पति-पत्नी के रूप में तथा माता-पिता के रूप में अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। यदि कोई चाहे कि वह परिवार से अलग रहकर अपनी सत्ता बनाये रहे और व्यक्तित्व का विकास करे, तो यह असंभव है। प्रत्येक व्यक्ति एक शिशु के रूप में किसी न किसी परिवार में उत्पन्न होता है और अपने माता-पिता के द्वारा पोषण पाकर बड़ा होता है। यदि परिवार में बच्चों का पालन-पोषण न किया जाय और उसकी उचित देख-रेख न की जाय, तो उसके जीवित रहने की कोई सम्भावना न हो। परिवार में बालक, पति-पत्नी, एवं माता-पिता सबका अलग-अलग स्थान है। सबका अलग-अलग अधिकार और कर्तव्य होता है और सभी समुचित रूप से उनका

पालन करते हैं। अपना कर्त्तव्य पालन करते हुए पारस्परिक व्यवहार के दौरान में वे अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं।

बालक परिवार की शिक्षाओं को पाकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। परिवार ही बच्चों का प्राथमिक एवं सर्वोत्तम विद्यालय है, जहाँ कि उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। युवावस्था प्राप्त होने पर विवाह-संबंध द्वारा पुरुष और स्त्री अपने व्यक्तित्व की पूर्णता को प्राप्त करते हैं और उससे भी आगे बढ़ने पर माता-पिता के रूप में अपने व्यक्तित्व को बढ़ाते हुए अपने बच्चों पर उनका (व्यक्तित्व का) प्रक्षेपन करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि परिवार एक ऐसी संस्था है, जो कि किसी भी व्यक्ति के लिये अति आवश्यक है। परिवार से अलग व्यक्ति का कोई मूल्य ही नहीं होता। अपने को जीवित रखने के लिये व्यक्ति को सर्वप्रथम परिवार की आवश्यकता पड़ती है। बिना परिवार में रहे व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचा ही नहीं सकता। भाषा, विचार, चरित्र, रुचि तथा आदतों का निर्माण परिवार में ही होता है।

परिवार व्यक्ति को अच्छा बनाने का सदा प्रयत्न करता है। इस सिलसिले में वह अपने सदस्यों पर काफी दवाव भी डालता है। यदि वह गलत रास्ते से चलता है, तो परिवार उसे सही रास्ते पर लाने के लिये हर तरहसे प्रयत्न करता है। यदि कोई परिवार के नियमों की उपेक्षा करता है, उसकी रीति-नीति के अनुसार नहीं चलता है, तो उसके लिये परिबार दण्ड की भी व्यवस्था करता है। प्रत्येक परिवार का अपना एक स्तर होता है। उसीके अनुसार वह अपने सदस्यों को चलने की शिक्षा देता है। परिवार में रहकर प्रत्येक स्त्री-पुरुष हर वस्तु का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। स्कूली-शिक्षा पुस्तकी होती है, पर पारिवारिक शिक्षा पूर्णरूप से व्यावहारिक होती है। बचपन से ही प्रत्येक स्त्री-पुरुष परिवार में होनेवाले सभी कार्यों को देखता रहता है और उसके अनुकूल जो कार्य होता है उसमें भाग लेता है। इस तरह

स्त्री अपने स्त्री-संबंधी तथा घरेलू कार्यों को और पुरुष अपने पुरुष-संबंधी तथा बाह्य कार्यों को अच्छी तरह सीख लेता है। सबको पहले से ही यह ज्ञात रहता है कि एक दिन उसे भी वैसा करना पड़ेगा। परिवार में व्यक्ति के व्यक्तित्व का जितना विकास होता है, उतना और किसी भी संस्था में नहीं होता।

भारतीय परिवार

भारतीय परिवार की विशेषता यह है कि यहाँ सम्मिलित परिवार की सदा से प्रधानता रही है। सम्मिलित परिवार में चार पीढ़ी तक के लोग रहते हैं और कभी-कभी इसमें १०० से भी अधिक व्यक्ति देखे जाते हैं। इसमें कृषि आर्थिक व्यवस्था है। वैयक्तिक स्वतंत्रता का इसमें विचार नहीं किया जाता। परिवार एक छोटा-सा रिपब्लिक होता है। परिवार का सबसे बड़ा (उम्र में) व्यक्ति परिवार का प्रधान अथवा गृहपति होता है। परिवार के अन्य सभी लोग उसकी इज्जत करते हैं और उसीके आदेशानुसार सभी कार्य करते हैं। कोई भी सदस्य उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। वह जो कुछ कहता है, परिवार के सभी व्यक्ति को मान्य होता है। बिना उससे पूछे परिवार का कोई भी व्यक्ति कुछ नहीं करता। जो कुछ करना होता है, वह गृहपति से पूछकर ही करता है। गृहपति के सामने कोई भी सदस्य चारपाई पर बैठनेका साहस नहीं करता और न कोई बीड़ी, सिगरेट या तम्बाकू ही उसके सामने पीता है। प्रधान के सामने कोई खुलकर मजाक नहीं कर सकता। इस तरह परिवार का प्रधान एक प्रकार से परिवार का राजा ही होता है।

परिवार में प्रधान की स्त्री का भी शासन कम नहीं होता। परिवार की सभी स्त्रियों पर उसका प्रधान से भी कड़ा नियंत्रण होता है। उसके आगे किसी की कुछ नहीं चलती। परिवार के बच्चों पर भी उसका

पूरा नियंत्रण होता है। उसकी उपेक्षा प्रधान के अतिरिक्त और कोई भी सदस्य नहीं कर सकता।

सम्मिलित परिवार के गुण

सम्मिलित परिवार के होने से परिवार के सभी सदस्यों का सम्पत्ति में हिस्सा रहता है। सभी सहयोग के साथ आर्थिक उत्पादन में हाथ बटाते हैं। कृषि प्रधान देश के लिये सम्मिलित परिवार सबसे अधिक उपयोगी है। कृषि में बहुत से लोगों के एक साथ मिलकर काम करने की आवश्यकता होती है, जो कि सम्मिलित परिवार में ही संभव है। सम्मिलित परिवार में सभी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करते हैं और आवश्यकतानुसार आय को देखते हुए व्यय करते हैं। यहाँ के परिवार की सबसे बड़ी विशेषता है कि परिवार में भिन्न-भिन्न अवस्था, भिन्न-भिन्न लिंग (sex) तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों के लोग रहते हैं, जिनका आपस में घनिष्ट संबंध रहता है, इससे व्यक्ति को सभी तरह का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता रहता है। सबका आपस में घनिष्ट संबंध होने के फलस्वरूप सामाजिक संबंधों की दृढ़ता बनी रहती है। परिवार में सभी तरह के लोगों का निर्वाह होता है। यदि कोई नहीं भी काम कर सकता है, तो उसे भी आवश्यकतानुसार व्यय करने का अधिकार रहता है और वृद्ध, असमर्थ, विधवा, बीमार और अनाथ सब का पोषण होता है। स्वार्थ और व्यक्तिवाद को इसमें कोई स्थान नहीं रहता। सभी सामूहिक जीवन व्यतीत करते हैं और सामूहिक हित का सदा ख्याल रखते हैं। इस तरह इसमें सबकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। सम्मिलित परिवार के होने से यहाँ अनावश्यक कोई फिजूल-खर्चा नहीं होती और रहन-सहन का स्तर सस्ता करके लोग खर्च को कम करते हैं। मितव्ययिता के साथ परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताएँ पूरी करने की चेष्टा की जाती है।

सम्मिलित परिवार के दोष

यह तो सिद्ध हो चुका कि सम्मिलित परिवार के होने से भारत को बहुत अधिक लाभ हुआ, परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि इसमें बुराई नहीं है। जब तक लोग प्रेम और श्रद्धा के साथ निःस्वार्थ भाव से कार्य करते हैं और दूसरों को भी विचार करने का अवसर देते हैं, तब तक तो यह बहुत ही अच्छी तरह चलता है, परन्तु इसमें शिथिलता होते ही अनेक प्रकार के दोष दिखाई पड़ने लगते हैं। चूंकि इसमें कोई सदस्य अधिक कमाता है और कोई कम, पर सभी को बराबर भाग मिलता है। अतः अधिक कमाने वाला व्यक्ति कम कमाने वालों से असन्तुष्ट रहता है और वह भी देखादेखी कम कमाने का इच्छुक हो जाता है। परिवार में गुनगुनाहट बढ़ने लगती है। आलस को प्रोत्साहन मिलता है। लोगों में आत्म-विश्वास की कमी होती है। सब का भरण-पोषण निश्चित रहने के कारण लोग आत्मनिर्भरता की ओर बहुत कम बढ़ते हैं।

सम्मिलित परिवार का एक बहुत बड़ा दोष है कि सम्मिलित सम्पत्ति की सभी उपेक्षा करते हैं। उसे कोई भी व्यक्ति निजी सम्पत्ति नहीं समझता। अतः पूरी देखरेख न कर उपेक्षा की दृष्टि से कर्त्तव्य अदा करता है। व्यक्तिगत कमाई का बटवारा हो जाने के कारण अधिक कमाने वाला व्यक्ति भी बड़ी पूँजी एकत्र नहीं कर पाता।

सम्मिलित परिवार में युवकों को ऊंची शिक्षा नहीं मिल पाती और अधिकांश होनहार युवक अपने भविष्य को नहीं बना पाते। युवकों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता भी नहीं रहती। यहाँ तक कि काम (Sex) सम्बन्धी सुविधाएं भी उन्हें नहीं प्राप्त होतीं। युवक और युवती स्वेच्छापूर्वक अपनी वासनाओं की तृप्ति नहीं कर पाते। इस तरह युवकों को काफी मानसिक आघात होता है।

सम्मिलित परिवार में स्त्रियों का स्थान

सम्मिलित परिवार में स्त्रियों की दशा तो और भी दर्दनाक होती है। परिवार की सभी स्त्रियों के बीच सात्विक प्रेम परस्पर बहुत कम पाया जाता है। एक स्त्री का दूसरी स्त्री से कुछ-न-कुछ वैमनस्य अवश्य देखा जाता है। घर की मालकिन का परिवार की अन्य स्त्रियों के ऊपर निरंकुश शासन होता है। यदि कोई उसकी इच्छा के विरुद्ध जरा भी इधर-उधर करती है, तो वह उस पर तरह-तरह की लांछनाएं लगा कर उसे बहिष्कृत करने का प्रयत्न करती है। यदि कोई युवती अपनी सुन्दरता के कारण परिवार में प्रशंसा प्राप्त करती है और मालकिन बूढ़ी हो जाने के कारण उस प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त कर पाती है तो वह उस पर डायन, चुड़ैल आदि तरह-तरह की लांछनाएँ लादने की चेष्टा करती है। यदि किसी मालकिन का युवा पुत्र अपनी स्त्री के कथनानुसार चलता है और अपनी माँ की किसी बात की उपेक्षा करता है, तो वह इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती कि वह स्वयं गलत रास्ते पर है और इसीलिए उसका पुत्र उसकी उपेक्षा कर रहा है। उसे किंचित् मात्र भी ऐसा विश्वास नहीं होता कि उसका पुत्र उसकी उपेक्षा कर सकता है। वह तो यही समझती है कि उसका पुत्र तो दूध से धोया है और सदा का आज्ञानुवर्ती रहा है। पर चूंकि उसके घर में चुड़ैल (पुत्रवधू) आ गई, इसलिए उसकी यह दशा है। उस चुड़ैल ने ही उसके पुत्र की बुद्धि को बिगाड़ दिया है। परिणाम यह होता है कि उस नई-नवेली बधू को उपेक्षित होना पड़ता है और उस पर तरह-तरह के अपराध लगाये जाते हैं। उसे डायन और चुड़ैल सिद्ध करने की हरतरह से चेष्टा की जाती है। यदि दुर्भाग्यवश उस नव विवाहिता का पति विवाह होने के कुछ वर्ष के अन्दर ही बीमार होकर या अन्य किसी कारण से मर जाता है, तो उसके लिए उस घर में पांव रखना भी दुष्कर हो जाता है। पति के

मरने का सारा दोष उसी बेचारी के सिर मढ़ा जाता है। उसे पति-घातिनी कह कर घर से निकल जाने के लिए तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती हैं। इतना ही नहीं, नव-बधुओं के आने पर यदि परिवार में किसी भी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तो उसके लिए वही दोषी ठहराई जाती है।

सम्मिलित परिवार में स्त्रियों का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। यों कहने के लिए तो वह गृह-स्वामिनी होती है पर वास्तव में घर की किसी भी वस्तु पर उसका अधिकार नहीं होता। उसे जो कुछ भी अधिकार होता है, वह पति के अधिकार पर। पति के जिन्दा रहने पर वह सब वस्तुओं की मालकिन कहला सकती है, पर पति की मृत्यु के बाद उसका स्वयं संचित किया धन भी उसे छोड़ना पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि सम्मिलित परिवार में स्त्रियों को वैयक्तिक रूप से कोई अधिकार नहीं है।

गृह-कलह

परिवार विघटन में सहायक एक प्रधान सामाजिक तत्व गृह-कलह है। यह आज की एक प्रधान समस्या है। आज का पारिवारिक-जीवन बड़ा ही कलहपूर्ण हो गया है। भाई-भाई, पिता-पुत्र तथा पति-पत्नी के बीच भी प्रेमपूर्ण सम्बन्ध नहीं रह गया है। आज भाई अपने भाई को नहीं देखना चाहता। वह सदा इसी ताक में रहता है कि किस तरह अपने अन्य भाई की सम्पत्ति को हड़प जाय। इतना ही नहीं, वह उसके खून का भी प्यासा हो जाता है। पिता अपने पुत्रों में से किसी को तो बहुत अधिक प्यार करता है और उसके चलते अपने ही अन्य पुत्र को मटियामेट कर देना चाहता है। इसके लिए वह सदा अवसर की ताक में रहता है। पति-पत्नी के बीच भी सदा लड़ाई-झगड़े तथा मार-पीट का ही शोर-गुल रहता है। लोगों में परस्पर अविश्वास और

वैमनस्य बढ़ता जा रहा है और इसके चलते समाज में अनेकानेक बुराइयाँ फैलती जा रही हैं। फलस्वरूप परिवार का विघटन होता जा रहा है।

कलह के कारण

गृह-कलह के बहुत से कारण हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(१) गृहपति की निरंकुशता तथा स्वार्थ भावना :— सम्मिलित परिवार में मालिक तथा मालकिन का व्यवहार सदा निरंकुश होता है। वह परिवार के अन्य सदस्यों से किसी भी बात में सलाह लेना अपना अपमान समझता है। इसके अतिरिक्त उसमें स्वार्थ की भावना भी प्रबल रहती है। अपने पक्ष के सदस्यों को अधिक प्यार करता है और खाने, पीने तथा पहनने की चीजों का समान रूप से वितरण नहीं करता। मालकिन की स्वेच्छाचारिता तो यहाँ तक बढ़ जाती है कि वह परिवार की अन्य स्त्रियों को कभी भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखती। स्वार्थ की भावना मालकिन में कूट-कूट कर भरी होती है। वह सदा अन्य स्त्रियों को झिड़कने तथा दुत्कारने में रहती है।

(२) शिक्षा का अभाव :—शिक्षा के अभाव में लोगों में समझ की कमी पाई जाती है। औरतों में यह बात और भी अधिक पाई जाती है, क्योंकि औरतों में शिक्षा नहीं के बराबर है। लोग कहते हैं कि औरतें ही लड़ाई-झगड़े किया करती हैं और वही गृह-कलह तथा घर फूटने का कारण होती है। इसका एकमात्र कारण यही है कि शिक्षा के अभाव में उनमें बुद्धि की कमी तथा नासमझी की अधिकता है। समझदार आदमी को समझा देने से वह समझ जाता है। पर नासमझ और मूर्ख को समझाना पत्थर पर अनाज बोना है।

(३) **वैवाहिक सम्बन्धों का दोष :**—विवाह-सम्बन्ध युवक और युवती की इच्छानुसार न होकर उनके अभिभावकों की इच्छानुसार होना भी गृह-कलह का एक प्रमुख कारण है। माता-पिता अपनी संतान का विवाह करते समय जरा भी इस बात का ख्याल नहीं करते कि सन्तान से भी विवाह के सम्बन्ध में राय ले ली जाय। परिणाम यह होता है कि वर बधू के अनिच्छित जोड़े बन जाते हैं और दम्पत्ति में असमानता, द्वेष तथा कलह की भावना जागृत हो उठती है। माता-पिता की पसंदगी में शायद ही कभी समुचित जोड़ा बन पाता है। कभी किसी विद्वान् लड़के को अपढ़, निरी मूर्ख पत्नी और कभी पढ़ी-लिखी योग्य लड़की को अपढ़ और निरा मूर्ख पति मिल जाता है। कभी एक अबोध बच्चे का विवाह एक पूर्ण युवती के साथ और कभी किसी किशोरी का विवाह किसी बूढ़े से कर दिया जाता है। रुपये के लोभ में माता-पिता अपने स्वार्थ के आगे अपनी सन्तान की भलाई पर किंचित्-मात्र भी ध्यान नहीं देते और वैवाहिक क्षेत्र में घोर अनर्थ करते हैं। परिणाम होता है कि पति-पत्नी में दाम्पत्य-प्रेम और दाम्पत्य-भावना का सर्वथा अभाव होता है। दोनों के स्वभाव में कभी मेल नहीं खाता और हमेशा किसी-न-किसी प्रकार की कलह बनी रहती है।

(४) **आर्थिक असुरक्षा :** – आधुनिक परिवार में आर्थिक सुरक्षा नहीं रह गई है। निम्न मध्यवर्ग की स्त्रियों को पुरुषों पर निर्भर करना पड़ता है। इससे ऊपर या नीचे की स्त्रियों में आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना है। सामाजिक नियन्त्रण मध्यमवर्ग में बहुत काम कर रहा है। शिक्षा में तो वे उन्नत हैं पर सामाजिक व्यवहार में अभी प्रगतिशील नहीं हो पाये हैं। उनके ऊपर काफी तनाव पड़ रहा है। वे दो विपरीत शक्तियों के बीच पड़ गये हैं। धनीवर्ग में शिक्षा कम है, परन्तु सामाजिक नियन्त्रण गरीबवर्ग से अधिक है। निम्नवर्ग पर आधुनिक अवस्था

का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। आधुनिक परिवार में घरेलू काम बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। सारे घरेलू कार्य बाहर होते जा रहे हैं। बेकार बैठे-बैठे स्त्रियों के दिमाग में कुछ-न-कुछ खुराफात आ ही जाता है। 'खाली मन शैतान का अड्डा' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जब कोई काम नहीं रहता है तो खाली मन झगड़े की ओर बढ़ता है।

(५) मनोरञ्जन के साधनों की कमी :—आज मनोरञ्जन का प्रधान केन्द्र सिनेमा बन गया है। सिनेमा के खेलों में कथानकों की रचना में व्यावसायिक लाभ पर ध्यान रखा जाता है। उसका जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इस तरह बहुत कुछ गलत प्रचार होता है और उसका परिणाम बुरा होता है।

मनोरञ्जन के साधन काफी खर्चीले होने के कारण लोग अधिकाधिक संख्या में लाभ नहीं उठा पाते। वे अन्य तरीकों से अपने को संतुष्ट करते हैं। इस तरह शराब और व्यभिचार को प्रश्रय मिलता है, जिसका परिवार पर बुरा प्रभाव पड़ता है और पारिवारिक कलह में वृद्धि होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो मनोरञ्जन के साधनों का पूर्णतया अभाव ही है। अवकाश के अतिरिक्त समय को लोग प्रायः लड़ाई-झगड़ में ही व्यतीत करते हैं।

गृह-कलह दूर करने के उपाय

गृह-कलह को दूर करने के लिये हमें उन सभी कारणों को दूर करना होगा, जिनके फलस्वरूप परिवार में दिन-प्रति-दिन कलह की वृद्धि होती जा रही है। किसी भी परिवार में यदि कोई बुराई आती है, तो उसकी जिम्मेवारी उसके प्रधान के ऊपर आती है। अतएव परिवार के प्रधान को सदा इस बात से सतर्क रहने की आवश्यकता है कि गृह-कलह को प्रोत्साहन न मिले। उसे स्वार्थ भावना को त्याग कर सबके प्रति

समानता की नीति अपनानी पड़ेगी। वितरण में जहाँ असमानता होती है, तो कलह का होना स्वाभाविक है। अतएव खाने-पीने तथा पहनने की चीजों का समान वितरण होना चाहिये। मालिक और मालकिन कभी भी स्वेच्छाचारिता की नीति को न अपनावें। उन्हें परिवार के अन्य सभी सदस्यों से भी राय लेनी चाहिये। कोई नया काम आरम्भ करनेके पहले यदि परिवार के सभी लोगों की राय ले ली जाय, तो वह परिवार को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये सबसे अच्छा कदम होगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, गृह-कलह की वृद्धि में स्त्रियों का विशेष हाथ होता है और उसकी पूरी जिम्मेवारी घर की मालकिन पर आती है, क्योंकि वह सदा निरकुंशता का व्यवहार करते हुए परिवार की अन्य स्त्रियों को झिड़कती रहती है। अतएव कलह को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि घरकी मालकिन को भी अपने स्वभाव को ऐसा संयत रखना चाहिए कि कोई अपने ऊपर अंकुश का अनुभव न करे।

गृह-कलह का दूसरा कारण शिक्षाका अभाव बताया गया है। इस अभाव को भी दूर करना आवश्यक है। क्योंकि जब तक अशिक्षा का साम्राज्य रहेगा, तब तक अज्ञानता और नासमझी बनी रहेगी। अज्ञानता और नासमझी को दूर कर देने पर छोटी-छोटी बातों के लिये जो झगड़े हुआ करते हैं, वे न होंगे। किन्तु शिक्षा के प्रचार में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि आधुनिक दोषपूर्ण शिक्षा-पद्धति को छोड़कर बुनियादी और कार्य-संबंधी शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाय। आधुनिक मैकाले पद्धति की शिक्षा गृह-कलह को और भी बढ़ानेवाली है। स्त्रियाँ इस शिक्षा को पाकर घर फोड़ने का ही विशेष काम करती हैं। यों तो शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ परिवार-विघटन में भी वृद्धि होगी, परन्तु वह विघटन दूसरे ही रूप में होगा, जिसमें गृह-कलह का हाथ बहुत कम होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा यद्यपि

परिवार विघटन में सहायक है, परन्तु गृह-कलह को कम करने के लिये एक साधन है।

गृह-कलह का तीसरा कारण वैवाहिक-संबंधों का दोष बताया गया है। अतएव विवाह-संबंध स्थिर करते समय इस बात पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये कि वर और वधू का समुचित जोड़ा हो तथा दोनों की पसंदगी से विवाह हो। अनमेल और बाल-विवाह बिलकुल न किये जाँय। माता-पिता अपनी इच्छा से तथा धन की लालसा से अपनी संतानों का विवाह न करें, वरन् संतान के बालिग होने पर उनकी इच्छा को रखते हुए उनका विवाह करें, जिससे कि वे सुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत करें।

जहाँ बेकार बैठे रहने के फलस्वरूप झगड़े बढ़ते हैं, वहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिये। परिवार के सभी सदस्य किसी न किसी काम में लगाये जा सकें। घर में सिलाई, कसीदा, बेल-बूटे आदि के कार्य ऐसे हैं, जो कि वैसे समाज में भी चल सकते हैं, जहां की स्त्रियाँ काम नहीं करतीं। जैसा कि कहा गया है उच्च-मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ काम करना अपना अपमान समझती हैं। उनके लिये ये सब कार्य अपमानजनक नहीं होंगे। मध्यम वर्ग में तो चर्खे का प्रचार किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त मनोरंजन के साधन की भी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे कि खाली समय को वे किसी काम या मनोरंजन में व्यतीत कर डालें और उन्हें झगड़े करने का अवसर न मिले।

यदि उपर्युक्त सभी उपायों को कार्य में लाया जायगा, तो पारिवारिक-कलह को दूर करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी और पारिवारिक-कलह के फलस्वरूप जिस हद तक पारिवारिक विघटन हो रहा है। वहाँ तक तो पारिवारिक विघटन भी रुकेगा। अन्य कारण से होनेवाले विघटन तो रुकने वाले हैं नहीं जो रुकेंगे। फिर भी यदि

गृह-कलह को दूर कर परस्पर प्रेम-पूर्ण व्यवहार होने लगे, तो इससे समाज का कोई कम उपकार न होगा।

परिवार विघटन

भारत सम्मिलित परिवार का देश कहा जाता है। चिरकाल से ही यहाँ सम्मिलित परिवार की प्रथा चली आ रही है। एक-एक परिव.र में यहाँ सौ-सौ व्यक्ति तक रह चुके हैं और आज भी ५०-६० व्यक्ति तक देखे जाते हैं। किन्तु अब इसकी स्थिरता नहीं रह गई है। चिरकाल से चला आता हुआ सम्मिलित परिवार आज विघटित होता जा रहा है। जो परिवार बहुत बड़ा था, वही टूटकर आज छोटा होता जा रहा है। आज समाज का आर्थिक ढांचा ही बदल चुका है। सम्मिलित परिवार आज समाज की आवश्यकता को पूरा करने में असफल हो रहा है। उत्पादन के साधनों में काफी परिवर्तन हो गया है। विज्ञान की उन्नति, कल-कारखानों के विकास तथा औद्योगिक शहरों के विकास ने सम्मिलित परिवार की जड़ को ही हिला दिया है। पहले लोगों की आवश्यकताएँ गाँव में ही पूरी हो जाती थीं। गृह-उद्योग की प्रधानता थी। कोई भी आदमी बेकार न रहता था। सम्मिलित रूप से गृह-उद्योग में श्रम लगाकर अपनी आजीविका चला लेते थे। परन्तु आज न तो गाँव में कोई आकर्षण रह गया है और न गाँव में रहकर सभी अपनी जीविका ही चला सकते हैं। मशीनों ने गृह-उद्योग को चौपट कर डाला और लोगों की जीविका ही छीन ली। शहरों के विकास ने लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया। आज दिन-प्रतिदिन लोग शहर की ओर ही बढ़ते जा रहे हैं, क्योंकि कारखाने शहरों में ही हैं। लोगों को काम शहर में ही मिल सकते हैं। भूमि पर आज इतना अधिक भार आ पड़ा है कि कृषकों को पर्याप्त भूमि नहीं रह गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सारी सुविधाएं भी शहरों में ही प्राप्य हैं। यथा—व्यापारी वर्ग शहरों में ही रहते हैं, कर्मचारी शहरों में

ही रहते हैं, महाजन शहरों में रहते हैं, जीवनोपयोगी सारी वस्तुएँ शहरों में ही मिलती हैं, मनोरंजन के सारे साधन शहरों में ही हैं, चिकित्सा तथा दवाइयों की सुविधा शहर में ही है, आधुनिकता का प्रचार शहरों में है तथा प्रचार के सभी साधन शहरों में ही हैं। इस प्रकार सारी सुविधाएँ देख लोग गाँव छोड़कर शहरों में भागे जा रहे हैं। गाँव छोड़कर शहरों में जाने का प्रभाव सम्मिलित परिवार पर विशेष रूप से पड़ रहा है। फलस्वरूप परिवार विघटित होता जा रहा है। इस विघटन को रोका नहीं जा सकता। सम्मिलित परिवार टूट कर ही रहेगा और इसका स्थान एकात्मक (Unitary) परिवार ग्रहण करेगा।

नई समस्या

समाज विकास की गति के अनुसार थोड़े दिनों के बाद ही सम्मिलित परिवार लुप्त हो जायगा और अन्य देशों की भांति भारत में भी एकात्मक परिवार ही नजर आवेगा। इस तरह जहाँ पिता, दादा, परदादा, भाई, चचेरे भाई, चाचा तथा दूर के सम्बन्धी भी एक साथ रहते हुए दिखाई देते हैं, वहां सिर्फ पति-पत्नी और उसके छोटे बच्चे ही एक साथ रहते दिखाई पड़ेंगे। आज लोगों का विश्वास है कि सम्मिलित परिवार की अपेक्षा एकात्मक परिवार में अधिक सुखी रहेंगे। सम्मिलित परिवार में तरह-तरह की विकृतियाँ आ गई हैं और उन विकृतियों से बचने के लिये लोग एकात्मक (Unitary) परिवार बनाते जा रहे हैं। पुराने विचार और पुराने रीति-रस्म सब पीछे छूटते जा रहे हैं। अब प्रश्न होता है कि क्या एकात्मक परिवार में लोग आज से अधिक सुखी रह सकेंगे? क्या एकात्मक परिवार में कोई समस्या नहीं रहेगी? पाश्चात्य देशों की दशा को देखते हुए हमारा तो अनुमान है कि एकात्मक परिवार में भी लोग सुखी नहीं रह सकेंगे। तब एक नई प्रकार की समस्या

परिवार में पैदा होगी, जो कि पाश्चात्य देशों में आ चुकी है। पाश्चात्य देशों के लोग एकात्मक परिवार में भी सुखी नहीं हैं। भारत में ही सम्मिलित परिवार से अलग होकर सुख की कामना रखते हुए जो एकात्मक परिवार में जा रहे हैं, उनके सामने तरह-तरह की कठिनाइयां हैं और वे अनुभव कर रहे हैं कि एकात्मक परिवार से कुछ मानी में तो सम्मिलित परिवार कहीं अच्छा है। अभी जब पाश्चात्य देशों की समस्या यहाँ आई नहीं है, तभी ऐसा अनुभव हो रहा है और जब पाश्चात्य देशों की समस्याएँ यहाँ आ जाँयगी, तब क्या होगा ? जिस तरह सम्मिलित परिवार का टूटना और एकात्मक परिवार का होना यहां अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार पाश्चात्य देशों की समस्याओं का आना भी अवश्यम्भावी है। अतएव आज आवश्यकता इस बात की है कि लोग पहले से ही उन समस्याओं का सामना करने के लिए तैयार रहें। उस समय जो समस्या आयगी, उसका किस प्रकार निराकरण किया जा सकेगा इसके लिए अभी से विद्वानों, समाज-सेवकों तथा सरकार को सोचना चाहिए और इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि पाश्चात्य देशों की बुराइयां हमारे देश में न आने पावें, अन्यथा हमारा देश भी पारिवारिक आनन्द से वंचित हो जायगा। अमेरिका की तरह यहाँ के लोग भी चाहेंगे कि वे विवाह-बंधन को अस्थायी रूप से ही स्वीकर करें।

एक और खतरा

पहले कहा जा चुका है कि उत्पादन के साधन बदल चुके हैं। पहले जो उत्पादन की प्रणाली थी, वह अब नहीं रह गई है। इसके साथ ही सारी परम्परा टूट रही है और पुराने सामाजिक मूल्य भी बदलते जा रहे हैं। आज समाज के आर्थिक ढांचे में इस तरह का परिवर्तन हो रहा है कि व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं कर पा रहा है। सामाजिक स्तर के अनुसार व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पा

रहा है। आर्थिक कठिनाइयों के फलस्वरूप अविवाहितों की संख्या में वृद्धि हो रही है। बहुत से लोग एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। विवाह करके पारिवारिक बोझ को उठाने के लिए वे तैयार नहीं हैं। पारिवारिक जिम्मेवारी से भागने की प्रवृत्ति आज प्रबल हो रही है। पाश्चात्य देशों में यह प्रवृत्ति काफी बढ़ चुकी है। लंदन में तो इस समय अविवाहितों तथा तलाक देनेवालों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। वहाँ की सामाजिक बनावट में बहुत अधिक परिवर्तन हो रहा है। बीस वर्ष के अन्दर वहाँ इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि जिस बात की कल्पना आज से बीस वर्ष पूर्व तक न की जाती थी, वही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। १९५१ की जनगणना के अनुसार वहाँ १४४८०००० घरों में से १२५००००० ऐसे घर हैं, जिनमें सिर्फ एक-एक व्यक्ति रहते हैं। इसके अतिरिक्त ३५५०००० परिवार ऐसे हैं जिनमें कोई बच्चा नहीं है। वहाँ गृहसेवकों की संख्या भी काफी घट चुकी है। २० वर्ष पूर्व जहां ७०७००० गृहसेवक थे, वहां अब सिर्फ १७८००० अर्थात् औसत प्रति ४ परिवार पीछे एक रह गये हैं।

इस तरह की बातें भारत में भी दिखाई पड़ने लगी हैं। अधिकतर पढ़े-लिखे लोगों में ऐसी बातें दिखाई पड़ती हैं। शहरों में ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है, जो एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। ये चौका-बर्तन के लिये प्रायः एक दाई कुछ रुपये पर ठीक कर लेते हैं, जो कि प्रायः ५-७ ऐसे ही घरों में काम करती है। ऐसी दाइयों का नैतिक जीवन प्रायः गिरा हुआ होता है और उसका अनुचित लाभ ऐसे घर-वाले उठाते हैं। यद्यपि यह आज एक छोटी-सी बात प्रतीत होती है, परन्तु यही समाज के लिए एक खतरा है जो कि एक दिन समस्या के रूप में सामने आनेवाला है। इस खतरे को आसानी से टाल देना संभव नहीं है। आज की परिवर्तित परिस्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह खतरा टाला नहीं जा सकता। समाज का

आर्थिक ढांचा बदल रहा है और उसका प्रभाव सामाजिक ढांचे पर पड़े बिना न रहेगा। परिणामस्वरूप आज का सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जायगा। वैसी स्थिति में समाज का नैतिक मूल्य भी बदल जायगा और संभव है आज जिस व्यभिचार को खराब कहकर पुकारा जाता है, उसे समाज मान्यता दे दे। अतएव इसके लिए अभी से सतर्कता की आवश्यकता है। यदि हम अभी से पारिवारिक समस्याओं से सतर्क न होंगे तो पाश्चात्य देशों की सारी बुराइयाँ हमारे यहाँ भी फैलेंगी और उनका भीषण परिणाम हमें भुगतना पड़ेगा। अमेरिका की भाँति यहाँ के लोग भी इस बात की चेष्टा करेंगे कि यहां के सुन्दर और संयत पारिवारिक जीवन को ठुकरा कर स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करें। घर-गृहस्थी के झंझट से लोग दूर भागने की चेष्टा करेंगे और साथी-विवाह (Companionate) को पसन्द करेंगे। स्त्री-पुरुष स्वच्छन्द होकर बिना विवाह के जोड़े में रहते हुए भोगविलास में रत रहना चाहेंगे और घर की अपेक्षा होटल उनका निवास होगा। कृत्रिम साधनों के प्रयोग के फलस्वरूप संतति का उन्हें कोई खतरा ही नहीं रहेगा। संतान-पालन का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इस तरह दम्पति का मन जब तक मिला रहेगा, तब तक वे साथ रहेंगे और जिस दिन दोनों में मत-भेद पड़ेगा बिना किसी परेशानी के वे अपना-अपना रास्ता अलग कर लेंगे, क्योंकि उन्हें बांधने के लिए कोई कानूनी अथवा सामाजिक प्रतिबंध नहीं रह जायगा। ऐसा करते हुए ऊपर से तो लोगों को स्वर्गीय आनन्द-सा प्रतीत होगा, परन्तु वास्तव में पारिवारिक सुख का नामो-निशान नहीं रह जायगा। कलह और वैमनस्य का सर्वत्र बोलबाला रहेगा। सच्चा सुख और शास्वत प्रेम समाज से बिदा हो जायगा। व्यभिचार, अनैतिकता और कामुक-प्रेम सर्वत्र दिखाई पड़ेगा। समाज का स्वरूप ही विकृत हो जायगा।

अब प्रश्न होता है कि क्या इस संभावित खतरे को रोका जा सकता

है ? यदि रोका जा सकता है तो कैसे ? प्रश्न बहुत गंभीर है और इस पर गंभीरता के साथ बहुत दूर तक सोचना पड़ेगा। यों देखने में यह एक तुच्छ बात प्रतीत होती है, परन्तु समाज-शास्त्रियों को इसे तुच्छ कह कर छोड़ न देना चाहिए। इस संभावित समस्या को सुलझाने के लिए समाज-शास्त्रियों को अभी से सोचना चाहिए। आशा है आज के बड़े-बड़े विद्वान इस पर अपना सुझाव पेश करेंगे।

परिवार-विघटन को रोकने में हम तभी सफल हो सकते हैं जब कि आधुनिक उत्पादन प्रणाली को बदल कर उत्पादन का विकेन्द्रीकरण कर डालें तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन न कर आवश्यकतानुसार गावों में गृह-उद्योग की व्यवस्था करें। ऐसी अवस्था में मशीनों से काम लेना हमें बन्द कर देना होगा। बड़े-बड़े कल-कारखानों को बन्द कर देना होगा, क्योंकि जबतक बड़े-बड़े कल-कारखाने चालू रहेंगे, गृह-उद्योग टिक नहीं सकता। जब तक लोगों को गाँव में ही काम नहीं मिल जाता, उनकी आवश्यकताएं गांव में ही पूरी नहीं हो जातीं, तबतक लोगों का शहरों की ओर बढ़ना जारी रहेगा और ऐसी अवस्था में परिवार विघटन रुक नहीं सकता। यदि गांवों में गृह-उद्योगधंधों को इतना अधिक बढ़ा दिया जाय कि गांव के लोगों को काम की खोज में जीवन-यापन के लिए बाहर न जाना पड़े तो भले ही सम्मिलित परिवार में रह कर लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगे और तब सम्मिलित परिवार बना रह सकेगा। परन्तु आज की मशीनों के आगे ग्रामोद्योग के पनपने की आशा नहीं के बराबर है। अतएव सम्मिलित परिवार की रक्षा हो सकेगी, इसमें सन्देह है।

महात्मा गांधी की समाज-व्यवस्था में गांवों को जो स्थान दिया गया है, उससे प्रत्येक व्यक्ति को काम तथा जीवनोपयोगी वस्तुएँ गांवों में ही उपलब्ध हो जाती हैं। यदि वैसी व्यवस्था करने में सफलता मिल जाय तो सम्मिलित परिवार को टूटने से रोका जा सकता है। लेकिन

विज्ञान के इस उन्नत युग में वैसी व्यवस्था का होना भी मुश्किल है। विज्ञान से समाज को प्रकाश मिला है और आज विज्ञान ही सामाजिक-व्यवस्था को भंग कर रहा है। दोष इसमें विज्ञान का नहीं, वरन् उसके प्रयोग करनेवालों का है। पूञ्जीवादी व्यवस्था में इस दोष के मिटने की आशा नहीं की जा सकती।

द्वितीय अध्याय

नारी-समस्या

सभ्यता के उत्थान के साथ-साथ मानव-समाज में समस्यओं की वृद्धि होती जा रही है। सभ्य-समाज के उत्थान के फलस्वरूप ही आज हमें विभिन्न नारी-समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं। यह समस्या भारत में ही नहीं बल्कि विश्व में खलबली मचा रही है। विश्व के सामाजिक-जीवन में नर-नारी के बीच घोर विषमता छाई हुई है। कहीं भी नर-नारी का जीवन पूर्ण रूप से सुखी नहीं है। समाज का सारा जीवन ही द्वेषपूर्ण एवं कलहमय दृष्टिगोचर होता है। ऐसे दम्पतियों की संख्या बहुत कम है, जो प्रेमपूर्ण तथा आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं। नारी की अवस्था ऐसी दयनीय हो गई है कि उसका काम केवल सन्तान पैदा करना रह गया है। यदि वह संतान पैदा करने में असफल रहती है और विशेष कर पुत्र उत्पन्न करने में, तो उसकी बड़ी दुर्गति होती है। हमारे भारत में तथा चीन में इस तरह की बातें विशेष रूप से पाई जाती हैं। वह अपने परिवार के लोगों द्वारा तथा अपने ही पति द्वारा नीची निगाह से देखी जाती है। उसका पग-पग

पर अपमान और तिरस्कार किया जाता है। निःसन्तान विवाहिता नारी की अवस्था चीन और भारत में सबसे अधिक दयनीय है। सम्मिलित परिवार के होते हुए भी वह सिर्फ पति से ही सम्बन्धित रहती है। इतना ही नहीं, बल्कि कभी-कभी पति भी उससे घृणा करने लग जाता है। परिवार में उसकी अवस्था एक दासी से भी गई गुजरी होती है। यह तो हुआ पति के रहते हुए नारी की दयनीय अवस्था का चित्रण, अब जरा हम आगे बढ़ कर ऐसी स्त्रियों की ओर दृष्टिपात करें, जो अपने पति को खो चुकी हैं तो हमें ज्ञात होगा कि उसकी अवस्था तो और भी रोमाञ्चकारी है। हमारे भारत में तो उसके साथ मानवोचित व्यवहार भी नहीं होता। जब स्त्री विधवा हो जाती है, तो उसके ऊपर एक भारी कलंक का टीका मढ़ा जाता है। वह भविष्य के लिए किसी काम की नहीं समझी जाती। उसके ऊपर तरह-तरह की लांछनाएँ लगाई जाती हैं और पति की मृत्यु का सारा उत्तरदायित्व उसी के ऊपर लादा जाता है। उसे डायन और चुड़ैल कह कर पुकारा जाता है तथा और भी तरह-तरह के अत्याचार उस पर किये जाते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन विधवा की समस्या में किया जायगा।

नर में विशेष रूप से हैं जिनका नारी में अभाव है और कुछ गुण नारी में विशेष रूप से हैं जिनका नर में अभाव है। इस तरह पूर्ण गुणों को प्राप्त करने के लिए नर और नारी का एक साथ रहना आवश्यक है और साथ ही दोनों का समान अधिकार भी होना आवश्यक है। परन्तु आज पुरुषों ने नारी के उच्चतम महत्व को भुला कर उसे घर-धन्धे-वाली और सन्तानोत्पत्ति की मशीन समझ लिया है। वह पुरुषों की भोग-सामग्री और सम्पत्ति के रूप में मानी जाती है। इस गलत धारणा के फलस्वरूप आज नर-नारी के बीच बड़ी विषमता दिखाई पड़ती है। स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम तथा आकर्षण लुप्त होता जा रहा है। विवाह का आधार प्रेम होना चाहिए, परन्तु उसका स्थान कामुकता ने ले लिया है। पुरुष अपनी स्त्री को अपनी प्रेमिका के रूप में न देख कर दासी के रूप में देखना कहीं अधिक पसन्द करता है। वह अपने को स्त्री का मालिक समझता है और काम-पिपाशा की तृप्ति में पशुता को भी मात कर देता है। नारी आज विषय-वासना को तृप्त करने का साधन मानी जाती है। इसके साथ ही वह अत्याचार की पात्री भी बन गई है।

नारी जाति के सांस्कृतिक और शारीरिक कार्यों में काफी असंतुलन पैदा हो गया है। उसे जीवन में नैतिकताका द्विगुण स्तर निभाना पड़ता है। उसका कर्त्तव्य दूना हो जाता है, स्त्री होने के नाते उसे स्त्री का कर्त्तव्य अपने पति के साथ पालन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त समाज की इकाई होने के नाते समाज के प्रति भी उसका कुछ कर्तव्य होता है। माता होने के नाते उसे बच्चों का पालन-पोषण भी करना पड़ता है। इस तरह उसके सिर पर महान् उत्तरदायित्व है, परन्तु इतने पर भी पुरुष उसके कामों को कोई महत्व नहीं देता!

मातृ-प्रधान समाज में स्त्रियों की अवस्था अच्छी थी। परन्तु पितृ-प्रधान समाज के आते ही उसका स्थान पुरुषों से नीचा हो गया

और उसकी उपेक्षा होने लगी। धीरे धीरे यह उपेक्षा इतनी बढ़ गई कि पुरुष और स्त्री में किसी प्रकार की समता नहीं रह गई। स्वार्थी पुरुषों ने स्त्रियों के जीवन को गुलामी की जंजीरों से जकड़ दिया और उसे कभी भी स्वतन्त्रता की सांस नहीं लेने दी। वह बचपन की अवस्था में पिता की गुलामी, यौवनावस्था में पति की गुलामी और वृद्धावस्था में पुत्र की गुलामी करने के लिए बाध्य की गई। जन्म से मृत्यु पर्यन्त उसे गुलामी के कठोर सीकंचों में बन्द कर दिया गया।

स्त्रियों के अधिकार का अपहरण करने के लिये स्वार्थी पुरुषों ने धर्म-ग्रंथों का सहारा लिया और धर्म-रूपी टट्टी की ओट से शिकार किया। अपनी नीचता और स्वार्थ के आगे दूसरों के स्वार्थ पर किंचित् मात्र भी ध्यान न दिया और धर्म-ग्रन्थों में तरह-तरह के नियम बनाकर स्त्रियों को सारे अधिकारों से वंचित किया। पुरुष ने यह भी नहीं सोचा कि इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा। स्त्रियों को गुलाम बनाकर वह अपने आधे अंग को विकास के मार्ग से अवरुद्ध कर स्वयं अपने आपको पीछे ढकेल रहा है, इस बातकी उसने कभी कल्पना ही नहीं की। उसने यह भी नहीं सोचा कि स्त्री और पुरुष मिलकर समाज की इकाई है और आगे की पीढ़ी पर दोनों का समान रूप से प्रभाव पड़ता है; संतान पर माता और पिता दोनों का प्रभाव होता है। दोनों के आधे-आधे आनुवंशिक गुणों को वह प्राप्त करती है और दोनों के जीवन से वह शिक्षा ग्रहण करती है। इस तरह पुरुषों की उन्नति भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों ही अवस्थाओं में स्त्रियों पर ही आधारित है।

बच्चे के लिये सबसे पहला विद्यालय परिवार होता है और परिवार में सर्वप्रथम शिक्षिका माता होती है। अतः जैसी माता होगी, वैसी ही संतान होगी, इसमें कोई संशय नहीं है। परन्तु यदि माता स्वयं ही गुलामी की जंजीरों में जकड़ी है, वह स्वयं अज्ञान के अन्धकार में

पड़ी हुई है और तरह-तरह के अंध-विश्वासों का शिकार हो रही है, तो वह क्योंकर अपनी संतान को अच्छी शिक्षा दे सकती है। इस तरह नारी जाति को गुलामी की जंजीरों में जकड़कर नर जाति ने अपनी आगे की पीढ़ी को उन्नति के मार्ग से रोका है। यदि सच पूछा जाय तो उसने अपना ही मार्ग अवरुद्ध किया है। आज भारत की ३५६८२६४८५ आबादी में स्त्रियों की संख्या १७३५२३८३१ है, पर वास्तव में देखा जाय तो शेष १८३३०५६५४ पुरुषों की विधात्री भी स्त्रियाँ ही हैं। परन्तु इसका ख्याल न करके पुरुषों ने बड़ी भूल की है और उन्होंने अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारी है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही रूप से उन्होंने अपने ही लिये कुंआँ खोदा है। स्वार्थवश अंधा होकर पुरुष स्वयं पतनोन्मुख हुआ है। इसके चलते उसने संसार की प्रगति को रोका है। स्वार्थ की ही पूर्ति के लिये उसने धार्मिक नियम बनाकर नारी जाति को यह भय दिखलाया कि यदि वह उन आदेशों का पालन न करेगी, तो उसे भीषण नरक यातना भोगनी पड़ेगी। इस तरह जन्म से लेकर मृत्यु तक होनेवाले समस्त कार्यों के लिये धार्मिक नियम बनाकर एवं उसकी अपेक्षा के लिये नरक का भय दिखाकर नर जाति ने नारी जाति को अपने हाथ का खिलौना बनाया और उस पर मनमाना अत्याचार किया। उसने कभी भी इस बात पर ध्यान न दिया कि स्त्रियों का प्रश्न सिर्फ स्त्रियों का ही नहीं वरन् पुरुषों का भी है, क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों का ही एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

विवाह-संबंधी नियमों को भी पुरुषों ने अपने ही अनुकूल बनाया। स्त्री अपनी इच्छानुसार विवाह नहीं कर सकती। पिता चाहे जिस किसी से अपनी पुत्री का विवाह कर दे। स्वार्थवश वह अपनी ही संतान को धर्म की चिता में होम देता है। पिता यदि अपनी पुत्री का किसी बालक, वृद्ध, नपुँसक, अपंग तथा दुराचारी व्यक्ति से विवाह कर

दे, तो भी उसका यही कर्त्तव्य होता है कि चुपचाप अपने भाग्य पर संतोष करके उस पति को हृदय से अपनावे, उसकी आज्ञा का पालन और सेवा तन-मन से करे। भूलकर भी कभी दूसरे पति की कल्पना न करे। यदि वह ऐसा करेगी तो भीषण नरक यातना भोगनी पड़ेगी और जन्म-जन्मान्तर इस पाप का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। "पति ही परमेश्वर है", ऐसा स्त्रियों के लिये धार्मिक मंत्र माना गया है।

एक तरफ तो आदर्श वाक्य कहा गया है :—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" और दूसरी तरफ उसी नारीकी पग-पग पर उपेक्षा और तिरस्कार! आज पुरुषों ने इस बात को भुला दिया है कि स्त्री ही पुरुष की सच्ची सहधर्मिणी है; वही पुरुष का सच्चा मित्र है; वही भावी नागरिकों की निर्मातृ है और वही कुलाचार की सुदक्ष रक्षिका है। इतना ही नहीं वरन् वह सेवा, त्याग और संयम की मूर्ति के साथ-साथ श्रद्धा और धर्म की तिजौरी भी है। वही भारतीय संस्कृति की सच्ची संरक्षिका है। परन्तु इतना होते हुए भी आज भारत में नारी जाति की अवस्था बड़ी ही चिन्ताजनक हो रही है और इसके लिये काफी सुधार की आवश्यकता है। समाज की उन्नति और अवनति का बहुत कुछ संबंध स्त्रियों की उन्नति और अवनति के साथ जुड़ा हुआ है। स्त्रियों की उन्नत दशा होने से ही कोई भी देश पूर्णतः उन्नत हो सकता है। बिना इसके समाज का आधा अंग पिछड़ा रह जाता है। परन्तु स्त्रियों की अवस्था में वास्तविक सुधार तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उनकी आर्थिक महत्ता न बढ़ाई जाय। आर्थिक स्वतंत्रता स्त्रियों के लिये आवश्यक है। आज यूरोप और अमेरिका की स्त्रियाँ जो इतनी सभ्य दिखाई पड़ती हैं, उसका एकमात्र कारण है कि उन्हें बहुत कुछ आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। भारत की तरह वे पुरुषों की गुलामी में जकड़ी नहीं हैं। भारत की स्त्रियों की भाँति वहाँ की स्त्रियों को

परदे में नहीं रखा जाता। यहां की तरह वे ज्ञान से वंचित नहीं रखी जातीं। अतः वे यहाँ की तरह किसी भी मानी में पिछड़ी नहीं हैं।

स्त्रियों की अवस्था में सुधार लाने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि उन्हें भी उच्च ज्ञान प्राप्त कराया जाय। पुरुषों के लिये जिस तरह का प्रयत्न उनके ज्ञानार्जन के लिये किया जाता है, ठीक उसी भाँति लड़कियों के लिये भी व्यवस्था की जाय। वैवाहिक-सम्बन्ध में स्त्री की भी सम्मति होनी चाहिये। पुरुषों को जैसा अधिकार है वैसा ही स्त्रियों को भी होना चाहिये। उन्हें घर की चहारदीवारी में ही बन्द करके न रखा जाय, वरन् उन्हें भी पुरुषों की भाँति अन्य सभी कार्यों में भाग लेने दिया जाय। अपनी शक्ति के विकास का उन्हें भी उचित अवसर दिया जाय। किसी भी कार्य में पुरुष और स्त्री की सलाह और सहयोग आवश्यक है।

स्त्रियों की उन्नति के लिये शिक्षा का प्रचार आवश्यक है। उन्हें इस ढंग की शिक्षा दी जाय कि शिक्षा पाकर वे फैशन की गुलाम न हो जांय, बल्कि सादगी और सदाचारमय जीवन व्यतीत करने की क्षमता उनमें हो। साथ ही वे अच्छी नागरिक बनाई जा सकें और पुरुषों के हर कार्य में सहायता कर सकें। वे पुरुषों की दासी न रहकर सच्ची अर्धाङ्गिनी बनें। पाश्चात्य स्त्रियों की तरह उच्छृङ्खल न होकर पुरुषों की बराबरी करते हुए उनके अच्छे गुणों को अपनावें। सदाचार पर ध्यान रखते हुए वे सभी तरह की स्वतंत्रता को अपनावें। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों ने पुरुषों की बराबरी करते हुए विशेषकर उनके दुर्गुणों को ही अपनाया है। स्वतन्त्रता के नाम पर सच पूछा जाय, तो उनमें उद्दण्डता आई है। भारतीय स्त्रियों को उस तरह की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिये कि वे पाश्चात्य देशों की स्त्रियों की तरह शराबी, नशीली, विलासिनी बन कर केवल भोग विलास-प्रिय जीवन को पसन्द करने-वाली बन जांय।

स्त्री-पुरुष के अधिकार में कोई भिन्नता न होनी चाहिये। दोनों को समान रूप से राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार मिलना चाहिये। परन्तु आज की स्त्रियां कुछ भी अधिकार नहीं रखतीं पुरुष उसे गुड़िया बनाकर रखना चाहता है। सोने-चांदी अथवा वस्त्राभूषणों से सजाकर वह उसे अपने मनोरंजन के लिये रखना चाहता है। रंग-बिरंगे कपड़े पहनाकर उसे घरके पिंजड़े में बंदकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता है और उसके स्वास्थ्य पर जरा भी कभी चिन्ता नहीं की जाती। उसे एक संकुचित दायरे में कैद कर दिया जाता है। उसके लिये यदि कहा जाय कि उसे धन की भांति ही सावधानी से गृह-रूपी सन्दूक में इस तरह बन्द रखा जाता है कि धन की भांति ही उसे कोई उठा न ले जाय, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। इस तरह आज नारी को परदे के अन्दर अस्वस्थ होकर रहना पड़ता है। परदेके कारण उसकी समुचित शिक्षा नहीं हो पाती और इस तरह आज का नारी समाज अशिक्षित और बेकार है।

उपेक्षा के कारण स्त्रियों के स्वास्थ्य की कभी कोई चिन्ता नहीं की जाती। जन्म से लेकर मृत्यु तक सारे जीवन में उसकी उपेक्षा ही की जाती है। जन्म के समय जब कोई सुनता है कि लड़की पैदा हुई है, तो वह नाक-भौं सिकोड़ लेता है। वह एक भार के रूप में अपनाई जाती है और जहीं मौका आया कि पटक दी जाती है। उसके जीवन की किसी को चिन्ता नहीं। चिन्ता हो ही क्यों, जब कि वह एक आर्थिक भार के रूप में देखी जाती है।

भारतमें नारियों की अवस्था बहुत ही पिछड़ी हुई है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तीनों ही अवस्थाओं में वे पिछड़ी हुई हैं। पर्दा, अशिक्षा, स्वास्थ्य की खराबी, गृहबोझ आदि कारणों से उनकी अवस्था और भी पिछड़ी रह जाती है। आर्थिक जीवन में वे पुरुषों की बराबरी नहीं कर पातीं, अतः पुरुष उनके अधिकारों को देने के लिये तैयार

नहीं है। पुरुष उन्हें अपनी बराबरी का अधिकार देना नहीं चाहता। यद्यपि आज भारतीय नारी को राजनैतिक अधिकार प्राप्त है, परन्तु फिर भी वे अपने अधिकारों का उपयोग नहीं कर पातीं। पुरुष उन्हें घर से निकलने तथा इच्छानुसार राजनीति में हिस्सा नहीं लेने देता अतः कानूनी अधिकार प्राप्त होते हुए भी वे सभी अवस्थाओं में पिछड़ी हुई हैं। शारीरिक कमजोरी के कारण मजदूर वर्ग की स्त्रियाँ आर्थिक प्रयत्न में पूरा भाग लेने पर भी पिछड़ी हुई हैं। क्योंकि पुरुषों की बराबरी में मजदूरी देने के लिए मिलमालिक तैयार नहीं होता। अतः स्त्रियों को विवश होकर कार्यहीन बैठने के बदले निम्न वेतन पर भी काम पर जाना पड़ता है।

पिछड़ी अवस्था को दूर करने के लिए आवश्यक है कि पर्दा और अशिक्षा को दूर करते हुए नारी जाति को पुरुष जाति के समान ही विकास का उचित अवसर दिया जाय। जब उन पर से सारे सामाजिक प्रतिबंध हटा लिए जायंगे, तो वे आप ही पिछड़ी अवस्था को छोड़ कर उन्नत और व्यवस्थित हो जायंगी।

स्त्रियों की उपेक्षा इसलिए की जाती है कि वे पुरुषों की तुलना में अर्थोपार्जन में फिसल जाती हैं। किन्तु इस कारण से उनकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यहाँ ध्यान देने की बात है कि स्त्रियों का काम पुरुषों से कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है। पुरुषों का यह दबाव अनुचित और अन्यायपूर्ण है। गार्हस्थ्यजीवन के महत्वपूर्ण कार्यों को स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, किन्तु उनके इस महत्वपूर्ण कार्य का ख्याल न करके उन्हें पददलित दासी समझना तथा हर मामले में स्त्रियों को दोषी बनाना और अपने को निर्दोष सिद्ध करना पुरुषों की सरासर बेईमानी नहीं तो और क्या है? ऐसी बुरी भावनाओं को पुरुष अपने दिलों से निकाल दें, तभी उनका कल्याण हो सकता है। समाज के कल्याण के लिये स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अवस्था में सुधार करना आवश्यक है।

तृतीय अध्याय

परदा और अशिक्षा

परदा

परदा-प्रथा बहुत ही पुरानी प्रथा है। कहते हैं इस प्रथा को पैगम्बर साहब ने चलाया। इसके आविष्कार के समय इसका लक्ष्य बहुत ऊँचा था। इसका उद्देश्य था स्त्रियों के शील और सदाचार की रक्षा। शील और सदाचार स्त्रियों के महान् गुण हैं। जिस स्त्री में शील और सदाचार नहीं है, उसमें स्त्रियोचित गुणों का सर्वथा अभाव है। कोई स्त्री कितनी भी सभ्य क्यों न हो जाय और कितनी भी आधुनिकता क्यों न ग्रहण कर ले, पर यदि उसने शील और सदाचार को छोड़ दिया, तो उसकी सारी सभ्यता और सारी आधुनिकता उसे पतन के गड्ढे में गिरा देगी। प्रत्येक स्त्री के लिए इस शील और सदाचार की रक्षा आवश्यक है। इसी उद्देश्य से पैगम्बर साहब ने समाज में परदे की प्रथा चलाई। स्त्रियों को बुराइयों से बचाने के लिए परदे का आविष्कार हुआ, किन्तु आज तो बात बिलकुल उल्टी है। आज तो वह स्वयं बुराई के रूप में है। जहाँ इसका उद्देश्य समाज के शील और सदाचार की रक्षा था, वहाँ यह आज समाज को कलंकित कर रहा है। शील और सदाचार की रक्षा तो दूर रही, उल्टे उसके स्थान पर निर्लज्जता, उच्छृङ्खलता, पाप और कुप्रवृत्तियों की रक्षा हो रही है। आज इसका गलत प्रयोग हो रहा है और इसके फलस्वरूप समाज विनाश के मुख में जा रहा है।

आज परदा भारतीय नारी समाज का सबसे बड़ा अभिशाप हो

गया है। इसने यहाँ के नारी समाज को अस्वस्थता के गड्ढे में ढकेल दिया है। भारत में यह प्रथा आरंभ कब से हुई, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना तो निश्चित है कि मुसलमानों के आने पर इस प्रथा ने पूर्ण विकास को प्राप्त किया। मुसलमान अपने साथ बहुत कम स्त्रियाँ लाये थे। अतः वे अपनी विजित की स्त्रियों को अपनी पत्नियाँ बना लेते थे। जहां कहीं किसी सुन्दरी पर उनकी दृष्टि पड़ जाती थी, उसे अपने अधिकार में करने की चेष्टा होने लगती थी। इस तरह हिन्दुओं के सामने एक कठिन समस्या आ उपस्थित हुई और तब अपनी वहू-वेटियों की रक्षा के लिये उन्हें छिपा कर रखा जाने लगा। इतिहास के विद्यार्थियों को स्मरण होगा कि अल्लाउद्दीन राणा भीमसिंह की पत्नी पद्मिनी की सुन्दरता की प्रसंशा सुनकर ही उसपर आशक्त हो गया था और जब उसने दर्पण में उसकी परिछाई देखी तब फिर कहना ही क्या? वह जी-जान से उसके प्राप्त करने में लग गया। इस तरह जब कि हिन्दुओं के लिए अपनी बहू-बेटियों की इज्जत बचाना मुश्किल हो गया, तो उन्होंने बाल-विवाह और परदा-प्रथा पर जोर दिया। और तभी से यह प्रथा प्रबल रूप से चल पड़ी। मुसलानों के अत्याचार की भीषणता के साथ-साथ यहाँ परदा-प्रथा अत्यधिक बढ़ती गई और बढ़ते-बढ़ते यह यहां तक बढ़ी कि आज यह एक सामाजिक रोग के रूप में दिखाई पड़ती है और इसे दूर करना बहुत ही कठिन प्रतीत हो रहा है।

परदे ने भारतीय नारी को खोखला बना दिया है। जो भारतीय नारी वीरांगना हुआ करती थी और युद्ध में पुरुषों के समान ही बहादुरी दिखलाती हुई दुश्मनों के दांत खट्टे कर देती थी, वह आज ऐसी दुर्बल और कमजोर हो गई है कि उसके हाथ से एक लोटा जल भी उठाना कठिन हो गया है। आज भारत की नारी इतनी कोमलांगी हो गई है कि उससे कोई कार्य ही नहीं हो पाता। जब यहाँ की नारी

की यह अवस्था हो रही है, तो इसकी संतान कैसी होगी ? जैसी जमीन होती है और जैसा बीज होता है, वैसा ही पौधा भी होता है। यदि जमीन और बीज दोनों ही खराब हों तो पौधे की उत्तमता की आशा करना निरी बेवकूफी ही होगी। परदे के कारण स्त्रियों का स्वास्थ्य खराब हो गया और वे कमजोर संतान उत्पन्न करने लगी। परिणाम यह हुआ कि स्त्री-मृत्यु तथा बाल-मृत्यु संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई। स्वास्थ्य की खराबी से स्त्रियों की मृत्यु संख्या भारत में सबसे अधिक है। निम्नलिखित आंकड़ों से ज्ञात होगा कि भारत में स्त्रियों की मृत्यु संख्या कैसी हैं—

औसत मृत्यु संख्या

(हजार में)

उम्र	भारत	संयुक्तराष्ट्र	जर्मनी	स्वीडन	इङ्गलैन्ड	अस्ट्रेलिया
०	२८५	१०६	७६	१७०	११७	६८
५	२६	५	५	५	३	३
१०	१३	२	३	३	२	२
१५	१४	३	४	३	२	२

उपर्युक्त आंकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत में स्त्रियों की मृत्यु-संख्या अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक है। यहां १५ वर्ष तक की उम्र की स्त्रियों की मृत्यु संख्या का आंकड़ा दिया गया है, परन्तु इसके बाद की अवस्था में भी यही हालत रहती है। भारत की अधिकांश स्त्रियां सदा अस्वस्थ रहा करती हैं। अस्वस्थ स्त्रियों में अधिकांश स्त्री-रोगों से ग्रस्त होती हैं। परदे में रहते-रहते स्त्रियों का स्वास्थ्य ऐसा खराब हो गया है कि यदि ढूँढ़ा जाय तो मुश्किल से ५% स्त्रियाँ स्वस्थ मिलेंगी। शेष ९५% किसी न किसी स्त्री-रोग से अवश्य पीड़ित होती हैं। अन्य देशों की तुलना में यहां स्त्रियों की आयु भी बहुत कम है।

स्त्रियों की औसत आयु

देश	औसत आयु	देश	औसत आयु
भारत	२७ वर्ष	इंगलैण्ड	६३ वर्ष
जापान	४७ वर्ष	जर्मनी	६३ वर्ष
अस्ट्रेलिया	६७ वर्ष	संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	६२ वर्ष
फ्रांस	५७ वर्ष	कनाडा	६० वर्ष
नार्वे और स्वीडन	६३ वर्ष	न्यूजीलैंड	६७ वर्ष

इस तुलनात्मक आयु के आंकड़ों से पता चलता है कि भारत कैसा अभागा देश है, जिसकी औसत-आयु सबसे कम है।

बाल-मृत्यु के आंकड़े

एक वर्ष तक की उम्र में प्रति १००० मृत्यु-संख्या

देश	मृत्यु-संख्या	देश	मृत्यु-संख्या
भारत	१६०	आयर्लैंड	४५
अस्ट्रेलिया	२४	इटली	६३
अष्ट्रिया	६६	जापान	६०
वेलजियम	५६	नीदरलैण्ड	२५
कनाडा	४१	न्यूजीलैण्ड	२३
लङ्का	८२	नार्वे	२८
चिली	१५३	स्वीडन	२०
चेकोस्लोवाकिया	७८	पुर्तगाल	६४
डेनमार्क	३१	स्पेन	६६
फिनलैंड	४४	स्वीटजरलैंड	३१
फ्रांस	४७	संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	२६

उपर्युक्त आंकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि बाल-मृत्यु हमारे देश का एक प्रबल अभिशाप है। पैदा होनेवाले प्रत्येक छः बच्चों में एक तो अपने जन्म के प्रथम वर्ष में ही मर जाता है। दुनिया के किसी भी देश में इतनी अधिक संख्या में बाल-मृत्यु नहीं होती। सचमुच हमारे देश का यह महान् दुर्भाग्य है। हमने जानबूझ कर अपने स्वास्थ्य को खराब किया है। यह तो सभी जानते हैं कि जैसी जमीन होगी, वैसा ही पौदा होगा और उसी तरह का उसमें फल भी लगेगा। जब हम जमीन को उर्वर बनाने का प्रयत्न ही नहीं करेंगे तो पौदा कहाँ तक लहलहायेगा और अच्छे फल की आशा कहाँ तक की जा सकेगी। जब हमने स्त्रियों को परदे में जकड़ कर रोगी बना डाला और उसके स्वास्थ्य पर ध्यान न दिया तो कमजोर स्त्रियों ने कमजोर सन्तान उत्पन्न की और उस कमजोर सन्तान के कमजोर बीज से पुनः और भी कमजोर सन्तान उत्पन्न हुई। इस प्रकार धीरे-धीरे भारत की सन्तान दिनोंदिन दुर्बल होती गई और परिणाम स्वरूप वही भारत की सन्तान जो एक दिन विश्व को थर्रा देती थी, आज हवा में डोलती नजर आती है! यहाँ एक-दो नहीं, बल्कि बहुत से धुरन्धर वीर हो चुके हैं, पर आज तो खोजने पर भी मुश्किल से एक-दो व्यक्ति ऐसे मिलते हैं, जिनका स्वास्थ्य निश्चित रूप से अच्छा कहा जा सकता है।

आज भारत में परदा-प्रथा की जड़ ऐसी जम गई है कि इसे उखाड़ फेंकना भी असम्भव-सा प्रतीत होता है। क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित, सब के घर में पर्दे की प्रथा मौजूद है। हां, शिक्षित समुदाय में यह कुछ कम होती जा रही है। अधिक शिक्षित समाज में तो यह लुप्त होती जा रही है, परन्तु अशिक्षित समाज में तो और भी जड़ पकड़ती जा रही है। किसी-किसी समाज में तो यह इतनी अधिक है कि स्त्रियाँ कभी भी अपने सर को खुली हवा में नहीं रख सकतीं। मारवाड़ियों की स्त्रियों को देखिए, वे इतनी लम्बी घूँघट काढ़े रहती हैं

कि उन्हें देख कर एक अजीब तमाशा-सा प्रतीत होता है। उत्तर भारत में पर्दे की प्रथा बड़ी भयंकर रूप में है। दक्षिण में यह प्रथा नहीं है, अतः वहां की स्त्रियाँ काफी स्वस्थ होती हैं।

परदे के सम्बन्ध में कुछ लोगों की दलील है कि यदि परदा हटा दिया जाय तो व्यभिचार की मात्रा बढ़ जायगी, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। अत्यधिक परदे वाली स्त्रियों में भी व्यभिचार की मात्रा कम नहीं देखी जाती। दक्षिण भारत में परदे की प्रथा नहीं होने पर भी वहाँ व्यभिचार की मात्रा बहुत कम है। अक्सर देखा जाता है कि जिस समाज में परदे की प्रथा बहुत अधिक है, उस समाज में गुप्त-व्यभिचार और भी अधिक है। ऐसी स्त्रियों का जीवन नीरसतापूर्ण होता है अतः वे आसानी से अवसर पाते ही कुमार्गगामिनी हो जाती हैं। मनोरञ्जन के साधनों का जहाँ जितना ही अभाव होगा, वहाँ व्यभिचार की मात्रा उतनी ही अधिक बढ़ेगी। परदेवाली स्त्रियों के लिए मनोरञ्जन की बात कौन पूछे, वहाँ तो मनोरञ्जन का नाम लेना भी पाप समझा जाता है। कामप्रवृत्ति मनोरञ्जन के साधनाभाव में बढ़ती है और वह व्यक्ति को बुरे मार्ग की ओर अग्रसर करती है।

आज भारतीय परदे का स्वरूप तो यह है कि उसका जो वास्तविक उद्देश्य है, उसे भुला दिया गया है। परदा जिससे होना चाहिए उससे तो होता ही नहीं और जिससे नहीं होना चाहिए, उससे होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज घरवालों से तो परदा किया जा रहा है, जिससे कि कोई ख़तरा नहीं है और बाहरवालों से, जिनसे कि खतरे की सम्भावना रहती है—यथा जोगी, फकीर, भिखमंगा, फेरीवाला, खोंचेवाला, नौकर, धोबी, नाई, मेहतर तथा कोई अपरिचित युवक—परदा करने की अपेक्षा और भी निर्लज्जतापूर्ण व्यवहार, हँसी-मजाक भावभंगिमा चलती है। जब चरित्र-रक्षा के लिए परदा है, तब उसका प्रयोग तो उसीके साथ होना चाहिए जिसका चरित्र शंकास्पद हो अथवा

जिसके बारे में कोई जानकारी न हो, पर बात बिल्कुल उल्टी होती है। जो जानपहचान का रहता है, उसीसे परदा किया जाता है। आज परदे की ओट में गुप्त व्यभिचार और भी अधिक बढ़ता जा रहा है। एक तरफ अपने लोगों के सामने लम्बी घूँघट रहती है और दूसरी ओर साधु, फकीर, जादू-टोने करनेवाले ओझा तथा नौकरों के सामने खुल कर व्यभिचार होता है। भला ऐसे परदे से क्या लाभ? इस बुरी प्रथा को समाप्त करके ही हमें दम लेना चाहिए।

आजके समाज के लिए जब कि हिन्दुस्तान एक स्वतन्त्र देश है और जब कि भारत की नारी को भी मताधिकार प्राप्त है, ऐसी अवस्था में स्त्रियाँ परदे में रहें, यह बड़ी लज्जा की बात है। अब भारत उस अवस्था में नहीं है कि वह विदेशियों का अपमान सहन करे और भारतीय नारी को पग-पग पर खतरे की सम्भावना रहे। अब तो भारत को ऐसी वीरांगनाओं की आवश्यकता है जो राम, कृष्ण, भीष्म, राणा प्रताप तथा शिवाजी जैसे वीर उत्पन्न करे। परदे में रहकर अस्वस्थ नारी के लिए यह सम्भव नहीं है। अतः परदा-प्रथा को दूर करना समय की पुकार के अनुसार आवश्यक है।

किन्तु परदे को दूर करने का यह अर्थ नहीं है कि स्त्रियाँ परदे से सम्बन्धित लज्जा, शील, संकोच और सदाचार को भी तिलांजलि दे दें। निराकरण तो दुर्गुणों का करना है न कि सद्गुणों का। लज्जा स्त्रियों का प्रधान गुण है, परन्तु आज अधिकांश स्त्रियों में सच्ची लज्जा का अभाव पाया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि उस झूठी लज्जाको छोड़ कर सच्ची लज्जा को अपनावें यही स्त्रियोंका प्रधान धर्म है। कहने का तात्पर्य यह है कि परदा हटाने का मतलब यह नहीं होना चाहिए कि स्त्रियाँ बिल्कुल बेशर्म हो जाँय और नग्न-प्रदर्शन करने लग जाँय, जैसा कि आज की कुछ स्त्रियाँ तितलियाँ बनकर कर रही हैं। यदि प्रकृति-

वादी* ही सिर्फ ऐसा करें तो वह क्षम्य हो सकता है, परन्तु अन्य स्त्रियाँ जो शायद घर में बहुत अधिक परदा करती होंगी, परन्तु घर से बाहर अन्य पुरुषों के सामने आम सड़क के किनारे के तालाब में विल्कुल नंगी होकर स्नान करें और जल के बाहर उसी वेष में खड़ी होकर घण्टों बदन रगड़ा करें तो यह बेहयापन के अतिरिक्त और क्या कहला सकता है ?

अशिक्षा

यों तो अशिक्षा भारत की एक प्रमुख समस्या में से है ही पर यहां की नारियों में यह विशेष रूप से फैली हुई है। लड़कियों को पढ़ाने की ओर लोगों का ख्याल नहीं के बराबर रहता है। अज्ञानता के अध्याय में पृष्ठ ३५ में दिये गये भारतीय-शिक्षा-सम्बन्धी आंकड़े को देखने से ज्ञात होता है कि १९४६-४७ में विश्वविद्यालयों की छात्राओं की संख्या को छोड़ कर कुल ३२९४२४८ छात्राएँ थीं जब कि छात्रों की सं० १०७३८३३० थी। लड़कियों को पढ़ाने में लोग जरा भी दिलचस्पी नहीं रखते। जब लड़कियों को जन्म के समय से ही भार के रूप में देखा जाता है, तब उनकी शिक्षा का व्यय तो और भी नाजायज समझा ही जायगा। लोगों की दलील रहती है कि लड़कियों को पढ़ाने से लाभ तो कुछ भी नहीं है पर

---

* प्रकृतिवादी बिलकुल नंग-धड़ङ्ग रहते हैं और सर्वत्र घूमते तथा सबों से मिलते हैं। कुछ दिन पूर्व यूरोप और अमेरिका में प्रकृतिवादियों का काफी जोर बढ़ा था और अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन चल पड़ा था। १९३१ में बर्लिन में उनका एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था जिसमें इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, स्वीटजरलैण्ड, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, रूस और स्कैण्डिनेविया के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। रूस से एक सरकारी प्रतिनिधि तथा जर्मन राष्ट्र-सभा की दो स्त्री सदस्याओं ने भी भाग लिया था। सम्मेलन में सब के-सब नंग-धड़ङ्ग थे और नंगेपन का सिद्धान्त मानने वाले थे।

हानि बहुत-सी है। शिक्षा पाकर अक्सर लड़कियाँ बिगड़ जाती हैं। लड़कियों को लोग घर से बाहर निकलने देना नहीं चाहते और इसीलिये वे स्कूलों में उन्हें नहीं भेजते। परदे की प्रथा ने नारी-समाज को शिक्षा से वंचित रखने में बहुत काम किया है। परदे के कारण लड़कियाँ जब किशोरावस्था में पांव रखती हैं, तभी उनका घर से निकलना मुश्किल हो जाता है। सह-शिक्षा (Co-education) के अभाव में भी लड़कियाँ अधिकतर अशिक्षित रहती हैं। पुराने विचार के लोग अभी भी सह-शिक्षा के पक्ष में नहीं हैं। छोटे-छोटे बच्चों में भी वे लड़के-लड़कियों का एक साथ पढ़ने देना अच्छा नहीं समझते। एक तो गांवों में यों ही स्कूलों का अभाव है। फिर प्रत्येक गांव में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूलों का होना और भी सम्भव नहीं है। यहाँ की आबादी में से ६०%गाँवों में निवास करती है और गाँवों में लड़कों के लिए भी पर्याप्त स्कूल नहीं हैं, लड़कियों के लिए स्कूल होने की बात तो दूर रही। इस तरह स्कूल के अभाव में भी लड़कियाँ शिक्षा से वंचित रह जाती हैं।

नारी-समाज से अशिक्षा को दूर करने के लिए आवश्यक है कि यहाँ से पर्दा-प्रथा को दूर किया जाय और सह-शिक्षा का प्रचार हो। साथ ही लड़कियों की जो उपेक्षा होती आ रही है, उस उपेक्षा की भावना को भी दूर करें। स्त्री और पुरुष दोनों ही समाज के समान अंग हैं अतः लड़के और लड़कियों की देख-रेख तथा शिक्षा में किसी तरह का अन्तर न रखना चाहिए। दोनों की समानता को स्वीकार करने से ही समाज की उन्नति होगी।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सभी तरह से पूर्ण बनाना है। स्त्रियों को शिक्षा इस प्रकार की दी जानी चाहिए कि वह जीवन-संग्राम में अपने को सफल सिद्ध कर सके। शिक्षा का मतलब डिग्रियाँ प्राप्त करने से नहीं होना चाहिए। यदि स्त्रियाँ शिक्षित होकर फैशन की गुलाम हो

जाती हैं तो वह शिक्षा किस काम की। जो शिक्षा शील और सदाचार को छुड़ा कर उच्छृङ्खल बना डाले वैसी शिक्षा की हमें आवश्यकता नहीं है। आज की भारतीय स्त्रियाँ शिक्षा के आन्तरिक आदर्शों पर नहीं जातीं। वे उसकी ऊपरी तड़क-भड़क को ही अपनाकर अपने को पूर्ण शिक्षित समझती हैं। स्त्रियां सौन्दर्य की उपासिका हों, परन्तु झूठी सुन्दरता को छोड़ कर सच्ची सुन्दरता को अपनावें।

अशिक्षा के कारण स्त्रियों में शिशु-विज्ञान, स्वास्थ्य, सफाई, नीति, सदाचार आदि के ज्ञान का अभाव हो गया है। अतएव स्त्री-शिक्षा का प्रचार करते हुए इन सब बातों की जानकारी उन्हें करानी चाहिए क्योंकि जब तक स्त्रियों में इन अभावों की पूर्ति नहीं की जायगी, पुरुषों का उत्थान नहीं हो सकता। पुरुषों के उत्थान के लिए स्त्रियों में इन सब गुणों का होना आवश्यक है। स्त्री-शिक्षा में पश्चिमी लहर फैलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। नये विचार, नये भाव, नये सिद्धान्त, नई प्रथाएँ, नये दृष्टिकोण और नई विचारधाराओं का तो समावेश आवश्यक है, परन्तु वह पश्चिमी ढंग से उच्छृङ्खलतापूर्ण न होना चाहिए। आज भारतीय-शिक्षित-स्त्रियों की दशा भी कुछ पाश्चात्य-स्त्रियों की जैसी होती जा रही है। वे पुरुषों से भी अधिक गर्वीली होती जा रही हैं। यह आज की शिक्षा का दोष है।

आज के शिक्षा-शास्त्री सह-शिक्षा पर विशेष जोर दे रहे हैं और यह है भी उचित। स्त्रियों और पुरुषों की अलग-अलग शिक्षा की व्यवस्था उचित नहीं है। दोनों को एक तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए। किन्तु फिर भी स्त्रियों के लिए कुछ अंशों में कुछ विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है जिसकी पुरुषों को शायद आवश्यकता नहीं होती। जैसे शिशु-विज्ञान, गर्भ-विज्ञान, गार्हस्थ्य-विज्ञान आदि। इन विषयों की स्त्रियों को सूक्ष्म जानकारी होनी चाहिए। यदि स्त्रियों को सन्तान-पालन की समुचित शिक्षा न मिलेगी, तो भारतीय संतान का समुचित

विकास नहीं हो सकेगा। अतएव इसके लिए विशेष व्यवस्था करने की आवश्यकता है। बिना सन्तान-पालन तथा गर्भ-पालन-शिक्षा के स्त्रियों की सारी शिक्षा अधूरी है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य और ललित-कला की शिक्षा भी स्त्रियों के लिए है। चित्रकारी, नृत्य-गान आदि जो स्त्रियों के गुणों में से हैं, उनकी भी शिक्षा होनी चाहिए। परन्तु इन विषयों की शिक्षा में भद्देपन की छाप न होनी चाहिए। उन्हें इस तरह की शिक्षा न देनी चाहिए कि वे शृङ्गार और रसिकता में डूब जाँय। शिक्षा तो ऐसी हो कि वे वास्तविक आदर्श को ग्रहण करें। सादा जीवन और उच्च विचार ही शिक्षा का सर्वोत्तम आदर्श है। स्त्रियाँ अपने आदर्श स्त्रियोचित गुणों को अपनावें, ऐसी शिक्षा उन्हें विशेष रूप से देने की आवश्यकता है। लड़कों के साथ कालेजों में जो शिक्षा दी जाती है, उसमें इन बातों का सर्वथा अभाव रहता है। अतएव स्त्रियों के लिए कुछ तो विशेष व्यवस्था करनी ही होगी। स्त्रियों की शिक्षा में सीना-पिरोना, कसीदा काढ़ना आदि बातों का भी थोड़ा-बहुत समावेश आवश्यक है, जिसकी पुरुषों को आवश्यकता नहीं होती। इस तरह सह-शिक्षा को रखते हुए स्त्रियों के लिए कुछ विशेष घंटी की व्यवस्था की जा सकती है, इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

चतुर्थ अध्याय

वैवाहिक कुरीतियाँ

विवाह

विवाह स्त्री और पुरुष के पारस्परिक-जीवन को सम्बद्ध करता है। इसके द्वारा एक स्त्री और एक पुरुष का स्वतन्त्र सम्बन्ध निर्धारित होता है। स्त्री और पुरुष दोनों में ही कुछ-न-कुछ शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ हुआ करती हैं। कुछ गुणों का पुरुष में अभाव होता है, परन्तु स्त्री में रहते हैं और कुछ गुणों का स्त्री में अभाव होता है जो पुरुष में रहते हैं। अतएव मानव-जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए स्त्री और पुरुष का परस्पर मिलन आवश्यक होता है। विवाह-सम्बन्ध द्वारा स्त्री और पुरुष मिल कर जीवन की पूर्णता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विवाह स्त्री-पुरुष के बीच आदान-प्रदान का एक सर्वोत्तम साधन है। यह स्त्री और पुरुष के बीच एक सामाजिक समझौता है जो सभी सामाजिक समझौतों से भिन्न है। जीवन में पूर्णता लाने के लिए इस सामाजिक समझौते की आवश्यकता पड़ी और विवाह का आविष्कार हुआ। प्रत्येक व्यक्ति को अपने एक जीवन-संगी की आवश्यकता होती है। जीवन-संगी ऐसा होना चाहिए जो एक-दूसरे के प्रति अक्षुण्ण स्नेह, निःस्वार्थ प्रेम और अनुरागात्मक प्रवृत्ति रखता हो। इसके अतिरिक्त एक-दूसरे का सच्चा हितैषी हो और एक-दूसरे के लिए हर तरह का त्याग और कष्ट सहने के लिए तैयार हो। ऐसे जीवन-संगी की प्राप्ति विवाह-सम्बन्ध द्वारा ही होती है। इस

तरह हम कह सकते हैं कि विवाह का उद्देश्य दो प्राणियों को मिला कर एक करना है। जिस तरह शरीर और आत्मा का मिलन होकर ही किसी जीव का अस्तित्व सामने आता है, उसी प्रकार विवाह-सम्बन्ध द्वारा स्त्री और पुरुष मिल कर एकत्व को प्राप्त करते हैं। दोनों में समता, सादृश्य और मतैक्य की स्थापना होती है। जीवन को सुखी और पूर्ण बनाने के लिए विवाह की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है।

विवाह एक पवित्र संस्था है। यह दुनिया के सभी हिस्सों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। विवाह के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति एक नया जीवन प्रारम्भ करता है। प्रत्येक दम्पत्ति एक नये वातावरण में अपने को पाता है। वह एक नई दुनिया में प्रवेश करता है। विवाह के पहले इनका जीवन पूर्णतः भिन्न रहता है। इनके ऊपर किसी भी तरह की जिम्मेवारी नहीं होती। घर के कार्यों में वह एक सहायक के रूप में काम करता है और उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त रहता है। पर विवाह होते ही उत्तरदायित्व का भार उस पर आ जाता है। उसे नये ढंग से अपने को पुनः संगठित करना पड़ता है। पहले का जीवन पूर्णतः भंग होकर नवजीवन प्रारम्भ होता है।

विवाह होने पर दुलहिन जो कि माँ-बाप के यहां एक लड़की के रूप में थी, अब अपने माँ-बाप को छोड़कर एक नये गृह में प्रवेश करती है, जिसकी वह स्वामिनी होनेवाली है। माँ-बाप के यहाँ खेलने और खाने के सिवा वह और कुछ नहीं जानती थी। पर यहाँ उसे एक नये उत्तरदायित्व का भार ग्रहण करना पड़ता है। किन्तु ऐसी बात नहीं होती कि हठात् उत्तरदायित्व के भार से वह घबड़ा-सी जायगी, क्योंकि अब तक उसे इसके बारे में कोई अनुभव नहीं था। व्यक्ति जब तक किसी उत्तरदायित्व को ग्रहण नहीं करता, तब तक उसकी योग्यता अयोग्यता का कुछ भी पता नहीं चलता। यदि वह सफलता प्राप्त कर लेता है, तो दुनियाँ की नजरों में योग्य समझा जाता है। पर यदि

किसी कारण से असफल हो जाता है, तो उसकी गिनती अयोग्य में होती हैं। माता के घर में रहकर लड़कियाँ सभी कार्यों को देखती और सीखती हैं। पति के घर जाकर उसे स्वयं करने का अवसर मिलता है। भविष्य में उसे जो कुछ करना रहता है, उसकी पूरी शिक्षा उसे अपने माता-पिता के यहाँ प्राप्त हो जाती है। सम्मिलित परिवार में तो इस ज्ञान की और भी वृद्धि होती है। क्योंकि सम्मिलित परिवार में सभी किस्म के सभी उम्र के और सभी संबंधों के लोग रहते हैं। वहाँ कोई न कोई बच्चा अवश्य होता है। बच्चे की पालन-पोषण की व्यवस्था को वह सदा देखती रहती है और आगे अपने जीवन में माँ बनने पर उन्हीं उपायों से अपने बच्चे की देखरेख करती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि बच्चे की देख-रेख का ज्ञान उसे नहीं होता। यह अवश्य है कि उसे इसकी कोई ट्रेनिंग नहीं दी जाती। परन्तु वह जो व्यवहारिक शिक्षा देखकर प्राप्त करती है, वह ज्ञान विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा से कहीं बढ़कर होता है। प्रत्येक बच्चा जानता है कि एक दिन वह बड़ा होगा और बड़ों की भाँति वह भी कार्य करेगा। प्रत्येक युवक और युवती इस बात को जानती है कि उसे भविष्य में माता-पिता का स्थान ग्रहण करना है। अतः सबके जीवन में सतर्क होने की भावना समय से कुछ पहले ही आ जाती है। यह प्राकृतिक नियम है, इसमें किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होती।

जिस प्रकार लड़की को विवाह के पश्चात् नये उत्तरदायित्व का भार ग्रहण करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार लड़कों को भी विवाह के पश्चात् नवीन उत्तरदायित्व को संभालना पड़ता है। विवाह के पूर्व वह घर का एक बच्चा समझा जाता है, पर विवाह होने पर परिवार में उसका महत्व बढ़ जाता है और वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने लगता है। उसे अपनी चिन्ता होने लगती है। वह समझने लगता है कि अब वह अधिक दिनों तक अपने माता-पिता की छाया में नहीं रह सकता।

मां-बाप की कमाई पर ही उसे जीना नहीं है, बल्कि उसे स्वयं अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये कमाना है। उसके बाल्य जीवन की सारी स्वतंत्रता वहीं समाप्त हो जाती है। उसकी आदतों में परिवर्तन हो जाता है। अधिक आयकी ओर उसकी प्रवृत्ति दौड़ जाती है, क्योंकि उसके व्यय की मात्रा बढ़ जाती हैं। अब वह सोचता है कि उसे घर संभालना है। उसे बहुत-सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जिसे पहलेसे इनका ज्ञान होता है वह सारी समस्याओं का मुकाबिला दृढ़ता के साथ करता है, परन्तु जो पहले से अनभिज्ञ होता है वह घबड़ा जाता है तथा असफल रहता है। अतः विवाह के पहले प्रत्येक युवक और युवती का यह कर्त्तव्य होता है कि वह पहले से ही इस बात को समझ ले कि कौन-सा उत्तरदायित्व उसके ऊपर आने वाला है और उसके लिये उसे क्या करना है।

परन्तु आज की विवाह-प्रणाली कुछ ऐसी दोषपूर्ण हो गई है कि वर और वधू को अपने भविष्य के बारे में सोचने का बहुत कम अवसर मिलता है। भारत के अधिकांश विवाह ऐसे होते हैं, जिनमें युवक और युवती अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझ पाती। या यों कहिये कि उसे उसके लिये अवसर दिया ही नहीं जाता। परिणाम होता है कि तरह-तरह की समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं। आज सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने वालों की संख्या बहुत कम देखी जाती है। वैवाहिक संबंधों में असमान जोड़े की भरमार रहती है। कहीं वर पढ़ा-लिखा विद्वान होता है, तो वधू लिख-लोढ़ा-पढ़ पत्थर होती है और यदि वधू पढ़ी-लिखी होती है, तो उसे सौभाग्य से ही पढ़ा-लिखा पति प्राप्त होता है। कहीं किसी पूर्ण युवती का विवाह किसी नादान बच्चे के साथ कर दिया जाता है, तो कहीं किसी गुड़वे-गुड़िये से खेलने वाली बच्ची का विवाह किसी वृद्ध के साथ कर दिया जाता है। छोटे-छोटे ऐसे नादान बच्चों का विवाह किया जाता है कि वे अपने बारे में ही

नहीं जानते कि वे क्या हैं और आगे उन्हें क्या होना है। इस तरह बाल-विवाह और अनमेल विवाह आज की प्रधान वैवाहिक समस्या है। जो कि मनुष्य के वैवाहिक-जीवन को छिन्न-भिन्न कर रहा है।

बाल-विवाह

भारत में बाल-विवाह का बहुत अधिक प्रचलन है, छोटे-छोटे बच्चों का विवाह नित्य होता दिखाई पड़ता है। यहां तक कि दूध पीते अबोध नन्हें का भी विवाह हो जाता है। विवाह के समय ऐसा प्रतीत होता है कि गुड़वा-गुड़िया का विवाह हो रहा है। कम से कम जहाँ १६-२० वर्ष की अवस्था में विवाह होना चाहिये, वहां उस समय तक तो तीन बच्चे भी हो जाते हैं। बाल-विवाह की प्रथा पूर्वी तथा उत्तरी-पश्चिमी बंगाल और दक्षिण में विशेष रूप से प्रचलित है। मालावार और बिलकुल दक्षिण में यह नहीं है। मुसलमानों के आक्रमण के साथ इस प्रथा ने तेजी ग्रहण की और तब से क्रमशः यह बढ़ती ही गई। शारदा एक्ट के प्रभाव से बाल-विवाह में कुछ कमी हुई, परन्तु फिर भी अभी बहुत से दूध पीते अबोध बच्चों का विवाह जारी है और बाल-विवाह बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित है।

बाल-विवाह के कारण—वर्तमान समय में बाल-विवाह के दो प्रमुख कारण हैं :—(१) धार्मिक विश्वास और (२) शिक्षा का अभाव। धार्मिक विश्वास के अनुसार माना जाता है कि बिना पुत्र के स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती और पता नहीं कि इस जीवन का अन्त किस दिन हो जायगा, अतः शीघ्र विवाह-संबंध कर पुत्र उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। शिक्षा के अभाव में उक्त विचारधारा को और भी प्रश्रय मिलता है। शिक्षित समूह में ऐसी विचारधारा का सर्वथा लोप हो गया है और बाल-विवाह की संख्या भी नहीं के बराबर रह गई है। परन्तु अशिक्षित समुदाय में यह और तेजी के साथ बढ़ती जा रही है।

शिक्षा के अभाव में इसकी बुराइयों को देखते हुए भी लोग नहीं समझते हैं और ऐसा करते चले जा रहे हैं। यदि लोग शिक्षित हो जांय, तो यह समस्या आप से आप थोड़े दिनों में ही दूर हो जांय।

बाल-विवाह से उत्पन्न बुराइयाँ—बालविवाह के फलस्वरूप निम्न लिखित बुराइयां होती दिखाई पड़ रही हैं :—

(१) आबादी की वृद्धि

(२) स्वास्थ्य की खराबी

(३) दुर्बल संतान

(४) मृत्युसंख्या में वृद्धि

(५) विधवाओं की वृद्धि

बचपन में ही विवाह हो जाने से बहुत कम उम्र में युवक युवतियों का सम्बन्ध होने लगता है, जिससे बहुत छोटी अवस्था से ही बच्चे पैदा होने लगते हैं। जहाँ २५ वर्ष की अवस्था में विवाह होना चाहिए तब तक तो ४-५ बच्चे तक हो जाते हैं। इस तरह जनसंख्या की बेहद वृद्धि होती है। जनसंख्या की वृद्धि से गरीबी स्वभावतः बढ़ जाती है। जहाँ परिवार में २ व्यक्ति के लिए पर्याप्त साधन होता है वहाँ दो के स्थान पर १० व्यक्ति हो जाते हैं और परिणाम होता है किसी को भी पर्याप्त जीवनयापन की सामग्री नहीं मिल पाती।

कम उम्र में लड़के लड़कियों का संयोग होने के फलस्वरूप उनका स्वाथ्य्य निश्चित रूपसे खराब हो जाता है। आजकल जो अधिकांश युवक रोगी से दिखाई पड़ते हैं उसका एक प्रमुख कारण अपनी कच्ची अवस्था में स्त्री-संभोग है। इससे लड़के और लड़कियाँ दोनों का ही स्वास्थ्य खराब होता है। अपरिपक्व रज-वीर्य के कारण उनकी जो संतान होती है वह अति दुर्बल होती है और उनमें अधिकांश की मृत्यु प्रथम वर्ष की अवधि के पार करने के पूर्व ही हो जाती है। प्रत्येक ६ बच्चों में १ तो जन्म के प्रथम वर्ष में ही माता की गोद सूनी कर दुनिया

से चल बसता है। आज भारत में बालमृत्यु की संख्या प्रति १००० पीछे १६० है। इसका कारण है कि बाल विवाह के कारण संतान बिलकुल कमजोर होती है, जिसका जीना बड़ा ही कठिन होता है। माताओं का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण बच्चे पैदा करने के समय १००० में २० की मृत्यु हो जाती है। भारत के जनस्वास्थ्य पर बालविवाह का बहुत बुरा असर पड़ा है। युवकों की भी मृत्यु यहाँ बहुत अधिक है। जहाँ मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानी गयी है वहाँ भारत में औसत आयु २७ वर्ष के लगभग है। पुरुष की औसतन आयु २६.९१ वर्ष तथा स्त्री की आयु २६.५६ वर्ष रह गई है। बच्चे जनने के समय अधिकांश माताओं की मृत्यु होती है। प्रति वर्ष २००००० माताओं की मृत्यु बच्चा जनने के समय होती है। युवकों की भी बहुत अधिक मृत्यु होती है, जिससे विधवाओं की संख्या काफी बढ़ जाती है। विधवाओं की संख्या में अधिकांश युवती विधवाओं की रहती है।

बाल-विवाह के प्रचलित रहते हुए स्त्री-समस्या का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनेक प्रकार की बुराइयों की जड़ बना हुआ है। जब तक जड़ को नहीं खोदा जायगा, तबतक विकृत्तियाँ बनी रहेंगी। बाल-विवाह के कारण स्त्रियों के शरीर और मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके चलते न तो शरीर का पूर्ण विकास हो पाता है और न मस्तिष्क का। असामयिक सहवास के परिणामस्वरूप शरीर और मस्तिष्क दोनों ही कमजोर पड़ जाते हैं। लड़कियाँ ऋतुमती होते ही संभोग में पड़ जाती हैं। परिणाम यह होता है कि अनुभवहीन अबोध बच्चियाँ माता बन जाती हैं। उसके कष्टों और उसकी जिम्मेवारियों का ज्ञान उसे गर्भधारण के समय तक नहीं हो पाता। गर्भधारण करते ही वह रोगिनी होती है और संतान उत्पन्न करने के समय अधिकांश की मृत्यु भी हो जाती है। ऐसी अवस्था में गर्भधारण करने से गर्भस्राव भी बहुत अधिक होता है। इस तरह बाल-विवाह के चलते

स्त्रियों का शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन हो जाता है। भारत में आज जो नैतिक बल की कमी पायी जाती है उसका एक प्रधान कारण बाल-विवाह है। स्त्रियों को बाल-विवाह का विशेष दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। जब कि उसके खेलने और पढ़ने का समय रहता है, उसी समय उसे मातृत्व का असह्य बोझ उठाता पड़ता है। खेलने की अवस्था में वह क्या जाने संतान पालन ? परन्तु फिर भी उसे वह महान् उत्तरदायित्व का भार उठाना पड़ता है। घर गृहस्थी का पूरा भार उसे संभालना पड़ता है। बचपन से ही उसे असह्य परिश्रम करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में जब कि वह दुनिया से बिलकुल अनभिज्ञ रहती है; वह नहीं जानती है कि स्त्री-पुरुष का संबंध क्या है ? प्रेम क्या है और कितने प्रकार के छलप्रपंच दुनिया में हुआ करते हैं, एकाएक गुडवे-गुड़ियों से खेलते-खेलते वह एक जीते-जागते गुड़िये की माँ बन जाती है, क्योंकि उसके माता-पिता अपनी जिम्मेवारी को टालने के लिये बहुत बचपन की अवस्था में ही उसका विवाह कर देते हैं।

अनमेल विवाह

अनमेल विवाह यहाँ की एक विचित्र समस्या है। यह व्यक्ति के जीवन को सदा के लिए नीरस और दुःखद बना देता है। भारत के अधिकांश व्यक्तियों का वैवाहिक संबंध सुखी नहीं है। अनमेल विवाह के फलस्वरूप कहीं तो किसी बच्ची का विवाह किसी वृद्ध व्यक्ति के साथ कर दिया जाता है और किसी पूर्ण युवती का विवाह किसी नादान बच्चे के साथ कर दिया जाता है। यहाँ ग्राम्यगीत की वे पंक्तियाँ याद आती हैं, जिनमें ऐसे विवाह का मार्मिक चित्रण किया गया है। एक युवती अपने नादान नन्हें पति से अपनी काम-वासना की तृप्ति न होने पर कहती है :—

"सब के जे देले रामा अन धन सोनमा से,
हमरा के लरिका भतार बनवारी हो।

एके थाप मारलों कि दुई थाप मारलों से,
रोवे लागल लरिका भतार बनवारी हो।
चुप रहु, चुप रहु, ननदी-के-भईया हो,
लहरी में बोलेला हुड़ार बनवारी हो।" आदि।

विवाह कि यह वैषम्यता अनेकानेक समस्याएँ उपस्थित करती हैं। इसके चलते व्यभिचार, वेश्यावृत्ति, अवैध संबंध, अवैध मातृ-पितृत्व और अवैध बच्चों की संख्या में तेजी से वृद्धि होती जा रही है। यह वैवाहिक संबंध को सदा के लिये दुःखदायी बना देता है।

उम्र की विषमता के अतिरिक्त शिक्षा की विषमता भी वैवाहिक सम्बन्धों को नीरस बना डालती है। प्रायः देखा जाता है कि किसी पढ़े-लिखे युवक का व्याह किसी अनपढ़ युवती के साथ और किसी पढ़ी-लिखी युवती का व्याह किसी अनपढ़ युवक के साथ हो जाता है। इस तरह के अनमेल विवाह में पति-पत्नी के बीच प्रेम भावना का प्रायः लोप हो जाता है। पारस्परिक विभिन्नता के कारण एक दूसरे से खुल कर प्रेम नहीं कर पाते। दोनों के मानसिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। एक में आत्म-हीनता (Inferiority Complex) की भावना आती है तो दूसरे में आत्म-उच्चता (Superiority Complex) की। इस तरह दोनों में वास्तविक प्रेम नहीं हो पाता।

दोनों ही प्रकार के अनमेल विवाह समाज के लिए अनिष्टकर हैं, परन्तु उम्र संबंधी अनमेल विवाह तो समाज के लिए अत्यन्त घातक है। यह समाज को सर्वनाश की ज्वाला में होम देता है। पैसे के लोभ में माता-पिता अपनी छोटी अबोध बालिका को किसी वृद्ध के साथ व्याह देते हैं। वृद्ध पति अपनी युवा पत्नी को कभी भी संतोष नहीं दे सकता। इस तरह युवती का जीवन सदा के लिए बिगाड़ दिया जाता है। उसे काम सम्बन्धी प्रवंचना होती है। अपने पति से उसकी काम पिपासा

तृप्त नहीं हो पाती। अतः वह किसी युवक से प्रेम करने जाती है और इससे अवैध संबंधों की सारी बुराइयाँ उपस्थित होती हैं।

तिलक, दहेज आदि सामाजिक कुरीतियों के फलस्वरूप बहुत-सी लड़कियाँ पूर्ण युवती हो जाने पर भी अपने योग्य पति से विवाह नहीं कर पातीं। पूर्ण यौवनावस्था में उसका विवाह किसी बालक के साथ कर दिया जाता है। परिणामस्वरूप वही काम-प्रवंचना उसके सामने भी उपस्थित होती है, जो किसी वृद्ध पति के साथ विवाह होने पर होती है। ऐसी अवस्था में भी अवैध संबंध एवं उससे होनेवाली बुराइयाँ उपस्थित होती हैं। इस तरह अनमेल विवाह सभी तरह समाज को विनाश के मुख में डालता है। अनमेल विवाह के फलस्वरूप समाज में अवैध-सम्बन्ध, अवैध बच्चे, वेश्यावृत्ति, वैधव्य, परित्याग, पागलपन आदि समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। बाल-विवाह की भाँति यह भी भारतीय-समाज के लिए महान अभिशाप और कलंक है। इस भयंकर कुरीति को समाज से निकाल फेंकना ही आज समाज के हितेच्छुओं का कर्त्तव्य होना चाहिए। बाल-विवाह और अनमेल-विवाह जब तक समाज में बना रहेगा, तब तक समाज का उत्थान नहीं हो सकेगा; वह सच्चे अर्थ में सुखी नहीं हो सकेगा। जब तक इन वैवाहिक-कुरीतियों दूर नहीं किया जायगा, इनसे होनेवाले दोष बढ़ते रहेंगे और समाज भीतर से खोखला होता जायगा। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इनके खिलाफ समाज में प्रचार हो और कारणों समेत इन्हें उखाड़ फेंका जाय। तिलक-दहेज, अन्धविश्वास, अशिक्षा आदि जिन कारणों से इनका समाज में अस्तित्व बना हुआ है उन्हें समाज से निकाल फेंकना ही समाज-सुधारकों का परम कर्त्तव्य है। दुःख की बात है कि नारी-आन्दोलन का ध्यान इन बुराइयों की ओर बहुत कम गया है। नारी-आन्दोलन का प्रथम उद्देश्य तो इन महान बुराइयों को दूर करने का होना चाहिए।

पंचम अध्याय

वैधव्य

वैधव्य हिन्दू समाज का एक प्रबल अभिशाप है। पति के मरने के बाद स्त्री को यह अधिकार नहीं है कि वह पुनर्विवाह कर अपने जीवन को सुखी बनावे। उसकी अवस्था सदा के लिए दयनीय हो जाती है। उसके लिए धार्मिक उपदेश यही है कि वह सारे सुखों को त्याग कर संन्यासिनी का जीवन बितावे। अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र और अच्छे जीवन की कल्पना भी उसे नरक पहुँचा देगी। उसे समाज में दासी से भी बदतर जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वह भविष्य के लिए परिवार के किसी काम की नहीं समझी जाती। जबतक वह जीती है, परिवार अपने ऊपर एक भारी बोझ का अनुभव करता है। उसके ऊपर तरह-तरह की लांछनाएँ लगाई जाती हैं और भारी कलङ्क का टीका लगा उसे घर से निकल जाने के लिए बाध्य किया जाता है। उसे डायन कह कर पति की मृत्यु का कारण बताया जाता है और बेरहमी के साथ पीटा जाता है। लोग अपने बच्चों को उसके सामने नहीं जाने देते। यदि परिवार में कोई बीमार होता है तो उसके लिए भी विधवा को यह कह कर पीटा जाता है कि उसीने उसे मन्त्र से ऐसा कर दिया।

विधवा का दर्शन भी महा अशुभ माना जाता है। सुबह यदि किसी विधवा पर दृष्टि पड़ गई तो सारा दिन ही अशुभ माना जाता है। यात्रा के समय यदि विधवा का दर्शन हुआ तो समझा जाता है कि काम नहीं बनेगा। जानेवाले अपनी यात्रा खराब कहकर ही संतोष

नहीं किया करते बल्कि उसके लिए विधवा को काफी डाँट-फटकार बताते हैं। कभी-कभी उसे इसके लिए दण्ड भी भुगतना पड़ता है।

दक्षिण भारत में विधवाओं की स्थिति और भी दयनीय है। वहाँ उसका सिर मुंडा दिया जाता है। ब्राह्मण समाज में तो ऐसा नियम है कि १५ दिन में विधवा का सिर उस्तूरे से अवश्य साफ कर दिया जाय। अच्छे वस्त्र और भोजन उसके लिये त्याज्य हैं। आभूषण तो छूने तक में पाप समझा जाता है। सुबह विधवा का दर्शन महा अनिष्ट-कारी समझा जाता है।

सारे भारतवर्ष में विधवाओं को असहनीय अपमान सहन करते हुए दुःखी जीवन व्यतीत करना पड़ता है। यदि विधवा युवती होती है तब तो उसकी स्थिति और भी चिंताजनक होती है। धार्मिक बंधनों के कारण वह अपना पुनर्विवाह भी नहीं कर सकती। उसे अपने शेष जीवन को वेदनापूर्ण नीरस अवस्था में व्यतीत करना पड़ता है। परिवार में उसका स्थान एक दासी से भी गया गुजरा रहता है।

बाल-विधवा का जीवन सब से अधिक दर्दनाक होता है। उससे बलात् ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाता है और ऐसे वातावरण में जब कि उसकी माता और सास स्वयं भोग-विलास में रत रहती हैं। एक तरफ तो धार्मिक ठेकेदार धर्मोपदेश करते हैं कि विधवा ब्रह्मचर्य का पालन करे और दूसरी ओर वही गुप्तरूप से अपना प्रेम संदेश भेजकर स्वयं नाना प्रकार के जालों की रचना कर उन्हें फँसाते हैं और ब्रह्मचर्य भंग करते हैं। इसके अलावा देवर, जेठ, पति के मित्र आदि जो उनके सच्चे हितचिंतक कहलाते हैं, वे भी उनके ब्रह्मचर्य को भंग करते हैं और बाद को भ्रष्टा बनाकर उसे घर से निकाल देते हैं। विधवाओं के साथ अवैध-सम्बन्ध स्थापित करने में पुरुषों का अधिक हाथ होता है, परन्तु जब विधवाको गर्भ रह जाता है तो पुरुष अपने को सर्वथा अलग कर लेता है। इसका परिणाम बड़ा

भीषण होता है। विचारी विधवा को गर्भपात का सहारा लेना पड़ता है और इस प्रकार प्रतिवर्ष लाखों भ्रूणहत्यायें होती हैं। कुछ ऐसी भी स्त्रियां होती हैं जो गर्भपात कराने से डरती हैं या लाख प्रयत्न करने पर भी गर्भपात में असफल रहती हैं। ऐसी विधवाओं के लिए समाज भीषण दण्ड देने के लिये सदा तत्पर रहता है। समाज उसे पापिनी और कुल-कलंकिनी घोषित करते हुए समाज और जाति से ही नहीं वरन् घर से भी निकाल देता है। ऐसी अवस्था में वह विचारी मारी-मारी फिरती है। अब उसके सामने तीन मार्ग होते हैं, जिनमें से एक उसे अपनाना पड़ता है। (१) वह प्राण का मोह छोड़कर आत्महत्या कर लेती है। विष खाकर या कुएं, तालाब, नदी आदि में कहीं डूबकर मर जाती है। कभी-कभी उसके घरवाले और स्वयं उसके प्रेमी ही गुप्त रूप से विष खिलाकर उसे मार डालते हैं। (२) वह विधर्मी हो जाती है। मुसलमान या इसाई हो जाती है और फिर अपना पुनर्विवाह कर सुखी जीवन व्यतीत करती है। (३) वेश्या होकर रूप-हाट में अपना शेष जीवन व्यतीत करती है और इस अवस्था में वही व्यक्ति जो घृणा की दृष्टि से देखता था और धर्म का ठेकेदार होकर समाज में सम्मानित है, उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसके तलवे चाटता है और रात भर उसकी सेवा में संलग्न रहता है।

विधवा जो पुनर्विवाह कर लेती है या कर सकती है, उसकी तो कोई समस्या नहीं है। वृद्धा विधवाओं के लिए भी कोई वैसी समस्या नहीं है। समस्या तो यहां ऐसी विधवाओं की है जो युवती हैं और विवाह की इच्छा रखते हुए भी धार्मिक तथा सामाजिक बंधनों के कारण विवाह नहीं कर पाती हैं। युवक यदि विधुर होता है तो यह ज्ञात भी नहीं होता कि वह विवाहित है या कंआरा, परन्तु युवतियों पर तो ऐसा प्रतिबन्ध है कि जिसका ठिकाना नहीं। हिन्दू और जैन में यह प्रतिबंध विशेष रूप से है। १९३१ की जनगणना के अनुसार भारत में विधवाओं

की संख्या २ करोड़ थी। जैनों में हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक विधवाएं थीं। जैनों के अन्दर विधवाओं की संख्या प्रति १००० स्त्री पीछे २२१ तथा हिन्दुओं के अन्दर प्रति १००० पीछे १६६ विधवाएँ थीं। १९२१ में यह संख्या और भी अधिक थीं। १९२१ में प्रति हजार स्त्री पीछे क्रमशः २५३ और १९१ विधवाएँ थीं।

उम्र के हिसाब से बाल-विधवाओं की संख्या (प्रति १०,०००)

	५ वर्ष की	१० वर्ष की	१५ वर्ष की
हिन्दू	१२	३५	१२९
जैन	११	३३	१८१
शेष	१२	५२	१२३

५ वर्ष तक की विधवाएं

	हिन्दू		जैन	
उम्र	१९२१ ई०	१९३१ ई०	१९२१	१९३१
०—१	५९७	१०८१	१५	२०
१—२	४९४	१३४२	४	८
२—३	१२५७	२६६५	२३	१६
३—४	२८३७	७०७८	२६	२१
४—५	६७०७	१४४७१	५१	७८

१५—४० वर्ष की विधवाएं

	१९२१ ई०	१९३१ ई०
हिन्दू	५८१७७८१	५६८१०६६
जैन	४७०४१	४१६७२

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का विवाह बहुत जल्द कर दिया जाता है। १५ से ३० वर्ष की अवस्था में जहां ५० अविवाहित पुरुष मिलेंगे वहाँ स्त्रियों की संख्या मुश्किल से ४ या ५ की होगी। १६३१ के बाद के आंकड़े उपलब्ध नहीं हो सके हैं, जिनसे इस समय विधवाओं की संख्या कितनी है यह बताना कठिन है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि दिनोंदिन विधवाओं की संख्या में वृद्धि ही होती जा रही है। बाल-विवाह तथा मृत्यु संख्या में जबतक कमी नहीं हो जाती, तबतक विधवाओं की संख्या में कमी का अनुमान लगाना गलत ही होगा।

विधवाओं की संख्या में वृद्धि के कारण

१—बाल-विवाह—बाल-विवाह की अधिकता के फलस्वरूप यहां विधवाओं की संख्या में अपूर्व वृद्धि हुई है। कितने ही बच्चों का विवाह उनके जन्म के कुछ ही महीने बाद कर दिया जाता है। इसका परिणाम होता है कि कितनी ही लड़कियाँ १ वर्ष की अवस्था को भी पूरी नहीं कर पातीं कि विधवा हो जाती हैं। भारत में बाल-विधवाओं की संख्या बहुत अधिक है।

२—अनमेल विवाह—अनमेल विवाह विधवा की वृद्धि में एक बहुत बड़ा सहायक कारण है। किसी युवती स्त्री का विवाह किसी वृद्ध व्यक्ति से कर दिया जाता है जिसका परिणाम होता है कि वृद्धपति की मृत्यु विवाह के थोड़े ही दिन बाद हो जाती है और स्त्री वैधव्य जीवन व्यतीत करती है। इसके विपरीत कभी कभी पूर्ण युवती स्त्री का विवाह किसी बच्चे के साथ कर दिया जाता है और उसका भी वही परिणाम होता है। बालक अपनी कच्ची अवस्था में ही ब्रह्मचर्य का नाश कर बैठता है, जिसका परिणाम होता है कि वह रोगी हो अल्पायु हो जाता है और अकाल कालकवलित हो अपनी स्त्री को विधवा बना जाता है। इस

तरह का अनमेल-विवाह भारत में विशेष रूपसे रुपये के लोभ में होता है। माता-पिता अपने बच्चों को रुपये के लोभ में अनमेल-विवाह की फाँसी पर चढ़ा देते हैं।

३—विधवा-विवाह-निषेध—पुरुष यदि विधुर हो जाता है तो तुरत दूसरा विवाह कर लेता है, परन्तु स्त्रियाँ ऐसा नहीं कर सकतीं। विधवा होने पर धार्मिक प्रतिबंध के कारण वे पुनर्विवाह नहीं कर सकतीं। इस तरह विधवा-विवाह-निषेध के कारण आज विधवाओं की संख्या में काफी वृद्धि हो रही है।

४—युवावस्था में पुरुषों की अधिक मृत्यु :—युवावस्था में पुरुषों की मृत्यु स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है, क्योंकि प्रायः उन्हें खतरनाक कामों में रहना पड़ता है। पुरुषों में विधुरता अधिक उम्र में विशेष होती है, पर स्त्रियों में वैधव्य कम उम्र में ही अधिक पाया जाता है। अधिकांश बालिकायें ऐसी अवस्था में विधवा होती देखी जातीं हैं, जबकि वे एक वर्ष से भी कम की अवस्था में होती हैं और माँ का दूध पीने के अतिरिक्त कुछ जानतीं तक नहीं।

वैधव्य के फलस्वरूप उत्पन्न बुराइयाँ

(१) आर्थिक संकट—पति की मृत्यु के उपरांत विधवा की आर्थिक अवस्था अति दयनीय हो जाती है। आर्थिक प्रयत्न में पुरुष का ही विशेष हाथ होता है। अतः पति की मृत्यु के बाद स्त्रियों को असीम संकटों का सामना करना पड़ता है। यदि पति कुछ छोड़कर नहीं मरता, तब तो और भी भयंकर संकटों का सामना करना पड़ता है। यदि कुछ छोड़कर मरता है, तो उसका अधिकांश भाग तो उसके श्राद्ध में व्यय हो जाता है और बहुत कम विधवा के शेष जीवन-यापन के लिये बच रहता है। ऐसी विधवा जिसका पति बहुत ही धनी रहा है, वह विधवा होने पर अपने को इस अवस्था में पाती है कि

एक तो वह किसी तरह का काम नहीं कर पाती है और दूसरे उससे सहायता की अपील भी करते नहीं बनता। कम आय वाले परिवार की तो दुर्दशा ही हो जाती है।

पति की मृत्यु के उपरान्त बच्चे वाली विधवा को तो और भी आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है। छोटे-छोटे बच्चों का पालन-पोषण करने के लिये उसे दूना श्रम करना पड़ता है। उसके ऊपर इतना बड़ा बोझ आ पड़ता है कि उसे संभालना उसके लिये दुष्कर हो जाता है।

(२) स्वास्थ्य की खराबी—अपने तथा बच्चों के पालन-पोषण के लिये उसे दूना श्रम करना पड़ता है, जिसका उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सभी स्त्रियाँ शारीरिक दृष्टि से अधिक काम के योग्य होती भी नहीं। पर दिन-रात काम करना उसके लिये आवश्यक हो जाता है। इस तरह उसका स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है और वह भयंकर बीमारी का शिकार बनती है।

(३) मानसिक कष्ट—पति की मृत्यु के उपरांत विधवा के मानसिक जीवन पर काफी तनाव पड़ जाता है, क्योंकि उसके प्रेममय जीवन का अन्त हो जाता है। यदि पति परिवार का प्रधान होता है, तो उसके मरने के बाद परिवार की अवस्था बड़ी भयानक हो जाती है। परिवार के टूटने तथा कई शाखाओं में बँट जाने के कारण पारस्परिक प्रेम भंग हो जाता है। विधवा पर आर्थिक और सामाजिक उत्तरदायित्व आ पड़ता है। उसे कामेच्छा (sex) को दबाकर रखना पड़ता है। उसके मानसिक संतुलन का केन्द्र टूट जाता है। उसका संबंध सिर्फ उसके बच्चे से रह जाता है। वह अपने पति के प्रति रहने वाले सारे प्रेम को स्थानान्तरित करने की चेष्टा करती है।

(४) अनैतिकता—आर्थिक कठिनाइयों के कारण विधवा को

बाहर काम पर जाना पड़ता है। बच्चे काम करने योग्य होते ही स्कूल से हटा लिये जाते हैं और काम में लगा दिये जाते हैं। इस तरह माता और बच्चे दोनों का स्वास्थ्य तो खराब होता ही है साथ-साथ दोनों के नैतिक विकास में बड़ी कठिनाई होती है। ऐसी परिस्थिति में माता पर भयानक तनाव पड़ता है और बच्चे भी अव्यवहारिक प्रलोभन में पड़ जाते हैं। विधवा अवैध संबंध में पड़कर अवैध बच्चे भी उत्पन्न कर बैठती है। इतना ही नहीं वरन् बहुत-सी विधवाएँ रूपहाट में जा बैठती हैं। समाज के लोग जब उसे भ्रष्टा बनाकर समाज, जाति और यहाँ तक कि उसे घर से भी निकाल देते हैं, तब वेश्यावृत्ति के अतिरिक्त और कोई चारा उसके आगे नहीं रह जाता।

(५) **पारिवारिक विशृंखलता**—यदि बच्चों की संख्या अधिक होती है और वे छोटे-छोटे होते हैं तो विशृंखलता बहुत अधिक बढ़ जाती है। परिवार की अवस्था बिलकुल छिन्न-भिन्न हो जाती है। बच्चों की देखरेख और शिक्षा ठीक से नहीं हो पाती है और वे असामाजिक आचरण में पड़ जाते हैं। उनमें विकृति एवं अपराध की भावनाएँ आ जाती हैं। बच्चे शिक्षा से वंचित रहते हैं। अधिक बच्चों के होने से विधवा पर काम का बोझ अत्यधिक बढ़ जाता है, जिससे बच्चे के प्रति उपेक्षा की भावना भी आ जाती है। बच्चों की उपेक्षा के फलस्वरूप बच्चों में नाना प्रकार के दोष आ जाते हैं।

विधवाओं की देख-रेख के वर्तमान साधन तथा किये जानेवाले उपाय

आज के समाज में विधवाओं को तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। उनका सामाजिक संबंध दिन-प्रतिदिन जटिल होता जा रहा है। आज के उद्योग और कला-कौशल का स्वरूप भी कुछ इस ढंग का हो गया है कि गरीब विधवाओं के लिये तो

भीख मांगने के अलावा और कोई चारा ही नहीं रह गया है। समाज में अव्यवस्था दिनोंदिन बढ़ती ही चली जा रही है।

इस समय हिन्दुस्तान के हर हिस्से में प्रायः विधवा-आश्रम तथा अबला-आश्रम पाये जाते हैं। परन्तु उनका काम विधवाओं की सेवा अथवा देख-रेख से नहीं रहता। उनमें अधिकांश व्यापारी संस्थाएँ होती हैं, जो कि मानव का व्यापार किया करती हैं। विधवा-आश्रम की यदि आन्तरिक हालत देखी जाय, तो बड़ी ही हृदय-द्रावक प्रतीत होगी। आश्रमों में विधवाओं के साथ पशुवत व्यवहार होता है। सरकार को तो चाहिये कि वह ऐसे आश्रमों को तत्काल बन्द कर दे।

सरकार की ओर से कुछ कार्य शरणार्थी विधवाओं के लिये किये गये हैं और उन्हें मुफ्त राशन आदि देने की व्यवस्था की गई है। परन्तु जितना किया गया है, उतने से ही कुछ होने को नहीं है। अभी सरकार को बहुत कुछ और करना चाहिये। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि जहां विधवा और उनके बच्चे संबंधियों से अलग किये जाते हैं, उनके साथ किये जाने वाले व्यवहार को अच्छी तरह समझ लिया जाय और परिस्थिति के अनुसार सारी बातों को सोच लिया जाय। जो कुछ उपाय किये जांय, उनमें प्रत्येक इस दृष्टिकोण से किये जांय कि बच्चे पारिवारिक जीवन का अनुभव करें और विधवा के ऊपर ऐसा अधिक भार न पड़ जाय कि उसका स्वास्थ्य खराब हो जाय या परिवार का सारा उत्तरदायित्व ही उस पर आ पड़े। दूसरे शब्दों में ऐसे परिवारों के साथ वैयक्तिक-समाज-सेवा (Social case-work) का प्रयोग कर उनसे संबंध रखनेवाली संस्थाओं को सावधानी से काम लेना चाहिये। वह किसी बाह्य सहायता कोष या विशेष कोष से, जो विधवाओं और उनके बच्चों की देख-रेख के लिये हैं—सहायता पाती है या नहीं, इस बात की पूरी जानकारी होनी चाहिये। इसके लिये सबसे

उत्तम तरीका वैयक्तिक-समाज-सेवा का तरीका लागू किया जाना चाहिये, अन्यथा बहुत बड़ी क्षति होने की संभावना है।

विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या को कम करने के लिये निम्नलिखित उपाय काम में लाये जा सकते हैं :—

(१) काम की दशा में सुधार और स्वास्थ्य आन्दोलन

(२) बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह पर रोक

(३) विधवा-विवाह का प्रचार

मृत्यु और बीमारी विधवा की संख्या वृद्धि में प्रधान कारण हैं। आबादी के बढ़ने से लोगों का आर्थिक-जीवन इतना दुःखदायी हो गया है कि उसे दूना काम करना पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति स्वास्थ्य खोकर बीमार पड़ जाता है और अकाल काल-कवलित हो जाता है। अतः इस अकाल-मृत्यु को रोकने के लिए काम की दशा में सुधार होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य-आन्दोलन द्वारा स्वास्थ्य को उन्नत बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। यदि स्वास्थ्य पर ध्यान दिया जायगा तो लोगों की आयु लम्बी होगी और इससे वैधव्य बहुत कुछ रुक जायगा।

बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह के फलस्वरूप विधवाओं की संख्या अधिक बढ़ती है अतः ये दोनों ही तरह के विवाह बन्द हो जाने चाहिए। जब तक ये विवाह बन्द नहीं हो जाते तब तक विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त विधवा-विवाह भी जारी कराये जांय। जो विधवा युवती हो और विवाह करने की इच्छा रखती हो उसका विवाह करा दिया जाय। बाल-विधवा का तो उसी प्रकार विवाह होना चाहिए जिस प्रकार एक कुँआरी कन्या का होता है। १५ वर्ष से कम उम्र की विधवा को तो विधवा माना ही नहीं जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त विधवाओं की दशा में सुधार लाने के लिए समाज में तरह-तरह की व्यवस्था करनी चाहिए। स्वास्थ्य- आन्दोलन, श्रमजीवी क्षतिपूर्ति, बीमा, सामाजिक बीमा, बचत आदि की व्यवस्था बहुत-कुछ लाभकारी सिद्ध होगी। जितने भी विधवाश्रम या अवलाश्रम चल रहे हैं उन पर सरकार की ओर से कड़ी निगरानी होनी चाहिए। हर्ष की बात है कि उत्तर प्रदेश की सरकार शीघ्र ही इस सम्बन्ध में एक कानून बनाने जा रही है। अन्य राज्य-सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार को भी इस ओर उचित कदम उठाना चाहिए। समाज-सुधार के नाम पर मानव-व्यापार तो शीघ्र ही बन्द हो जाना चाहिए। ऐसे मामलों में सरकार का हस्तक्षेप नहीं होने का मतलब तो यही है कि सरकार भी इसे चाहती है।

षष्ठ अध्याय

वेश्यावृत्ति

वेश्याओं की समस्या दो रूप में हमारे सामने दृष्टिगोचर होती है, जिनमें एक को वेश्यावृत्ति और दूसरे को वेश्या-व्यवसाय के नाम से पुकारते हैं। बहुत से लोग रखेलीपन और अनैतिक सम्बन्ध को भी वेश्यावृत्ति में ही गिनते हैं, परन्तु वास्तव में यह वेश्यावृत्ति नहीं है। वेश्यावृत्ति तो तभी होगी जब कि यौन-सम्बन्ध व्यावसायिक आधार पर अनेक के साथ होगा। रखेलीपन में एक स्त्री प्रायः एक ही पुरुष की होती है।

वेश्यावृत्ति स्त्री या पुरुष किसी में भी हो सकती है। पर सामान्य अर्थ में यह स्त्रियों के लिए ही व्यवहृत होता है। वैज्ञानिक परिभाषा अनुसार हम कह सकते हैं कि वेश्यवृत्ति वह कार्य है जब कोई स्त्री अपने शरीर को एक से अधिक पुरुषों के काम-पिपासा की तृप्ति के लिए पुरस्कार की कामना से लगावे अर्थात् पैसे के लिए अनेक पुरुषों के साथ यौन-संबंध स्थापित करे। ऐसे संबंधों में प्रेम का सर्वथा अभाव रहता है।

वेश्यावृत्ति का विकास—यह समस्या बहुत प्राचीन काल से ही रही है। सभ्यता के उषाकाल में ही इसका जन्म हुआ है। वैदिक-काल में वार-योषित हुआ करती थी। इसी तरह वार-तिय, अप्सरा, वारांगना, गणिका, वार-बधू, वार-नारी, वार-मुखी, देवदासी, नाइक, रूपाजीवा आदि विभिन्न नामों से विभिन्न समयों में वेश्याएँ रही हैं। ट्रावनकोर, मैसूर, मद्रास, गोआ आदि स्थानों में यह पेशा वंश-परम्परानुसार चल पड़ी है। मध्ययुग में तथा कुछ दिनों पूर्व तक देवदासियों

की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित रही है। देवदासियों का देवताओं की मूर्ति के साथ अथवा किसी प्रतीक के साथ विवाह करा दिया जाता था और पण्डे-पुजारी एवं अन्य लोग उससे अपनी काम-पिपासा की तृप्ति करते थे। वह देवता की स्त्री समझी जाती थी और उससे जो संतान होती थी वह देवता की सन्तान समझी जाती थी। वेश्यावृत्ति का यह स्वरूप आदि काल से ही रहा है। मध्ययुग में तो इसका व्यापारिक स्वरूप नर्तकी, गायिका तथा मनोरञ्जनकर्तृ के रूप में काफी प्रचलित रहा है।

मुस्लिम-काल में वेश्यावृत्ति की वृद्धि तेजी से हुई, क्योंकि मुस्लिम का जीवन सदा विलासपूण रहा है। मुसलमानों के पहले वेश्यावृत्ति का आधार धार्मिक था, पर उस युग के आते ही इसने पेशे का रूप धारण किया क्योंकि एक तो मुसलमान अपने साथ बहुत कम स्त्रियाँ लाये थे और दूसरे उनका चरित्र भी कुछ उसी ढंग का था।

औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इस प्रथा की और भी वृद्धि हुई, क्योंकि शहरों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक हुई। सिपाहियों में वेश्यानुरागियों की संख्या सर्वाधिक पाई जाती है। देर से विवाह की प्रथा चलने पर देर से विवाह करनेवाले भी अधिक वेश्यागामी होते नजर आये।

वेश्यावृत्ति की एक प्रवृत्ति होती है जिसके कारण यह समस्या और भी उग्र होती है। विवाह में दो प्राणी के भाव परस्पर बंधे होते हैं पर वेश्यागमन में दो व्यक्तियों के भावों में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। प्रेम के स्थान पर वहाँ कामुकता तथा अर्थोपार्जन का लक्ष्य रहता है।

वेश्या-व्यवसाय संगठित रूप से चलता है और उसके पीछे बहुत से कर्मचारी होते हैं। व्यवसाय संचालक या व्यवस्थापक, मकान मालिक, एजेण्ट (घूमनेवाले), पुलिस स्टाफ का अंग, डाक्टर (गुप्त रूप से इसमें हाथ बटानेवाले), दलाल आदि बहुत से लोग इस व्यवसाय में हाथ

बटाते हैं। इस तरह वेश्यागृहों में वेश्या को बहुत कम मिलता है। वह जो कुछ आय करती है, उसका सिर्फ १/१० उसे प्राप्त होता है और बाकी अन्य कर्मचारी खा जाते हैं। वेश्यागृहों में वेश्या अपने मालिक की गुलाम बन जाती है।

आज्ञा-पत्र-प्राप्त (Licenced) वेश्याओं की अपेक्षा बिना आज्ञा-पत्र-प्राप्त (Unlicenced) वेश्याओं की संख्या अधिक होती है। करीब-करीब यह संख्या दसगुणी अधिक होती है। वैयक्तिक वेश्या-व्यवसाय में कुट्टनी की स्थिति अधिक कपटपूर्ण होती है। यही दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। कुट्टनी के कानूनी सलाहकार भी होते हैं। होटलवाले, टैक्सी-ड्राइभर, रिक्सा ड्राइभर, तांगे, इक्केवाले आदि लोग भी इस संगठन में शरीक होते हैं।

इन दिनों वेश्या-वृत्ति की अपेक्षा वेश्या-व्यवसाय की अधिक वृद्धि हो रही है। सबसे अधिक खतरनाक इसका वह स्वरूप होता है जो गुप्त किस्म का होता है। आगन्तुक को इसमें सुरक्षा का एक मिथ्या भ्रम होता है, परन्तु वास्तव में यह बीमारी का प्रसार राह चलते करती है। गलियों में रहने वाली कुट्टनी और सलाहकार खुले रूप में अपना कर्त्तव्य करती हैं। इस तरह यह समाज के लिए अधिक खतरनाक होती है। भारत के प्रायः सभी नगरों तथा शहरों में इन दिनों चकलाघर तथा वैयक्तिक वेश्या-गृह बन गये हैं। आधुनिक समाज के लिए यह सबसे अधिक अनिष्टकर है। ऐसे चकला-गृहों में प्रमाणित वेश्याएँ नहीं होतीं वरन् यहाँ वे लड़कियाँ रहती हैं जो अच्छे-अच्छे घरों की होती हैं। विलासी-जीवन की इच्छा से अच्छे घरों की कुवाँरी लड़कियाँ गुप्त रूप से वेश्या-वृत्ति को अपनाती हैं। ये लड़कियाँ घूमने के बहाने से घर से निकलती हैं और ऐसे घरों में अपने समय पर पहुँचती हैं। इस तरह माता-पिता तथा अभिभावक को भी पता नहीं होता और लड़कियों का गुप्त-व्यवसाय चलता रहता है। यद्यपि ऐसे

घर कानूनी दृष्टि से अवैध हैं और समय-समय पर पुलिस उनपर छापा भी मारती है, परन्तु प्राय: देखा जाता है कि पुलिस जानते रहने पर भी इस लिए उसमें हस्तक्षेप नहीं करती कि उनका भी उसमें हिस्सा होता है।

वेश्या-व्यवसाय का शेयर-बाजार भी कहीं-कहीं चलता है। शेयर की खरीद-बिक्री भी चलती है और प्रतियोगिता भी चलती है। पूँजी-पतियों का इसमें काफी हाथ रहता है। जितने व्यवसायी इसमें लगे होते हैं उनमें आपसी प्रतिद्वन्द्विता भी चलती है। इसके सारे कार्य अन्य व्यवसाय की भाँति ही चलते हैं। फर्क सिर्फ इतना ही होता है कि कानूनी प्रतिबन्ध होने के कारण प्रत्यक्ष रूप में नहीं वरन् टट्टी की ओट में सारा व्यापार चलता है। अन्य व्यवसायों की भाँति इसमें भी वेतन, काम के घण्टे, बोनस आदि की व्यवस्था रहती है। अमेरिका में कुछ दिनों तक यह प्रकट रूप से चला, पर अब वहाँ भी छिपे रूप में ही चलता है। ऐसे कार्य आज सभ्य समाज में विशेषकर वैज्ञानिक मर्दन-स्नान (Massage-bath) ; Health cleaning, Weight reduction, टर्किश-बाथ आदि सुन्दर-सुन्दर नामधारी केन्द्रों में जिसे आसानी से लोग समझ भी नहीं पाते तथा होटल, रेस्तोरां, क्लब, नाच-गृह, संगीतालय आदि स्थानों में टट्टी की ओट से चलता रहता है। ऐसे कार्यों को चलाने के लिए पूंजीपति रंगरूटनियों की भर्ती करते हैं। इन संस्थाओं में सुन्दर-सुन्दर लड़कियाँ मासिक वेतन के आधार पर नियुक्त की जाती हैं। नर्स, अध्यापिका, गृह-सेविका आदि के रूप में उनकी नियुक्ति होती है। बहुतसी लड़कियाँ तो धोखे से इसमें आ जाती हैं, क्योंकि नर्स, अध्यापिका, गृह-सेविका आदि के कामों के लिए अखबारों में विज्ञापन देकर उन्हें बुलाया जाता है और जब उनकी नियुक्ति हो जाती है, तब वह अन्त समय में वास्तविकता को समझ पाती हैं और जब कि आत्मसमर्पण के अलावा और कोई चारा उनको

नहीं रह जाता। तरह-तरह की धमकी देकर भी उसे फँसाया जाता है। किसी-किसी लड़की को राह चलते उठा लाया जाता है और उससे कहा जाता है कि यदि वह वैसा न करेगी तो उसे जान से हाथ धोना पड़ेगा अथवा समाज में उसे दुर्नाम किया जायगा। इसके अतिरिक्त धोखे की टट्टी-सी एजेंसियों द्वारा जो कि काम दिलाने वाली एजेंसियाँ कही जाती हैं, इनकी भर्ती की जाती है। उम्मीदवार की शक्ल-सूरत और उम्र को देखकर वे अपने मतलब की लड़कियाँ चुनकर ऐसे व्यवसायों में भेज देते हैं, जहाँ कि उनका सर्वनाश किया जाता है। कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े-बड़े शहरों में ऐसे व्यवसाय बहुत अधिक चल पड़े हैं।

वेश्या-व्यवसाय जापान में पूँजीपतियों द्वारा गैशा (गाने वाली) प्रथा के रूप में चलाया जाता है। वहाँ भी टट्टी की ओट में शिकार खेला जाता है। प्रत्यक्ष रूप से पूँजीपति गाने वाली लड़कियों को संगठित कर गान-व्यवसाय चलाते हैं और परोक्ष रूप में वेश्या-वृत्ति कराते हैं।

इस तरह वेश्या-व्यवसाय आजकल प्रायः सभी देशों में चल पड़ा है। रूस को छोड़ कर दुनिया के सभी सभ्य देशों में वेश्यायें पाई जाती हैं। वेश्या-व्यवसाय में व्यवसाय को चलाने वाले मैनेजर या मालिक वेश्या का पूरा शोषण करते हैं और काफी तकलीफ देते हैं। अमेरिका के देश्या-व्यवसाय की चर्चा करते हुए श्री जान लुईस गिलिन ने अपनी 'Social Pathology' नामक पुस्तक में लिखा है—"Those who control her in the business, exploit her in every possible way. They not only take part of her earnings, but they sell her finery and clothes at exorbitant prices, charge her outrageous room rent, and prices for board equal to those of the finest

hotels. Often they beat her cruelly; keep her in constant fear; they degrade her to the lowest levels of brutality, and at last she can no longer serve their lust for money they cast her into the street."

अर्थात् वेश्या-व्यवसाय को चलाने वाले सभी सम्भव उपायों से वेश्याओं का शोषण करते हैं। वे सिर्फ उसकी आय में ही हिस्सा नहीं बँटाते, वरन् उसके आभूषणों और वस्त्रों को ऊँचे दामों पर बेचते हैं, उसके कमरे का बहुत अधिक किराया लेते हैं तथा सभी सामानों का एक सर्वोत्तम होटल का दाम लेते हैं। वे प्रायः उसे क्रूरता के साथ पीटते हैं, हमेशा भय दिखाते हैं, उसे अपमानित करने में पशुता को भी मात कर देते हैं और अन्त में जब वह उनकी द्रव्य-पिपासा को शान्त नहीं कर पाती है, तो वे उसे वहाँ से निकाल देते हैं।

आरम्भ में आर्थिक लोभ के वशीभूत होकर स्त्री वेश्या-वृत्ति को ग्रहण करती है, पर बाद में उसे पता चलता है कि वहां उसकी कैसी दयनीय दशा होती है। बाद में वह उस पेशे से निकलना चाहती है, पर जब एक बार वह पड़ जाती है निकलना दुष्कर हो जाता है। जिस वक्त वह पेशे में प्रवेश करती है, उस वक्त वह पैसे की मुहताज रहती है और सोचती है कि वेश्या-वृत्ति से उसकी समस्या हल हो जायगी, परन्तु वह पैसे की मुहताज तो बनी ही रहती है, इसके अतिरिक्त भयंकर गुप्त से ग्रस्त होकर अपने स्वास्थ्य तथा आयु को क्षीण करती है और अन्त में दर-दर मारी फिरती है। इस तरह आदि से अन्त तक कभी भी वह अपने जीवन को सुखी नहीं बना पाती।

वेश्यावृत्ति अपनाने के कारण

वेश्यावृत्ति समाज की उपज है। परिस्थिति के फलस्वरूप अनैतिक सम्बन्धों से यह उत्पन्न होती है। तरह-तरह की परिस्थिति का प्रभाव

इस समस्या का सहायक होता है। इसके कारणों पर ध्यान देते हुए हमें तरह-तरह के कारण दिखाई पड़ते हैं। किसी न किसी कारण से बाध्य होकर स्त्री इस पेशे को अपनाती है। मोटे रूप से हम इसके कारणों को चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) आर्थिक कारण	(३) वैयक्तिक कारण
(२) सामाजिक कारण	(४) पारिवारिक कारण

आर्थिक कारण

वेश्यावृत्ति को अपनाने में आर्थिक कारण प्रधान हाथ रखता है। आर्थिक कठिनाइयों से बाध्य होकर स्त्री को यह घृणित पेशा अपनाना पड़ता है। भूख की ज्वाला को शान्त करने के लिए स्त्री को अपना शरीर बेचना पड़ता है। पहले के समाज में भी आर्थिक कारणों की ही प्रधानता रही है।

वेश्यावृत्ति के कारणों का भिन्न-भिन्न बहुत से विद्वानों ने अध्ययन किया और सभी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि अधिकांश वेश्याएं आर्थिक कारणों से ही वेश्यावृत्ति को अपनाती हैं। सब से पहले पेरिस नगर में Parent Duchatelet ने वेश्यावृत्ति का व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया। उन्होंने ५००० वेश्याओं का अध्ययन करते हुए बताया कि गरीबी, बहकावे तथा माता-पिता की मृत्यु के फलस्वरूप कोई अवलम्ब न रहने के कारण अर्थात् आर्थिक कारण से ७५% स्त्रियों ने इस पेशे को ग्रहण किया। ब्रसेल्स में ५०% वेश्याएँ आर्थिक कारण से इस पेशे में आईं। इसी तरह जर्मनी, इटली, अमेरिका, इंगलैंड आदि देशों में वेश्याओं के अध्ययन के फलस्वरूप यही निष्कर्ष निकला कि वेश्या होने के जितने भी कारण होते हैं, उनमें आर्थिक कारण की ही प्रधानता रहती है। राकफेलर ने १९१५ में वेश्यावृत्ति की रिपोर्ट देते हुए बताया

कि ६२१ वेश्याओं में कुछ ही ऐसी थीं जो अन्य कारणों से वेश्या हुई थीं, बाकी सब की सब आर्थिक कारणों से ही वेश्या हुईं। आर्थिक लाचारी स्त्रियों को वेश्या होने के लिए बाध्य कर देती है।

आर्थिक कारण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से स्त्रियों को वेश्या बनाते हैं। कुछ कारण हमें ऐसे भी दिखाई पड़ते हैं, जो आर्थिक कारण में प्रत्यक्ष रूप से नहीं आते, परन्तु परोक्ष रूप में उनके मूल में भी आर्थिक कारण ही छिपा रहता है। घरेलू नौकरियों में लगी लड़कियाँ, मजदूरी करनेवाली, सेविकाएँ, सिनेमा में काम करनेवाली, नर्स तथा अन्य नौकरियों में लगी लड़कियाँ प्रायः अपने ऊपर के कर्मचारियों तथा मालिकों द्वारा भ्रष्टा बनायी जाती हैं और परिणाम स्वरूप उन्हें समाज बहिष्कृत होकर अन्त में वेश्यावृत्ति को अपनाना पड़ता है। इन नौकरियों के पीछे बहुत-सी लड़कियों को धोखा खाना पड़ता है और उनके अनजाने ही उनकी नियुक्ति वेश्यागृहों में हो जाती है। बहुत-सी लड़कियाँ अपने माता-पिता तथा पति द्वारा इस काम के लिए प्रोत्साहित की जाती हैं। परन्तु सब पर गौर करने पर पता चलता है कि सब के मूल में एक मात्र आर्थिक कारण ही दिखाई पड़ता है। आर्थिक कारण अन्य बहुत से कारणों को उत्पन्न करता है और उन कारणों का सीधा असर पड़ता है। डाक्टर केथेराइन डेविस (Dr. Katharine Devis) ने न्यूयार्क स्टेट रिफार्मेटरी में विस्तृत अध्ययन करते हुए बताया कि वहाँ की लड़कियों ने अपने वेश्या होने के ६७१ भिन्न भिन्न कारण बताये, परन्तु किसी ने भी सीधा आर्थिक कारण न बताया यद्यपि सब के मूल में आर्थिक कारण ही था। सिर्फ १६ ने आर्थिक कारणों को स्वीकार किया।

पहले कहा जा चुका है कि गरीबी सभी बुराइयों की जड़ है। आर्थिक अवस्था अच्छी न होने के कारण जब निम्न लिखित बुराइयों का सामना करना पड़ता है, तो वेश्या होने की बहुत बड़ी सम्भावना रहती है—

(क) विवह की असमर्थता और घर न बसा सकना—तिलक-दहेज आदि कुरीतियों के फलस्वरूप अर्थाभाव में बहुत-सी लड़कियाँ कुमारी रह जाती हैं। काम प्रवंचना के फलस्वरूप वे अपने को सम्भाल नहीं पातीं और अवैध सम्बन्धों में पड़कर वेश्या बनती हैं।

(ख) प्रेम का अभाव—आर्थिक कठिनाइयों के कारण पति-पत्नी एक दूसरे को सामान्य रूप से प्यार नहीं कर पाते। उनका सारा समय आर्थिक कठिनाइयों को हल करने में ही व्यतीत होता है। इस तरह जब सामान्य प्यार समाप्त हो जाता है, तो स्त्री उसका पूरक ढूंढ़ती है और फलस्वरूप वह कुमार्गगामिनी होकर अन्त में वेश्या हो जाती है।

(ग) वैवाहिक जीवन का ठीक न होना—सदा आपसी कलह बनी रहती है और उस कलह से ऊब कर स्त्री घर से निकल पड़ती है तथा वेश्यावृत्ति को अपनाती है।

(घ) बुरे घर—घर का संकीर्ण होना, गंदे वातावरण में घर होना, सघन वास, घर के पास स्थान की कमी आदि कारणों से अनैतिकता अधिक फैलती है और अनैतिकता के फलस्वरूप वेश्या होने की अधिक सम्भावना रहती है।

सामाजिक कारण

समाज में बहुत से ऐसे सामाजिक नियम हैं, जिनका बुरा प्रभाव पड़ता है और फलस्वरूप स्त्रियों के वेश्या होने की सम्भावना रहती है। हिन्दू समाज गिरे को उठाना नहीं जानता, बल्कि उसे ऊपर से और भी दबोचना जानता है।

(क) नैतिकता का द्विगुण स्तर—स्त्रियों पर नैतिकता का दूना भार लादा जाता है। समाज में उसकी सदा उपेक्षा होती है। उसे तरह-तरह के कष्ट दिये जाते हैं, जिनसे ऊब कर वह घर से निकल पड़ती है।

(ख) धार्मिक नियम पुरुषों के पक्ष में :—धार्मिक दृष्टि से भी

स्त्रियां पुरुषों की गुलाम समझी जाती हैं। उन्हें सदा पुरुषों के अधीन रहना चाहिये यह धार्मिक मन्त्र है। लोगों की आम प्रवृत्ति है कि स्त्री भोग-विलास की सामग्री है। इसी के लिए ईश्वर ने उसे बनाया है।

(ग) बाल-विवाह—बाल-विवाह के फलस्वरूप विधवाओं की संख्या बढ़ती है। ऐसी बहुत-सी बाल-विधवाएँ होती हैं, जिन्हें अपने विवाह के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जब वह युवती होती है तो उसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन हो जाता है। ऐसे वातावरण में जहाँ कि उसी की उम्र की अन्य सभी लड़कियां सांसारिक आनन्द ले रही हों, उसके लिए संयम से रहना मुश्किल होता है। परिणामस्वरूप वह किसी युवक से प्रेम करने लग जाती है और अन्त में वेश्यावृत्ति ही उसका एकमात्र सहारा रह जाता है। इसके अतिरिक्त विधवा का समाज में काफी तिरस्कार और अपमान किया जाता है। घर के लोग उसे घर से निकलने के लिए विवश कर डालते हैं। जब वह घर से निकाली जाती है या किसी पुरुष के द्वारा उसका सतीत्व भंग किया जाता है, तो वेश्यावृत्ति की ओर बढ़ना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है।

(घ) विधवा-विवाह-निषेध—भारत की अधिकांश आबादी में विधवा-विवाह नहीं होता। जिस समाज में विधवा-विवाह चलता है, उसमें वैधव्य के कारण वेश्यावृत्ति की ओर बढ़ने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु जहाँ विधवा-विवाह नहीं चलता वहाँ ऊपर कही गई बुराइयों के फलस्वरूप वेश्यावृत्ति बढ़ती है।

(ङ) दहेज-प्रथा—दहेज-प्रथा के फलस्वरूप बहुत-सी लड़कियाँ कुंआरी रह जाती हैं। माता-पिता उनका विवाह कराने में असमर्थ रह जाते हैं। इस तरह एक अर्से तक वह ब्रह्मचर्य का पालन करती है पर जब नहीं रहा जाता, तब किसी युवक के प्रेम-पाश में पड़ कर निकल भागती है और अन्त में वेश्या बनती है।

(च) अनमेल विवाह—कहीं लड़की युवती तो उसका पति बच्चा और कहीं लड़की बच्ची तो उसका पति वृद्ध, इस तरह के बहुत से विवाह होते हैं। ऐसी अवस्था में स्त्रियों के कुमार्गगामिनी होने की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। बच्ची जब तक युवती होती है, उसका पति स्वर्ग का रास्ता लेता है। बच्चा पति जब तक बड़ा होता है, तब तक युवती के लिए प्रतिक्षा करना असम्भव हो जाता है।

वैयक्तिक कारण

वैयक्तिक कारणों के अंदर हम निम्नलिखित कारणों को ले सकते हैं :—

(१) अतिशय कामोत्तेजना।

(२) विलासी जीवन की इच्छा।

(३) मद्यपान।

(४) अविकसित-चित्तता।

(५) शारीरिक और बौद्धिक विकास में असमानता।

(६) समय के पहले कामवासना (Sex) का अनुभव।

कभी-कभी किसी स्त्री में काम-वासना बहुत अधिक पाई जाती है। सामान्य तरीके से जब उसे तृप्ति नहीं मिलती, तो वह वेश्यावृत्ति को अपनाकर अपनी उत्कट कामवासना को तृप्त करती है।

बहुत-सी स्त्रियों में विलासपूर्ण-जीवन बिताने की इच्छा होती है और वह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए वेश्यावृत्ति को ही सरल मार्ग समझती है। बहुत-सी लड़कियाँ सिनेमा की अभिनेत्री बनकर विलास-पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहती हैं। सिनेमा में उसके मालिक और मैनेजर द्वारा उसका सतीत्व भंग होता है। अन्त में उसे वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पड़ती है। विलासी-जीवन की इच्छा रखने के फलस्वरूप कलकत्ता और बम्बई में बहुत-सी शिक्षित लड़कियां इस कार्य को गुप्त रूप से चलाती हैं।

मद्यपान के फलस्वरूप बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मद्यपान करनेवाले व्यक्ति को भले-बुरे का ज्ञान नहीं रह जाता। वह अत्यन्त कामी हो जाता है। जब स्त्रियों में मद्यपान की चाट पड़ जाती है, तो वह बिना भ्रष्ट हुए नहीं रह सकती। उसका नैतिक पतन हो जाता है और वह अधिक से अधिक पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। अन्त में वह वेश्या-वृत्ति को ग्रहण करती है।

अविकसित-चित्तता के फलस्वरूप लड़कियाँ आसानी से बुरी संगति में पड़ जाती हैं। वह मनचले युवकों द्वारा आसानी से फुसलायी जा सकती है और भ्रष्ट की जा सकती है। भ्रष्टा हो जाने पर उसके सामने वेश्यावृत्ति का ही मार्ग सबसे सरल रह जाता है। शारीरिक और बौद्धिक विकास में असमानता के फलस्वरूप भी यही बुराई होती है। शारीरिक विकास अधिक हो जाता है और बौद्धिक विकास उम्र के हिसाब से कम होने के फलस्वरूप लड़कियां सांसारिक बातों को नहीं समझ पातीं और मनचले लोग उन्हें आसानी से फुसला कर भ्रष्ट कर डालते हैं। इसी प्रकार यदि समय के पहले ही कामवासना का अनुभव होता है तो वह भी लड़कियों के नैतिक पतन का कारण होता है और लड़कियाँ वेश्या हो सकती हैं।

पारिवारिक कारण

पारिवारिक कारणों के अन्दर हम निम्नलिखित कारणों को ले सकते हैं :—

(१) परिवार का बुरा वातावरण।
(२) माता-पिता का व्यवहार, उपेक्षा, क्रूरता।
(३) वैवाहिक सम्बन्ध ठीक न होना।
(४) प्रेम तथा मनोरञ्जन का अभाव।
(५) पति द्वारा परित्याग।
(६) पति की कठोरता।

(७) वैधव्य-जीवन।

(८) माता-पिता की मृत्यु।

(९) माता-पिता का शराबी होना।

पारिवारिक वातावरण का व्यक्ति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जैसा परिवार का वातावरण होता है, वैसा ही व्यक्ति के व्यक्तित्व पर असर होता है। यदि परिवार का वातावरण अच्छा नहीं रहता तो व्यक्ति तरह-तरह की बुराइयों में पड़ सकता है तथा अनैतिक हो सकता है। लड़कियों के लिये बुरा वातावरण और भी खतरनाक होता है। वह बहुत शीघ्र अनैतिक हो सकती है और बुरी संगति में पड़ कर वेश्या-वृत्ति में जा सकती है। परिवार में माता के अभाव में अथवा पिता के अभाव में लड़कियों की काफी उपेक्षा होती है। वह पग-पग पर प्रवंचित की जाती है जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। माता-पिता का कठोर व्यवहार भी उसे घर से निकलने के लिए विवश करता है। बहुत से माता-पिता अपनी लड़कियों के साथ बहुत ही क्रूर बर्ताव करते हैं। परिणाम होता है कि वह घर से निकल पड़ती है। घर से निकलने पर वह प्रायः बुरी संगति में पड़ जाती है और पतित होकर अन्त में वेश्यावृत्ति ग्रहण करती है। बम्बई में बहुत से माता-पिता अपनी लड़कियों से वेश्यावृत्ति कराते हैं। बाहर से प्रतिष्ठित दिखाई पड़नेवाले व्यक्ति अपनी लड़कियों की कमाई पर जीवन-निर्वाह करते हैं। अधिष्ठाता अथवा पालक माता-पिता अपने चंगुल में एक से अधिक लड़कियों को रखते हैं। वहाँ भले घराने की बी० ए० और एम० ए० पास सुशिक्षित लड़कियाँ भी वेश्यावृत्ति में पाई जाती हैं। फिल्म अभिनेत्रियाँ और नाचनेवाली लड़कियां हजारों की संख्या में गुप्त रूप से बम्बई में वेश्यावृत्ति करती हैं। बम्बई के बदनाम क्षेत्रों में ३०००० स्त्रियां गुप्त रूप से वेश्यावृत्ति करती हैं।

वैवाहिक सम्बन्ध ठीक न होने से प्रेम का सर्वथा अभाव रहता है।

दम्पत्ति में सदा झगड़ा होता रहता है और झगड़े के परिणाम-स्वरूप कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है कि स्त्रियाँ घर से निकल पड़ती हैं और रूपहाट की शोभा बढ़ाती हैं। प्रेम तथा मनोरञ्जन के अभाव में स्त्रियाँ प्रायः दुश्चरित्र हो जाया करती हैं। बहुत अच्छे घराने की स्त्रियाँ जिनके पति सदा रुपये के पीछे पागल रहते हैं और स्त्रियों पर ध्यान नहीं दे पाते, क्योंकि उनके पास प्रेम करने का समय बहुत कम होता है या किसी अन्य स्त्री के चक्कर में रहते हैं; प्रायः मनोरंजन और प्रेम के अभाव में नौकरों, खोंचेवालों, साधु, फकीर, जादू-टोनेवालों तथा अन्य किसी के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। नतीजा इसका यह होता है कि पति द्वारा परित्यक्त होकर या पति के क्रूर बर्ताव से ऊब कर वेश्यावृत्ति को ग्रहण करती है। कभी-कभी अन्य किसी कारण से भी पति परित्याग कर देता है तथा क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है। शराबी पति अक्सर पत्नी को क्रूरता से पीटता है और शराब के लिए कहीं से रुपये लाने को कहता है। ऐसी अवस्था में सती-साध्वी स्त्री भी ऊब जाती है और अन्त में उसे घर छोड़ना पड़ता है। हिन्दू स्त्रियों को घर छोड़ने पर शरण देनेवाला कोई नहीं होता। परिणाम होता है कि उसे वेश्यावृत्ति की शरण लेनी पड़ती है।

वैधव्य-जीवन के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है। विधवा किस प्रकार वेश्यावृत्ति को ग्रहण करती है, इस पर अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह गई है। माता-पिता की मृत्यु के फलस्वरूप लड़कियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। जन्म से ही लड़कियों की उपेक्षा होती है। यदि माता-पिता उसके बचपन में ही मर जाते हैं, तब तो उसकी और भी अधिक उपेक्षा होने लगती है। उपेक्षा के फलस्वरूप वह बहुत शीघ्र बुरी संगति में पड़ जाती है। इसी तरह जहाँ माता-पिता शराबी होते हैं, वहाँ लड़कियाँ बहुत शीघ्र दुराचरण में

पड़ जाती हैं। शराब और दुराचरण का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि दिन और रात का। शराबी माता-पिता के होने से घर का वातावरण ऐसा विषाक्त हो जाता है कि उस विषाक्त वातावरण में लड़कियों के सचरित्र होने की आशा नहीं की जा सकती। शराब के फलस्वरूप अनैतिकता फैलती है और अनैतिकता का अन्तिम परिणाम प्रायः वेश्यावृत्ति ही हुआ करता है

वेश्यावृत्ति का समाज पर प्रभाव

वेश्यावृत्ति एक भयंकर सामाजिक बुराई है। यह समाज को विनाश के मुख में ले जा रही है। जो व्यक्ति वेश्यागामी होता है, वह वेश्या से बीमारी मोल लेकर अपने परिवार को देता है। इस तरह एक-एक वेश्या सैकड़ों परिवारों को अपनी बीमारी उपहार भेंट करती है। वेश्या अपनी आय को बढ़ाने के लिये अधिक से अधिक पुरुषों से संबंध करती है। अति मैथुन के फलस्वरूप उसे गुप्तांग-रोग (venereal disease) का शिकार होना पड़ता है। बीमारी से मुक्ति पाने के प्रयत्न में खर्च काफी बढ़ जाता है और उसकी पूर्ति के लिये उसे और भी अधिक पुरुषों से संबंध करना होता है। परिणाम होता है कि बीमारी और भी बढ़ जाती है। इस तरह बीमारी बढ़ती ही चली जाती है और एक दिन वह ऐसी अवस्था में भी पहुँच जाती है कि वह उस पेशे के लायक भी नहीं रह जाती है।

गुप्त-रोग से ग्रसित वेश्या के साथ जितने भी व्यक्ति संभोग करते हैं, उनमें कोई भी इस बीमारी से नहीं बच पाता। यह रोग दो प्रकार का होता है :—(१) सुजाक (Gonorhea) और (२) गर्मी (Syphilis)। सुजाक का जर्म सीधे यौन संबंधों से प्रभाव डालता है। इसके लिये नर्म और अन्धेरा वातावरण सहायक होता है। २४ घण्टे से लेकर सात दिन तक पीव बनता है। इसमें तीव्र वेदना होती है। गर्मी का जर्म यौन संबंधों के अलावा छूत से भी प्रभाव डालता है। जहाँ इस

रोग से ग्रस्त व्यक्ति पेशाब करता है, वहाँ यदि दूसरा स्वस्थ व्यक्ति पेशाब करने बैठता है, तो उसे भी बीमारी पकड़ सकती है। रोगी के कपड़े व्यवहार में लाने से भी रोग पकड़ने का खतरा रहता है। यह सुजाक की अपेक्षा अधिक भयंकर बीमारी है। गुप्तांग-रोग की दूसरी अवस्था में गाठिया आदि बीमारी हो जाती है। पुनः इससे अन्धापन आदि तरह-तरह की बीमारियाँ होती हैं। यह बीमारी प्रायः अधिकांश वेश्याओं को रहती है। मिस डेविसने वेडफोर्ड में ६४७ वेश्याओं का अध्ययन कर बताया कि २०·६६% वेश्याएँ गुप्त-रोग से पीड़ित थी।[1] फिर ४६६ वेश्याओं का सावधानी के साथ अध्ययन करने पर पता चला कि उनमें सिर्फ १०% इस बीमारी से मुक्त थीं।[2] डाक्टर फरनाल और उसके साथियों ने अध्ययन कर इस बात का पता लगाया कि ४२·५% वेश्याओं को गर्मी की बीमारी थी।[3] इसी तरह यूरोपीय देशों में भी अध्ययन किया गया और उसके फलस्वरूप ज्ञात हुआ कि सभी देशों में अधिकांश वेश्याएँ और वेश्यागामी इस बीमारी से पीड़ित थे।

गुप्त-रोग के फलस्वरूप पारिवारिक सौख्य जाता रहता है, वेश्या से वेश्यागामी को और उससे उसके परिवार को बीमारी मिलती है। इसके फलस्वरूप वैवाहिक-संबंधों में तनाव उत्पन्न हो जाता है। पारिवारिक कलह बढ़ जाती है तथा तरह-तरह की बुराइयाँ फैलती हैं। इस व्यसन में पड़कर व्यक्ति अनैतिक हो जाता है। ऐसे व्यक्ति अपनी स्त्री से प्रेम नहीं कर सकते। उसके हृदय में सबके प्रति संदेह होने लगता है। वह शराबी हो जाता है। जान लुईस के शब्दों में "वेश्यावृत्ति व्यक्ति को अतःपतन की ओर ले जाती है, पारिवारिक संबंधों को भंग कर देती है और समाज में भयानक बीमारियों को

1. Gillin—Social Pathology, P. 316
2. Ibid, P. 316
3. Ibid, P. 316

फैला देती है।"[1] इस तरह समाज को विकृत करने में वेश्या-वृत्ति का बहुत बड़ा हाथ है। वेश्यावृत्ति के फलस्वरूप आज समाज का नक्शा ही बदल रहा है। समाज का प्रेम और सौख्य विलीन होता जा रहा है।

वेश्यावृत्ति को कम करने के उपाय

वेश्यावृत्ति एक ऐसी समस्या है, जिसे दूर नहीं किया जा सकता। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इसका भी दिनोंदिन विकास ही हो रहा है। इसका उन्मूलन तो किया ही नहीं जा सकता। हाँ इसके व्यवसायिक रूप को बन्द किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इससे होने वाली बुराइयों को बहुत कुछ कम किया जा सकता है। इसका नियमन किया जा सकता है। उचित व्यवस्था कर इससे फैलनेवाले भयंकर गुप्त-रोग को रोका जा सकता है। वेश्यावृत्ति के खुले विज्ञापनों को रोककर सीधे-सादे व्यक्ति को इसमें पड़ने से रोका जा सकता है। इस तरह समाज को विनाश के मुख में जाने से बहुत कुछ बचाया जा सकता है। यदि हम निम्नलिखित उपायों को काम में लावें, तो हमें बहुत कुछ सफलता मिल सकती है और समाज को पूरा लाभ हो सकता है :—

(१) रूप बाजार का बिलगाव
(२) खुले विज्ञापनों पर रोक
(३) वेश्या-विवाह
(४) आज्ञा-पत्र बन्द
(५) डाक्टरी परीक्षा की समुचित व्यवस्था
(६) गुप्त रोग की भयानकता का प्रचार
(७) वेश्या व्यवसायी के लिये कठोर कानून की व्यवस्था

वेश्यावृत्ति को कम करने के लिये आवश्यक है कि वेश्यागामियों

1. Gillin—Social Pathology, P. 319.

की संख्या में कमी करने का प्रयत्न किया जाय। रूप बाजार के विलगाव द्वारा इसमें बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। शहर के मध्य में वेश्याओं को न रहने दिया जाय। शहर से अलग वेश्याओं के लिये एक मुहल्ला हो, जहाँ रूप बाजार के सिवा और किसी वस्तु का बाजार न हो। इससे यह लाभ होगा कि ऐसे बाजार में वही लोग जांयगे, जो वहाँ जाने के लिये पहले से निश्चय किये बैठे होंगे। राह चलते जो लोग वेश्याओं के चंगुल में पड़ जाते हैं, वे वेश्यागामी होने से बच जायेंगे। लोक-लाज के कारण बहुत-से लोग वेश्यागामी होते हुए भी खुले आम वेश्याओं के यहाँ नहीं जाते वरन् चुराकर औरों की नजर बचाते हुए जाते हैं। रूप बाजार के विलगाव हो जाने पर उन्हें वहाँ जाने का कोई बहाना नहीं मिल सकेगा। जैसा कि वर्तमान समय में चलते बाजार के बीच वेश्याओं के रहने पर तरह-तरह का बहाना लेकर वे जाते हैं। रूप बाजार को अलग करने के बाद इस बात की निगरानी की भी व्यवस्था की जाय कि कौन-कौन लोग वहाँ जाते हैं। इस काम के लिये कुछ इमानदार कर्मचारी नियुक्त किये जाँय, जो वहाँ जानेवालों के नाम नोट करता जाय और प्रति सप्ताह इस बात का प्रकाशन कर दिया करे कि कौन व्यक्ति कितनी बार रूप बाजार में गया। इस तरह का उपाय करने से थोड़े ही दिनों में वेश्यागामियों की संख्यामें कमी हो जायगी। वेश्यागामियों की संख्या में कमी होने से वेश्या की मांग स्वतः कम हो जायगी और इस तरह वेश्याओं की संख्या में कमी होगी।

वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देनेवाले जितने खुले विज्ञापन किये जाते हैं, वे बन्द कर दिये जांय। विज्ञापनों के द्वारा बहुत-से भोले-भाले व्यक्ति इस चंगुल में आ फँसते हैं। सरकार इस तरह का कानून बनाकर वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देनेवाले विज्ञापनों को बन्द कर दे।

जो वेश्या विवाह करना चाहती हो, उसका विवाह कर देना

चाहिये। ऐसी बहुत-सी वेश्याएँ हैं, जो वेश्यावृत्ति से ऊब चुकी हैं और उस पेशे को छोड़कर निकलना चाहती हैं, परन्तु समाज उन्हें दूसरे रूप में देखने के लिये तैयार नहीं होता। विवाह करने की इच्छा रखते हुए भी वेश्या विवाह नहीं कर सकती और समाज उसे ऐसा नहीं करने देता। जो कोई वेश्या से विवाह करना चाहेगा, समाज उसका भी वहिष्कार कर देगा, अतः समाज का रुख बदलना चाहिये और वेश्या-विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिये।

वेश्याओं को सरकार की ओर से जो आज्ञा-पत्र दिये जाते हैं, वे बन्द कर दिये जांय, क्योंकि आज्ञा-पत्र के कारण वेश्याएँ यदि अपने घृणित पेशे को छोड़ कर कभी निकलना भी चाहती हैं, तो वे नहीं निकल पातीं।

वेश्याओं के द्वारा होने वाली बीमारियों को कम करने के लिए डाक्टरी जाँच की आवश्यकता है। हर सप्ताह प्रत्येक वेश्या की जाँच की जाय और जिसे बीमारी पाई जाय, उससे किसी पुरुष का सम्बन्ध न होने दिया जाय। इस व्यवस्था के लागू करने पर भी इसमें पूरी सफलता नहीं मिल सकती है, फिर भी कुछ तो कमी होगी ही। साप्ताहिक जाँच से पूरी सफलता की आशा इस लिए नहीं की जा सकती कि जिस दिन उसकी जाँच हुई हो और वह निरोगी पाई गई हो उसी दिस वह किसी ऐसे पुरुष से सम्बन्ध करे जिसे कि बीमारी हुई हो तो उसके बाद उससे सम्बन्ध करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को बीमारी निश्चित रूप से होगी ही। जब तक सप्ताह बीतेगा तब तक तो बहुत-से व्यक्ति बीमारी के शिकार हो चुकेंगे।

वेश्या-गामियों की संख्या को कम करने के लिए इस प्रकार के प्रचार किए जाँय कि वेश्या-गमन से कैसी भयानक बीमारी होती है और उससे लोगों की कैसी दुर्गति होती है। यदि वेश्या-गमन के पूर्व कोई व्यक्ति बीमारी की भयानकता की कल्पना कर लेगा तो वह बहुत

सम्भव है कि अपने को रोक लेगा। सिनेमा तथा समाचार-पत्रों द्वारा बीमारी की दुर्गतियों का प्रचार कर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती है।

पहले कहा जा चुका है कि आज्ञा-पत्र-प्राप्त वेश्याओं की अपेक्षा बिना आज्ञा-पत्र-प्राप्त वेश्याओं की संख्या बहुत अधिक है। वेश्या-व्यवसायों में प्रायः बिना आज्ञा-पत्र-प्राप्त वेश्याओं का ही हाथ रहता है और अच्छे-अच्छे घरों की लड़कियाँ उनमें शरीक होती हैं। अतएव सरकार को चाहिए कि टट्टी की ओट में शिकार करने वाली संस्थाओं और एजेन्सियों को कानूनन तत्काल बन्द कर दे और उन्हें चलाने वालों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करे। मेसेज-बाथ, टर्किश-बाथ, हेल्थ-क्लीनिक, वेट-रिडक्शन आदि सुन्दर नामधारी संस्थाएँ और एजेन्सियाँ वेश्या-व्यवसाय के अलावा और कुछ नहीं करतीं। ये प्राकृतिक चिकित्सा का ढोंग करके जनता और सरकार की आँखों में धूल झोंक रही हैं। इनमें काम करने वाली नर्सों से वेश्या-वृत्ति ही कराई जाती है। मासिक वेतन पर नियुक्त नर्स-वेश्याओं के अतिरिक्त घूमने के बहाने अन्य अनेक लड़कियाँ भी वहाँ जाकर वेश्या-वृत्ति करती हैं। इस तरह ये संस्थाएँ समाज का सर्वनाश कर रही हैं। कलकत्ता और बम्बई में इस तरह की संस्थाओं की भरमार है, परन्तु सरकार के कानों में अभी तक जूं भी नहीं रेंगी है। यदि सरकार जानबूझ कर इस ओर कोई कदम नहीं उठाती है, तो क्या यह नहीं समझा जाय कि सरकार भी वेश्या-व्यवसाय को चाहती है ?

इसके अतिरिक्त होटल, रेस्तोराँ, क्लब, नाच-गृह, संगीतालय तथा विधवाश्रम पर भी सरकार की कड़ी दृष्टि रहनी चाहिए, क्योंकि ये सभी स्थल आज वेश्या-व्यवसाय केन्द्र बन रहे हैं। चकलों से इनका स्थान किसी भी तरह कम नहीं रहता। अतएव सन्देहास्पद एजेन्सियों को बिना किसी हिचकिचाहट के बन्द कर देना चाहिए। चकले तो बन्द

किये ही जांय, शेष एजेन्सियों की भी निगरानी होनी चाहिए, परन्तु सरकार के आगे सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि पुलिस वालों का भी इसमें हिस्सा तय रहता है। फिर भी सरकार चाहे तो गुप्तचर विभाग द्वारा सभी बातों का आसानी से पता लगा सकती है और उचित कार्रवाई कर सकती है।

किन्तु उपर्युक्त सारी व्यवस्थाओं के बाद भी वेश्या-वृत्ति का उन्मूलन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि प्रत्येक व्यक्ति भरपेट भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त न कर ले। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक देश की गरीबी और बेकारी का उन्मूलन नहीं हो जाता तब तक वेश्या-वृत्ति का निराकरण नहीं किया जा सकता। गरीबी और बेकारी को दूर करने के साथ-साथ यहाँ की शिक्षा-प्रणाली में भी परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा ने लोगों को फैशन का गुलाम बना डाला है। इस फैशन की गुलामी में पड़कर आसानी से आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी सम्भव नहीं है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि 'सादा जीवन उच्च विचार' की भावना का प्रचार किया जाय। जहाँ 'सादा जीवन और उच्च विचार' हैं, वहीं सुख है। फैशन की गुलामी सारे दुःखों का कारण है। समाज को इस फैशन की गुलामी से मुक्त करने का उद्देश्य आज की शिक्षा का होना चाहिए।

सप्तम अध्याय

परित्याग और अवैध-सम्बन्ध

विवाह के पवित्र सम्बन्धों द्वारा जब एक पुरुष और एक स्त्री मिलकर एक परिवार की स्थापना करते हैं, तब उनसे यह पूरी आशा की जाती है कि प्रत्येक एक दूसरे के प्रति और अपने बच्चे के प्रति जिम्मेवार होगा। विवाह के पश्चात् पति का यह कर्त्तव्य होता है कि वह पत्नी की आवश्यकताओं को पूरी करे। वह अपनी योग्यतानुसार आर्थिक प्रयत्न करके अपनी स्त्री और बच्चों का पालन-पोषण करे। यदि वह बीमार या घायल हो जाता है तो उसके स्थान पर उसकी स्त्री को सारा प्रयत्न करना पड़ता है। यदि बच्चे बड़े होते हैं तो वे भी आर्थिक प्रयत्न करते हैं। लड़के और लड़कियाँ अपने आर्थिक प्रयत्न द्वारा असमर्थ माता-पिता की सहायता करते हैं। एक सामाजिक नियम के द्वारा यह भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से चलता है।

माता-पिता का दूसरा उत्तरदायित्व यह होता है कि वे जिस संस्कृति में रहते हैं, अपने बच्चों को भी उसी के अनुसार चलावें। अपने समाज की छाप बच्चों पर लगावें। उन्हें आवश्यक शिक्षा दें, जिससे कि वे समाज में अपना सामञ्जस्य स्थापित कर सकें। माता-पिता का यह कर्त्तव्य होता है कि वे हर तरह से अपने बच्चों को योग्य बनावें। यह कर्त्तव्य सामाजिक तथा कानूनी दोनों ही दृष्टियों से आवश्यक होता है। बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में माता-पिता का पूरा हाथ होता है। परिवार से प्राप्त शिक्षा के अनुसार ही बच्चों को जीवन में सफलता मिलती है। वह जो कुछ गुण अपने माता-पिता से प्राप्त करता है,

उसी के अनुसार उसे सुख-दुःख मिलता है। इसके लिए कानून माता-पिता को बाध्य नहीं कर सकता कि वे बच्चों को अच्छा व्यक्तित्व प्रदान करें। यह सब सामाजिक रीति-रश्म के अनुसार चलता रहता है। नैतिकता माता-पिता को बाध्य करती है कि वे बच्चों को अच्छी शिक्षा देकर अपने से भी अधिक योग्य बनाने का प्रयत्न करें।

परित्याग और अवैध-सम्बन्ध साथ-साथ चलता है। जब कोई व्यक्ति स्त्री या पुरुष, परिवार को छोड़कर कहीं भाग जाता है, तो उस भाग जाने को ही परित्याग या अपसरण कहते हैं। अवैध-सम्बन्ध विवाह-सम्बन्ध से अलग रहने वाले सम्बन्धों को सूचित करता है। कानूनी दृष्टि से इसी का नाम अवैध-सम्बन्ध है और इस तरह उत्पन्न हुए बच्चों को अवैध बच्चे कहते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि पुरुष किसी कारण घर छोड़कर भाग जाता है और उसके भाग जाने के फलस्वरूप स्त्री अवैध-सम्बन्ध में पड़ जाती है। अवैध-सम्बन्ध के फलस्वरूप अवैध-सन्तान होती है। इस तरह पुरुष के घर छोड़कर भाग जाने पर स्त्री प्रायः अवैध-सम्बन्ध में पड़ जाया करती है और अवैध-बच्चे हुआ करते हैं।

अविवाहित माता और उसका बच्चा भी इसी तरह अवैध होता है। बहुत से अवैध-परिवार कुछ सामान्य नियमों के प्रकाश में तब तक चलते हैं जब तक कि स्त्री-पुरुष दोनों पक्ष से एक दूसरे के प्रति और बच्चे के प्रति अपना कर्त्तव्य अदा करते हैं। समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब कि परित्यक्त माता अवैध-सम्बन्ध के प्रकट हो जाने पर सहायता के लिए अपील करने के लिए बाध्य होती है। कानून और समाज-सेवा का धर्म होता है कि अवैध-सम्बन्ध में पड़ी अविवाहित माता को परित्यक्त स्त्री मान कर अवैध-पिता के उत्तरदायित्व को उसी तरह माने, जैसे कि एक परित्याग करने वाले पति का होता है।

शारीरिक सम्बन्धों के अनुसार माता-पिता और उसके बच्चे

मिलकर एक परिवार बनाते हैं और ऐसे परिवार की उपस्थिति एक समस्या के रूप में उपस्थित होती है। समाज-सेवक अविवाहित माता-पिता और उनके बच्चों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है। वह उसे अपराधी नहीं वरन् सामाजिक दृष्टि से विशृंखलित व्यक्ति समझता है और उसके लिए दण्ड की व्यवस्था न कर सहानुभूति प्रदर्शित करता है।

अविवाहित माता और उसके बच्चे की सहायता करने की एक अच्छी योजना होनी चाहिए, जोकि उसे सामान्य अवस्था में लाकर जहाँ-तक हो सके समाज से उसका सम्बन्ध कराये। इस सम्बन्ध को स्थापित करने में जिन साधनों की आवश्कता हो उपयोग में लाया जाय। रचनात्मक उपचार के लिये उन्हें अपूर्ण परिवार मान लिया जाय। इस सम्बन्ध में विधवा और उसके बच्चे तथा परित्यक्त स्त्री और उसके बच्चे को एक समान मान लेना चाहिये। अवैध सम्बन्ध वाली अविवाहित माता को परित्यक्त माता की श्रेणी में रखना चाहिये। दोनों की स्थिति व्यावहारिक रूप से एक ही है, सिर्फ विवाहका वाह्यरूप नहीं हुआ रहता है अर्थात् सामाजिक रीति के अनुसार उसका विवाह नहीं हुआ है। इस तरह माता-पिता की फिर से इकाई बनाई जा सकती है।

घर छोड़कर भागने के बहुत से तरीके होते हैं। कभी-कभी तो भागने की बिलकुल इच्छा नहीं होती है और वह यह सोचकर जाता है कि कुछ रुपये कमाकर लौट आवेगा। कुछ अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए घर छोड़ कर निकल पड़ना है। निकलने के समय घर में कुछ कह नहीं जाता। उस समय वह फिर से लौटने की इच्छा रखता है। परन्तु आगे चलकर कुछ ऐसी परिस्थिति हो जाती है कि वह नहीं लौट पाता है। कुछ लोगों के सामने आर्थिक कठिनाई प्रबल रूप में होती है। वह यह सोचकर घर से निकल पड़ता है कि बाहर जाकर कुछ कमा लेगा और परिवार के भरण-पोषण में सहायता कर सकेगा। घर

छोड़ते हुए भी वह यह नहीं समझता है कि वह घरको छोड़ रहा है। उसकी पत्नी भी नहीं समझती है कि वह छोड़ दी गई है। कभी-कभी भागने वाला अन्त समय तक भी नहीं समझता कि वह घर छोड़कर भागा हुआ है।

स्त्रियों में परित्यक्ता होने की अनिच्छा हमारी इस समस्या के बारे में अज्ञानता का दूसरा कारण होता है। अपने को परित्यक्ता समझने की अनिच्छुकता उसके पड़ोसी और संबंधियों से स्वीकार करने में उसे और भी अनिच्छुक बना देती है। आशा के साथ वह अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा करती है। परन्तु अन्त में जब वह नहीं आता है तो वह (स्त्री) अपने मन में एक झूठी कहानी पति की मृत्यु के बारे में सोच लेती है और समाज में प्रकट करती है कि अमुक स्थान में अमुक घटना से उसके पति की मृत्यु हो गई। यदि उसकी कहानी पर समाज विश्वास कर लेता है तो वह विधवा मान ली जाती है। परित्यक्ता की अपेक्षा उसका विधवा माना जाना उसके लिए अच्छा होता है, क्योंकि परित्यक्ता स्त्री को लोग बड़ी बुरी नजर से देखते हैं।

अवैध सम्बन्ध के मामले में असलियत को छिपाने का बहुत अधिक प्रयत्न किया जाता है, पर ऐसा करना भी बड़ा कठिन होता है। और खासकर ऐसी हालत में जब कि एक नये व्यक्ति का जन्म होता है, छिपाना बड़ा दुष्कर हो जाता है। यदि माता अविवाहित होती है तब तो और भी असम्भव हो जाता। विवाहित होने पर कुछ हद तक बच्चे की अवैधता के बारे में जनता से छिपाया जा सकता है। इसके लिए पति की चलाकी या दोषोपेक्षा की जरूरत होती है। पर दोनों ही कठिन हैं।

परित्याग के कारण

यों तो परित्याग के बहुत से कारण हैं, परन्तु आर्थिक कारण सबसे अधिक महत्व रखता है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण जब

पारिवारिक बोझ सहन नहीं होता, तब घर छोड़कर भागना पड़ता है। गरीबों में परित्याग इसीलिए अधिक देखा जाता है। समस्या को हल करने का जब कोई साधन नहीं दिखाई पड़ता, तब व्यक्ति अपनी जिम्मेवारी को हटाने के लिए घर छोड़कर भाग जाता है।

अमेरिका में कुमारी कलकार्ड ने परित्याग के निम्नलिखित कारणों का पता लगाया है :—

(१) मानसिक दोष
(२) प्रारंभिक शिक्षा का दोष
(३) आधार की भिन्नता
(४) वैवाहिक सम्बन्ध का दोष
(५) शिक्षा की कमी
(६) पेशे सम्बन्धी दोष
(७) घुमक्कड़जीवन की इच्छा
(८) रुपये की कमी
(९) बुरा स्वास्थ्य
(१०) शारीरिक कमजोरी
(११) प्रतिकूल विचारधारा
(१२) प्रतिकूल कामवासना
(१३) पापपूर्ण आदतें।

कभी-कभी समाज परिवार में प्रतिकूल वातावरण उत्पन्न कर देता है, जिससे परित्याग की संभावना रहती है। निम्नलिखित कारण इसके सहायक होते हैं :—

(१) सम्बन्धियों का हस्तक्षेप
(२) मनोरंजन की कमी
(३) साथी का अभाव
(४) सहायता की इच्छा

परित्याग करने वालों के प्रकार

(१) छद्म-त्यागी (Spurious deserter)
(२) क्रमिक-त्यागी (Gradual deserter)
(३) अवांतर-त्यागी (Intermittent deserter)
(४) असफल-विवाह-त्यागी (Illadvised marriage deserter)
(५) साधनहीन-त्यागी (Last resort deserter)

छद्‌म-त्यागी—छद्‌म-त्यागी प्रायः छद्‌म वेश में रहा करता है। वास्तव में वह त्यागी नहीं होता। सहायता पाने की इच्छा से वह वैसा करता है। वह परिवार से गुप्तरूप से सम्बन्ध रखता और सदा समाचार लेता-देता रहता है। ऐसा व्यक्ति घर में भी छिपा रह सकता है। ऐसा करने से उसके समुदाय के लोग उसके परिवार की सहायता करते रहते हैं।

क्रमिक-त्यागी—क्रमिक-त्यागी त्याग की भावना लेकर घर से नहीं निकलता। वह आकस्मिक या अनिच्छापूर्वक ऐसा करता है। जब वह परिवार छोड़ता है तो लौटने की पूरी आशा लेकर ही वह घर से बाहर निकलता है। वह कभी भी इस निश्चय पर नहीं पहुंचता है कि अपने परिवार को छोड़ देगा। इस तरह बिना सोचे-विचारे आदतन वह बाहर रह जाता है।

अवान्तर-त्यागी—अवान्तर त्यागी निश्चित रूप से कभी त्याग नहीं करता। इसमें दो तरह के व्यक्ति होते हैं—(क) सामयिक और (ख) क्रुद्ध स्वभाव का। सामयिक समय-समय पर घर से बाहर चला जाया करता है और क्रुद्ध स्वभाव का तो क्रुद्ध होने पर कभी भी घर से निकल सकता है। जब क्रोध शान्त हो जाता है, तब फिर लौट आता है।

असफल-विवाह-त्यागी—जब विवाह सम्बन्ध में स्थायी प्रेम नहीं रह सकता, तब उसे असफल विवाह कहते हैं। यदि विवाह सम्बन्ध ठीक नहीं होता है और एक दूसरे के सवथा प्रतिकूल स्वभाव का जोड़

बन जाता है, जिससे कभी दोनों का मेल नहीं खाता है, तो पति घर छोड़कर भाग निकलता है। निम्न वर्ग के गरीब लोगों में ऐसा विवाह अधिक होता है और भागने की घटना भी विशेष होती है।

साधन-हीन-त्यागी—अतिशय दरिद्रता के कारण जब व्यक्ति के पास परिवार पोषण के लिए कोई साधन नहीं रहता, तो विवश होकर वह परित्याग का सहारा लेता है। ऐसे समाज में जहाँ तलाक चलती है, गरीबों में तलाक विवाह सम्बन्ध को सुखी बनाने में असफल रहती है। सफलता का जब और कोई साधन नहीं रहता तो वह तलाक देना चाहता है, पर तलाक में पैसे की आवश्यकता होती है। वकील को फीस देनी पड़ती है। ऐसी हालत में पैसे के अभाव में वह तलाक न देकर घर छोड़कर भाग निकलता है।

इन पाँचों तरह के परित्यागियों की संख्या भारत में बहुत अधिक है। प्रतिवर्ष हजारों परिवारों में परित्याग की घटनाएँ होती हैं। इसकी संख्या का हिसाब लगाना बहुत कठिन कार्य है, क्योंकि कोई भी संस्था इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का आंकड़ा नहीं रखती।

अवैध-संबंध

अवेध-संबंध को दो वर्गों में बांटा जा सकता है (१) सामाजिक और (२) वैयक्तिक। अविवाहित लड़कियों के कारण यह अवैध-संबंध बहुत अधिक चलता है। बड़ी उम्र तक लड़कियों का यदि विवाह नहीं होता, तो वे भी अवैध-संबंध में पड़ जाती हैं। १६ वर्ष की उम्र से लेकर ४५ वर्ष की उम्र के बीच अवैध-संबंध अधिक देखा जाता है। इस बीच के उम्र की स्त्रियाँ यदि अविवाहित रहती हैं, तो वह अक्सर अवध-संबंध में पड़ जाती हैं। जिस समाज में स्त्रियों की संख्या कम होती है, वहाँ भी अवैध-सम्बन्ध अधिक देखा जाता है। यही कारण है कि शहरों में इसकी बहुतायत है। शहरों में स्त्रियों की संख्या बहुत कम रहती है। अधिकांश लोग एकाकी जीवन व्यतीत करते

हैं। इसके अतिरिक्त घनी आबादी भी इसमें सहायक होती है। शहरों की विषम आबादी तथा एक ही कमरे में बहुत से व्यक्तियों का रहना अवैध-संबंध को बढ़ाने में बहुत सहायक होता है। बम्बई में जहाँ कि एक ही कमरे में ८-१० परिवारों के लोग रहते हैं, अवध-सम्बन्ध बहुत अधिक है। समाज का बुरा वातावरण इसे काफी बढ़ावा देता है।

वैयक्तिक कारणों में निम्नलिखित कारणों से अवैध-सम्बन्ध बहुत अधिक होता है :—

अविकसित-चित्तता

मानसिक-रोग

अति शारीरिक विकास

असंतुलित काम-विकार

संरक्षण की कमी

सामाजिक कारणों में निम्नलिखित कारणों से अवैध-संबंध की अधिकता देखी जाती है—

बुरे घर

घर में अधिक लोगों का एक साथ रहना

घर में ट्रेनिंग की कमी

मनोरंजन की कमी

शराबीपन, माता-पिता का शराबी होना

काम-सम्बन्धी सलाह

उम्र और पेशे का भी अवैध-सम्बन्ध पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। युवावस्था अवैध-सम्बन्ध के लिये बदनाम है। इस समय व्यक्ति अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं कर पाता। शिक्षा की कमी और मानसिक असंतुलन का जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है और विशेषकर ऐसे युवकों पर जिनका जीवन एकाकी है। अवैधत्व की समस्या युवावस्था की समस्या है। अवैध बच्चों के अधिकांश माता-पिता

अविवाहित होते हैं। इनमें अधिकांश संख्या २५ वर्ष से नीचे की होती है।

पेशे-संबंधी कारणों में ऐसे पेशे जिनमें मजदूरी बहुत कम मिलती है और जो अशिक्षित व्यक्तियों के लिये है, उनमें अवैध-संबंध अधिक देखा जाता है। अकुशल श्रमिकों में, कारखाने में काम करनेवाली लड़कियों में प्रायः अवैध-संबंध देखा जाता है। कारखाने में काम करनेवाली लड़कियों में बहुत कम ऐसी मिलेंगी, जो अवैध-सम्बन्ध में न पड़ी होती हैं। किन्तु आज शिक्षित लड़कियों में भी यह रोग भयंकर गति से बढ़ता जा रहा है। नर्स, धातृ, स्टेनोटाइपिस्ट, टेलिफोन एक्सचेंज आदि नौकरियों में लगी लड़कियों में प्रायः अवैध-सम्बन्ध अधिक देखा जाता है।

समाज पर प्रभाव

परित्याग और अवैध-सम्बन्ध दोनों का ही समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यह सामाजिक संबंधों को छिन्न-भिन्न कर डालता है। व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को नीरस बना देता है। अवैध-सम्बन्ध के फलस्वरूप व्यक्ति को समाज छोड़कर भागना पड़ता है। उसके भाग जाने के फलस्वरूप उसकी पत्नी या प्रेमिका अकेली रहती है, जिससे उस पर तरह-तरह की मुसीबतें आती हैं। आर्थिक कठिनाइयों के साथ-साथ उसे समाज से भी सामंजस्य करना कठिन हो जाता है। समाज उसकी उपेक्षा करता है और उसे बहिष्कृत होना पड़ता है। परिवार भी उसका बहिष्कार कर बैठता है। संबंधियों से भी वहिष्कृत एवं दण्डित होना पड़ता है। अवैध संबंध रखने वालों से उसके मित्र भी शत्रुता करने लग जाते हैं। स्त्री के लिये तो उसका पति ही शत्रु बन जाता है, क्योंकि उसके कारण उसकी भी बदनामी होती है। स्त्री तो लज्जा से मरती ही है, पुरुष भी लज्जा से मर जाता है और उसके लिये बाहर निकलना कठिन हो जाता है।

एक छोटी-सी गलती के लिये महान् कष्ट भुनतना पड़ता है। अविवाहित माता से कुछ लोग लाभ उठाकर उसका शोषण करते हैं। परित्यक्त स्त्री की कठिनाई अवैध-सम्बन्ध में पड़ी स्त्रियों की अपेक्षा कम है। फिर भी त्याग करनेवाले पिता की संतान को समाज में काफी लज्जित होना पड़ता है। उसे अपने पिता का नाम बताते हुए भी लज्जा होती है। कभी-कभी वह अपने पिता के नाम में किसी दूसरे भले व्यक्ति का नाम बता देता है।

अवैध-सम्बन्ध से समाज में निम्नलिखित बुराइयाँ बढ़ जाती हैं :—

(१) आर्थिक असामंजस्य (माता और बच्चे का)

(२) बाल-मृत्यु की अधिकता

(३) मातृ-मृत्यु की अधिकता

(४) स्त्री का परित्यक्ता होना

(५) स्त्री का पागल होना

(६) वेश्याओं की संख्या में वृद्धि

(७) आत्महत्या की वृद्धि

(८) बाल अपराध की वृद्धि

अवैध-संबंध और परित्याग के फलस्वरूप व्यक्ति को निम्न-स्तर का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। सामाजिक कलंक का टीका उसके सर पर मढ़ा जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति में आत्महीनता की भावना आती है और शराब आदि बुरी लतों में पड़ने की बुरी तरह संभावना रहती है। ऐसे व्यक्तियों के अपराधी बनने की भी अधिक संभावना रहती है। समाज अवैध-संबंध रखने वाले माता-पिता के प्रति रहने वाले गुस्से को उनके पुत्र पर उतारता है। फलस्वरूप बच्चे की हर जगह उपेक्षा होती है। वह जहाँ कहीं जाता है, ठुकराया जाता है।

अष्टम अध्याय

निराश्रित और उपेक्षित बच्चों की समस्या

निराश्रित और उपेक्षित बच्चों की समस्या भारत की एक प्रबल समस्या है। बच्चों के ऊपर यहाँ बहुत कम ध्यान दिया जाता है। अन्य किसी भी देश में बच्चों की इतनी उपेक्षा नहीं होती। प्यार के स्थानपर यहाँ उपेक्षा की ही प्रधानता रहती है। अवैध और निराश्रित बच्चों का तो कहना ही क्या? जहाँ वैध सन्तान की उपेक्षा होती है, वहाँ अवैध बच्चों को कौन पूछता है?

बच्चों की उपेक्षा के यहाँ बहुत से कारण हैं, जिनमें प्रधान ये हैं :—

(१) आर्थिक कठिनाई

(२) अशिक्षा

(३) माता-पिता की उम्र में भिन्नता तथा पति-पत्नी के बीच कलह

(४) कर्म और भाग्य पर विश्वास

(५) माता की वैधव्य अथवा परित्यक्त अवस्था

(६) माता-पिता का शराबी होना

(७) सौतेली माता

(८) घनी आबादी

(९) सामाजिक बहिष्कार

आर्थिक कठिनाई के कारण बच्चों की सब से अधिक उपेक्षा होती है। यदि बच्चों की संख्या अधिक होती है, तब तो और भी उपेक्षा होती है। माता-पिता को काम करने से फ़ुर्सत नहीं होती कि वे अपने बच्चों की

देख-रेख कर सकें। अधिक बच्चों के होने से माता को कारखाने में काम करने के लिए जाना पड़ता है, क्योंकि पिता की कमाई पर्य्याप्त नहीं होती। कारखाने में माता का स्वास्थ्य खराब हो जाता है, जिससे वह बच्चों की देख-रेख करने में और भी असमर्थ रहती है। माता-पिता दोनों ही जब आजीविका की खोज में निकल पड़ते हैं, तो बच्चे बिना देख-रेख के अकेले घर पर छोड़ दिये जाते हैं। उनके ऊपर नियंत्रण नहीं होने से वे बुरे वातावरण में पड़ जाते हैं। उनमें अनुशासन की कमी रह जाती है। उनके जीवन में कोई जिम्मेवारी नहीं रह जाती।

शिक्षा के अभाव में माता-पिता बच्चों के प्रति होने वाले अपने कर्त्तव्य को नहीं समझ पाते। अज्ञानतावश उनमें लापरवाही और उदासी आ जाती है और बच्चों की उचित देख-रेख नहीं होती है। अशिक्षित माता-पिता समझते ही नहीं कि बच्चों के प्रति उनका भी कुछ कर्त्तव्य होता है और उसके लिए वे उत्तरदायी हैं। अज्ञान और अशिक्षित माता-पिता पालन-पोषण के पुराने तरीके को अपनाये रहते हैं। नये तरीके उन्हें ज्ञात नहीं है। वे कठिनाई में पड़ कर भी उपेक्षा करते हैं।

अनमेल विवाह के फलस्वरूप माता-पिता की उम्र में बहुत अधिक भिन्नता होती है। स्त्री युवती होती है तो पुरुष वृद्ध ; परिणाम होता है कि पति-पत्नी के बीच कभी भी प्रेम का सच्चा विकास नहीं होता। हमेशा खटपट होती ही रहती है। दोनों का स्वभाव भिन्न होता है। पारिवारिक जीवन में बड़ा ही असंतुलन हो जाता है। घर का वातावरण बड़ा ही विषाक्त हो जाता है और बच्चों की उपेक्षा होती है। पत्नी को पति के प्रति जितना गुस्सा होता है, वह उसे अपने बच्चे पर उतारती है।

कर्म और भाग्य पर विश्वास करने के फलस्वरूप ईश्वर के भरोसे लोग अधिक से अधिक बच्चे पैदा किये जाते हैं। उनका विश्वास

होता है कि जिसने जन्म दिया है, वह आहार भी देगा ही। अधिक बच्चों की देख-रेख तथा पालन-पोषण में वह सर्वथा असमर्थ रहता है और फलस्वरूप बच्चे को ईश्वर के भरोसे छोड़ देता है। लोगों का ऐसा विश्वास रहता है कि सुख-दुःख तो मनुष्य के भाग्य की चीज है। मनुष्य के किये कुछ नहीं होता। यदि कोई दुखी है तो वह अपने पूर्व-जन्म के कर्मों का फल भुगत रहा है। इसमें माता-पिता या और किसी का क्या दोष ? प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्वजन्म के पापों का फल भोगना पड़ता है।

यदि माता विधवा होती है या परित्यक्ता होती है, तो आर्थिक कठिनाइयों के कारण बच्चों का पालन-पोषण करने में असमर्थ रहती है। यदि बच्चों की संख्या अधिक होती है तब तो यह कठिनाई और भी बढ़ती है। माता कठिन परिश्रम करने पर भी संतान का पालन-पोषण नहीं कर पाती है। इस तरह स्वभावतः बच्चे की उपेक्षा होती है। छोटे-छोटे बच्चों को काम पर जाना पड़ता है। कम उम्र में अधिक काम करने के कारण बच्चों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। शिक्षा के लिए तो उनके पास कभी कोई साधन ही नहीं होता, अतः वे शिक्षा से पूर्णतः वञ्चित रह जाते हैं।

शराबी माता-पिता कभी भी अपने बच्चों की देख-रेख नहीं कर पाते। वे तो शराब में ही मस्त रहते हैं। वे कभी भी संतान के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं कर पाते। शराबियों का प्रायः अवैध-सम्बन्ध भी होता है, जिससे घर का वातावरण कभी भी शान्त नहीं रहता। अशान्त वातावरण में बच्चे की उपेक्षा होती है।

सौतेली माता का बच्चों के प्रति कभी भी अच्छा व्यवहार नहीं होता। माता का विरोधी स्वभाव पिता को भी बरबस विरोधी बनाता है। ऐसा देखा जाता है कि सौतेली माता के आने के पूर्व पिता का प्रेम बच्चे के प्रति अच्छा होता है, पर जब सौतेली मां आ जातो है तब

वही पिता अति निष्ठुर व्यवहार करता है। सौतेली मां बच्चे को कभी भी अपने बच्चे के समान नहीं समझती। इस तरह बच्चे को उपेक्षित और प्रवञ्चित होना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वे आत्महीनता की भावना का अनुभव करते हैं और बिगड़ जाते हैं। बच्चों के बिगड़ जाने पर माता-पिता दोनों ही परेशान रहते हैं। वे नहीं जानते कि समस्या कैसे हल की जाय। अतः वे और भी अधिक उपेक्षा करने लग जाते हैं। इस तरह समस्या दिनों-दिन जटिल होती जाती है।

घनी आबादी में स्थान की कमी से बहुत-से लोग एक ही घर में रहते हैं, जिसका बच्चों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी अवस्था में बच्चे बहुत शीघ्र बिगड़ जाते हैं। वे मनमौजी, अस्थिर तथा कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाते हैं। उनके माता-पिता उनमें अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न करते हैं, पर असफल रहते हैं। अतः वे उनकी उपेक्षा करने लगते हैं।

सामाजिक बहिष्कार की भावना बच्चों की उपेक्षा में प्रबल सहायक होती है। अवैध-संबंध से उत्पन्न बच्चों की तो हर जगह उपेक्षा ही उपेक्षा होती है। ऐसे बच्चे अपनी माता के पास बिना देख-रेख के छोड़ दिये जाते हैं। प्रायः माता भी ऐसे बच्चों से पिण्ड छुड़ाना चाहती है, क्योंकि बच्चों के साथ उसकी उपेक्षा और भी अधिक होती है।

शहरों में मानवता और दया का सर्वथा लोप दिखाई पड़ता है। उपेक्षित और आश्रित बच्चों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। उनकी सहायता की इच्छा का अभाव उपेक्षित और अनाश्रित बच्चे की उचित देख-भाल नहीं होने देता। ऐसे बच्चे खासकर बुरे घरों; बदनाम और दोषपूर्ण मुहल्लों तथा भग्न-परिवारों में रहते हैं।

देश की आर्थिक अवस्था, असहनीय सामाजिक वातावरण, निम्न नैतिक और बौद्धिक स्तर, उचित चिकित्सा की व्यवस्था का अभाव, अस्वस्थ जीवन, उचित वास का अभाव, पार्क और स्थान की कमी,

खेल के मैदान की कमी, उचित शिक्षा की कमी—ये सभी ऐसे कारणों में से हैं, जो कि उपेक्षितता और अनाश्रितता को परोक्ष रूप में पैदा करते हैं। उपेक्षित बच्चे विशेषकर अनाश्रित होते हैं और वे विकृत भी हो जाते हैं। इसलिये राज्य का प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये कि उन अभागे बच्चों की रक्षा की व्यवस्था करे। उन्हें अपराध तथा अवारागर्दी से बचाकर अच्छा नागरिक बनावे। इसके लिये राज्य को चाहिये कि वह रक्षात्मक और निवारणात्मक दोनों ही उपायों को काम में लावे।

राज्य की ओर से उपेक्षित और अनाश्रित बच्चोंके लिए जो कुछ किया जाय उसमें आर्थिक कारणों को दूर करने का विशेष प्रयत्न होना चाहिए। जबतक गरीबी और भिक्षावृत्ति रहेगी, तब तक उपेक्षित और आश्रित बच्चों की समस्या हल नहीं हो सकेगी। भिक्षावृत्तिका उन्मूलन आवश्यक है। सरकारी और गरसरकारी संस्थाओं को ऐसे कार्यों का संगठन करना चाहिए कि माता-पिता को उनके कार्यों से सहायता और आदेश मिले और वे बच्चों की देख-रेख पर पर्याप्त ध्यान रख सकें। बच्चों में उचित उत्तरदायित्व लाने के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। उपेक्षित और आश्रित बच्चों की समस्या उत्पन्न करनेवाले कारणों को दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसके लिए घर की स्थिति में सुधार लाना आवश्यक है। स्त्रियों को बच्चों के पालन-पोषण की शिक्षा होनी चाहिए। बड़ी लड़कियों को पहले से ही इस बात की शिक्षा होनी चाहिए कि उसे माता बनने के लिए किन-किन बातों का ज्ञान होना आवश्यक है। स्त्रियों के स्वास्थ्य-सुधार पर ध्यान दिया जाना चाहिए। स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। साथ ही प्रत्येक स्त्री को प्रारम्भिक गार्हस्थ-चिकित्सा की शिक्षा होनी चाहिए। मनुष्य के रहन-सहन की दशा में सुधार होना चाहिए। श्रमिकों को जीवन-यापन भर मजदूरी मिलनी चाहिए। देहात की

स्त्रियों के लिये मनोरञ्जन की व्यवस्था होनी चाहिए। उन्हें सीने-पिरोने तथा गृह व्यवस्था की शिक्षा मिलनी चाहिए।

शहरों तथा गांवों में Prenatal Clinics तथा मातृ-गृह खोले जाँय। माता का स्वास्थ्य अच्छा रहे; इस बातपर पूरा ध्यान देना चाहिए।

राज्य की ओर से भी बहुत-सी बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। गन्दे और अस्वस्थ वातावरण में सुधार हो। काम की दशा में सुधार हो। स्वास्थ्य-बीमा तथा आवश्यक दवा सम्बन्धी सुविधाएँ दी जांय। गरीबी को दूर करने का प्रयत्न किया जाय। जन्म निरोध तथा संयम का प्रचार कर परिवार का परिमाण छोटा किया जाय। गांवों में नर्सरी, स्कूल तथा दवा सम्बन्धी व्यवस्था की जाय। यदि माता विधवा है तो राज्य उसकी सहायता करे और बच्चे को एक अच्छा नागरिक बनाने का प्रयत्न करे; क्योंकि इस समस्या के मूलभूत कारण बच्चों में नहीं वरन उनके परिवार में ही अधिकतर होते हैं। अतः राज्य का कर्त्तव्य होता है कि माता की सहायता करे। यदि पिता शारीरिक या मानसिक असमर्थता के कारण कमाने में असमर्थ है या किसी अपराध के कारण कानूनी पंजे अथवा जेल में है, अथवा यदि माता परित्यक्ता है तो ऐसी हालत में माता की सहायता राज्य की ओर से होनी चाहिए।

निराश्रित और उपेक्षित बच्चों की समस्या एक प्रबल समस्या है। अतः इसके लिए जनमत को शिक्षित करने का प्रयत्न किया जाय। राज्य उसकी पुनर्व्यवस्था करे और माता-पिता पर दवाव डाले कि वे बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करें और उनकी उपेक्षा न करें। इस तरह राज्य द्वारा तरह-तरह के परिवार-कल्याण-कार्य किये जांय। लड़कियों को काम सम्बन्धी बातों से तथा अनैतिक सम्बन्धों से बचाया जाय, इसके लिए उचित देख-रेख की व्यवस्था हो। बच्चे के साथ माता-पिता या गार्जियन शारीरिक क्रूरता का व्यवहार न करें, इस बात की पूरी देख-रेख हो। साथ-ही-साथ स्टेट का यह कर्त्तव्य है कि बच्चे को श्रांत

और पतित करनेवाले श्रम से बचावे तथा कारखाने के मालिक को बाध्य करे कि वह शिशु-गृह की व्यवस्था करे, जहां माताएँ अपने बच्चों को रख कर काम पर जांय।

किसी को भी आर्थिक सहायता देने के पूर्व उसकी उचित जानकारी होनी चाहिए। यदि राज्य की ओर से सहायता दी जाय तो माता को बच्चों को साथ रखने के लिए बाध्य किया जाय। सहायता-प्राप्त माता को अपने बच्चों की देख-रेख के लिए मानसिक और नैतिक रूप से योग्य होना चाहिए। बच्चों को स्कूल भेजना अनिवार्य किया जाय। दक्ष समाज-सेवियों की पारिवारिक, वैयक्तिक सेवाओं (Family case-work) द्वारा वास्तविक अवस्था की पूरी जानकारी की जाय तभी घटनाओं की वास्तविक जानकारी प्राप्त होगी और समुचित उपचार किये जा सकेंगे।

निराश्रित बच्चों के लिए Foster homes, Adoption homes, Recieving homes आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। इन गृहों की आर्थिक अवस्था अच्छी होनी चाहिए और शिक्षा का स्तर ऊँचा होना चाहिए। उनका नैतिक सम्बन्ध भी अच्छा होना चाहिए। गोद लेने वालों के बारे में उन्हें गोद लेने के पूर्व ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि किस कारण से वे गोद लेना चाहते हैं। उसके परिवारवालों के स्वास्थ्य की जांच होनी चाहिए। बच्चे गोद लेने के बाद समय-समय पर संस्था द्वारा नियुक्त दक्ष समाजसेवी (ट्रेन्ड सोश्यल वर्कर) जाकर जाँच करे कि बच्चा अच्छे वातावरण में रहता है या नहीं। उनका उचित ढंग से पालन-पोषण होता है या नहीं। यदि कोई त्रुटि हो तो उसे सुधारने का प्रयत्न करें।

बालकों के लिये जो संस्थाएँ हों, उनमें बालकों की आदत सुधारने का प्रयत्न किया जाय और उनके लिये अच्छी शिक्षा की व्यवस्था हो। उन्हें सभी तरह की शिक्षा देकर इस योग्य बना दिया जाय कि वे अपने

को समाज में व्यवस्थित कर सकें। खेल और मनोरञ्जन की अच्छी व्यवस्था हो।

संस्थाओं में बालकों के निरीक्षण के लिए एक मनोविज्ञान का विशेषज्ञ तथा एक मनोविश्लेषक रखे जांय। सरकार की ओर से भी ये दो व्यक्ति निरीक्षण के लिए रखे जांय, जो कि समय-समय पर संस्थाओं का निरीक्षण करें।

निराश्रित और उपेक्षित बच्चों की समस्या के निराकरण के लिये सामाजिक धारणाओं में भी परिवर्तन लाना चाहिये। अवैध बच्चों की सभी उपेक्षा करते हैं, परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो उन बच्चों का इसमें क्या दोष है? दोष तो उन माता-पिताओं का है, जिन्होंने उन्हें पैदा किया। परन्तु दुःख की बात है कि समाज ऐसे पिताओं से बिलकुल घृणा नहीं करता है। घृणा तो की जाती है माताओं और उनसे भी अधिक बच्चों से। अतएव समाज की ऐसी धारणा होनी चाहिये कि बच्चे सभी तरह निर्दोष हैं। दोषी माता-पिता के बदले उन्हें दण्ड नहीं मिलना चाहिये। यदि समाज ऐसा करता है तो अन्याय है।

भारतीय सामाजिक समस्याएँ
चतुर्थ खण्ड

चतुर्थ खण्ड

प्रथम अध्याय

जनसंख्या-वृद्धि की समस्या

आज भारत की जनसंख्या वृद्धि की समस्या एक प्रमुख समस्या होती जा रही है। यह समस्या भारत की आर्थिक अवस्था पर सीधा प्रभाव डालती है। आर्थिक अवस्था पर प्रभाव डालते हुए यह लोगों की सुख-सुविधा और स्वास्थ्य में भी खलल डाल रही है। आज यह समस्या समाज की उन्नति में बाधक सिद्ध हो रही है। यह मनुष्य के सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर रही है। इस तरह आज सामाजिक, वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में इसकी चर्चा चल पड़ी है। जनसंख्या की वृद्धि इतनी तेजी के साथ हो रही है कि जब तक वर्तमान जनसंख्या के लिये प्रयत्न किया जाता है, तब तक यह और भी बढ़कर अधिक हो जाती है और इस तरह भारत का आर्थिक संकट बढ़ता ही जा रहा है।

मालथस ने कहा है कि जनसंख्या की वृद्धि ज्यामिति-विधि अर्थात् २,४,८,१६,३२ अथवा ३,६,२७,८१ के अनुपात से तथा जीवन-यापन के साधनों की वृद्धि अङ्कगणित-विधि अर्थात् १,२,३,४ अथवा १,१॥,२,२॥,३ के अनुपात से होती है। यद्यपि मालथस के इस सिद्धान्त का खंडन बहुत पहले ही हो गया है और कल-कारखानों एवं उद्योग-धन्धों की वृद्धि ने यूरोपीय देशों में मालथस के सिद्धान्तों को गलत सिद्ध कर दिखाया, परन्तु भारत जैसे देश के लिये तो अभी तक उसका सिद्धान्त सही

नजर आता है। क्योंकि भारत की आज वही परिस्थिति हो रही है, जैसी मालथस के सिद्धान्त प्रतिपादन के समय इङ्गलैण्ड और यूरोपीय देशों की हो रही थी। मालथस का सिद्धान्त आज इङ्गलैण्ड और यूरोपीय देशों में भले ही गलत हो पर जिस समय उसने यह सिद्धान्त लोगों के सामने रखा, उस समय यूरोप की आर्थिक हालत बड़ी दयनीय थी। उस समय वैज्ञानिक आविष्कार इतने उन्नत न हो पाये थे। आज की तरह इञ्जन, वाष्प-यंत्र, बिजली आदि का आविष्कार नहीं हुआ था और आज की तरह उत्पादन के साधन सुलभ न थे। खाद्य-सामग्री का सर्वथा अभाव था। लोगों को तरह-तरह की यातनाओं का सामना करना पड़ता था। वैसी अवस्थाओं में जनसंख्या की वृद्धि अभिशापमय हो रही थी। अतः परिस्थिति को देखते हुए मालथस का सिद्धान्त उस समय के लिये उपयुक्त था।

भारत में जनसंख्या के अनुपात में प्रति वर्ष कुछ न कुछ वृद्धि होती जा रही है और मृत्युसंख्या के अनुपात में कमी। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मृत्युसंख्या पर बहुत कुछ विजय प्राप्त की है। इस तरह जनसंख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। आज भारत में प्रतिघंटे १७५० बच्चे जन्म लेते हैं और प्रतिघण्टे ११७० व्यक्ति की मृत्यु होती है। इस तरह प्रति घंटा जनसंख्या में ६०० की वृद्धि होती जा रही है। भारत में आज प्रतिवर्ष ५० लाख तथा प्रति दस वर्ष के अन्दर यह वृद्धि पाँच करोड़ हो जाती है। ऐसी तीव्र वृद्धि के मुकाबले खाद्य-सामग्री की वृद्धि की आशा करना निरी मूर्खता ही होगी। यहाँ की जनसंख्या के लिये आवश्यकतानुसार भोजन-वस्त्र और मकान की व्यवस्था करना तभी संभव हो सकता है, जब कि वृद्धि पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया जाय। जनसंख्या की समस्या और जीवन के साधनों में समता तभी रह सकती है, जब कि दोनों का अनुपात सम हो। जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन जनसंख्या की समस्या ही नहीं रह जायगी। परन्तु

जन्मसंख्या की वृद्धि को देखते हुए समता की आशा करना भी व्यर्थ है। जब कि अन्य देशों की तुलना में भारत की स्त्रियां अत्यधिक बच्चे पैदा करती हैं, तब अन्य देशों की तरह यहां समता होना असंभव-सा प्रतीत होता है। बाल-विवाह के फलस्वरूप अन्य देशों की अपेक्षा बहुत पहले से ही यहाँ के युवक-युवतियाँ बच्चे पैदा करने लगते हैं। १९४१ की जनगणना में देखा गया कि यहाँ १५ से २० की उम्र के बीच प्रति परिवार बच्चों की संख्या ७ थी। ३० वर्ष की अवस्था तक तो औसत ६-७ बच्चे पैदा हो ही जाते हैं।

यहां की जनसंख्या में एक विशेषता और भी है कि परिवार में औसत काम करनेवालों की संख्या कम तथा आश्रितों की संख्या अधिक है। प्रायः देखा जाता है कि युवक जब काम के लायक होता है, उसी समय वह मृत्यु का शिकार हो जाता है। यहां का जीवन भी बहुत सस्ता है। निम्नलिखित आंकड़ों से यहाँ की जीवन-शक्ति का पता लग जायगा कि अन्य देशों की तुलना में इसका क्या स्थान है।

देश	औसत आयु
न्यूजीलड	६७ वर्ष
स्वीडन और नार्वे	६३ ,,
यूनाइटेड किंडम	६२ ,,
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	६२ ,,
कनाडा	६० ,,
फ्रांस	५७ ,,
जापान	४३ ,,
भारत	२७ ,,

आज यद्यपि विज्ञान काफी उन्नत हो गया है, परन्तु भारत की आर्थिक हालत दिनोंदिन खराब ही होती जा रही है। जनसंख्या के भार से यह दबा जा रहा है। आज यहाँ के सभी नेताओं को यही

चिंता सता रही है कि यहां की जनसंख्या को किस प्रकार नियंत्रित किया जाय। खाद्यान्न का अभाव इस चिंता को और भी बढ़ा रहा है। खाद्यान्न के अभाव में नित्य नये-नये संघर्ष पैदा हो रहे हैं। इस तरह आज अशान्ति का वातावरण छा गया है। जहीं देखिए वहीं दुःख, कलह, असन्तोष और अनाचार के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। दिनों-दिन समस्या की उग्रता बढ़ती जा रही है और जनसंख्या की समस्या आज विश्व की अशान्तिका कारण बन रही है। आज विश्व में जो युद्ध की इतनी भीषणता दिखाई पड़ती है, वह बढ़ती हुई जनसंख्या का ही परिणाम है। मालथस का कहना था कि जनसंख्या पर नियंत्रण रखने के लिए प्रकृति, अकाल, बीमारी, बाढ़, भूकम्प, युद्ध आदि साधनों का उपयोग करती है। ये सब प्राकृतिक नियंत्रण हैं, जो कि बढ़ी हुई जनसंख्या को कम करके नियंत्रित सीमा में रखते हैं।

बढ़ती हुई जनसंख्या के फलस्वरूप आज समाज में तरह-तरह की बुराइयाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। प्राकृतिक साधनों का शोषण किया जा रहा है। लंगड़े, लूले, बहरे, गूंगे, अंधे, अविकसित-चित्त एवं दुर्बल अर्थात् अपंग व्यक्तियों की भरमार हो रही है। उम्र, लिंगभेद, विवाह तथा पारिवारिक जीवन में घोर विषमता आ गई है। युद्ध के समय लिंगभेद की विषमता काफी बढ़ जाती है और इस तरह की विषमता के फलस्वरूप अवैध बच्चों की समस्या, व्यभिचार, अनैतिकता, शराबखोरी आदि बहुत अधिक बढ़ जाती है। इतना ही नहीं वरन् मनुष्य और भूमि तथा खनिज पदार्थों के अनुपात में भी काफी विषमता हो जाती है। इसके फलस्वरूप नित्य नये-नये सामाजिक रोगों की उत्पत्ति होती है। समाज में शान्ति की जगह खुराफात फैल जाती है। इस तरह जनसंख्या की समस्या समाज के विकास में बाधक सिद्ध हो रही है। यह समाज को प्रगति की ओर सिर्फ जाने से ही नहीं रोकती, वरन् पीछे की ओर ढकेल भी देती है। आज हम देखते हैं कि समाज से

मानवता का लोप होता जा रहा है और भीषण दानवता का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। मनुष्य, मनुष्य के खून का प्यासा है। अपना कहलाने वाला व्यक्ति पराये से भी दूर होता जा रहा है। ये सारी बुराइयां हमें जनसंख्या की वृद्धि के फलस्वरूप दिखाई पड़ती हैं। जनसंख्या की वृद्धि से देश की गरीबी बहुत अधिक बढ़ गई है। इस तरह देश अवनति के मार्ग पर जा रहा है। यहाँ से सुख और शान्ति विदा हो रही है। देश के अधिकांश लोग भूखे और नंगे दिखाई पड़ रहे हैं। खाद्य-सामग्री का इतना अभाव है कि सदा दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। जो देश एक दिन सोने की चिड़िया के नाम से विख्यात था, वही आज भुक्खड़ देश कहा जाता है। माल्थस का सिद्धान्त यहाँ सही मानी में लागू है। खाद्य-पदार्थों में कोई वृद्धि नहीं हो रही है, पर जनसंख्या तेजी से बढ़ती जा रही है! नीचे दिये हुए आंकड़ों से यह और भी स्पष्ट हो जायगा कि किस अनुपात से यहां की जनसंख्या बढ़ रही है।

वर्ष	जनसंख्या	वृद्धि की दर प्रतिशत
१८८१ ई०	२५३८९६३३०	——
१८९१ ,,	२८७३१४६७१	——
१९०१ ,,	२९४३६१०५६	——
१९११ ,,	३१५१५६३९६	५.८
१९२१ ,,	३१८९४२४८०	०.३
१९३१ ,,	३५२८३७७७८	११.०
१९४१ ,,	३१४७९६३८०	१४.३
१९५१ ,,	३५६८२९४८५	१२.५

नोट:—१९३१ तक की जनसंख्या में बर्मा और पाकिस्तान की जनसंख्या सम्मिलित है।

उपर्युक्त वृद्धि-क्रम को देखते हुए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यदि वृद्धि का यही क्रम चलता गया तो यहाँ की जनसंख्या बढ़ कर १६६१ में ४३ करोड़ तथा इस शताब्दी के अन्त तक अर्थात् २००१ ई० में ७० करोड़ हो जायगी। इस तरह समस्या दिन-प्रतिदिन भीषणता ग्रहण करती जायगी।

कुछ लोगों का कथन है कि भारत में जनसंख्या की कोई समस्या ही नहीं है। इस विचारधारा के लोगों की दलील है कि भारत में जनसंख्या का घनत्व कोई अधिक नहीं है। इसका निर्णय वे विश्व के विभिन्न देशों की जनसंख्या के घनत्व से तुलना करते हुए बताते हैं कि भारत की जनसंख्या का घनत्व अन्य देशों से अधिक नहीं है, अतः यहाँ जनसंख्या की समस्या है, इसे माना नहीं जा सकता। यहाँ हम पाठकों की सुविधा के लिए विश्व की जनसंख्या के घनत्व सम्बन्धी आँकड़ों को देना उचित समझते हैं।

देश	ईस्वी	प्रतिवर्गमील जनसंख्या का घनत्व
भारत	१६५१	३०४
वेलजियम	१६४४	७०८
इङ्गलैंड और वेलस	१६४०	७०३
नीदरलैंड	१६४०	६३६
जापान	१६४०	२५०
संयुक्तराष्ट्र	१६३६	४३७
जर्मनी	१६४७	३८२
पाकिस्तान	१६४७	२००

उपर्युक्त आँकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि भारत में अन्य देशों की अपेक्षा जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है। किन्तु जनसंख्या के घनत्व से ही जनसंख्या की समस्या को नहीं आँका जा सकता है। जनसंख्या और जीवन-यापन के साधनों की समता नहीं रहने के कारण

जनसंख्या का घनत्व कम होने पर भी जनसंख्या वृद्धि की समस्या हो सकती है। जीवन-साधन की जहाँ तक अन्तिम सीमा है, वहाँ तक आबादी बढ़ती है। जब तक दोनों में समता रहती है; तब तक समस्या नहीं कही जाती। परन्तु जब जनसंख्या इतनी अधिक हो जाती है कि भोजन और निवास की कमी पड़ने लगती है तब जनसंख्या वृद्धि की समस्या को स्वीकार करना पड़ता है। जनसंख्या की प्राकृतिक मांग जीवन-यापन के साधनों तक ही सीमित है। इस तरह जनसंख्या के घनत्व के अनुसार हम जनसंख्या की समस्या का निर्धारण नहीं कर सकते। बेलजियम में जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक होने पर भी वहाँ जनसंख्या वृद्धि की वैसी समस्या नहीं है, जैसी हिन्दुस्तान की। दुनियाँ में सबसे अधिक जनसंख्या का घनत्व होते हुए भी वहाँ का जीवन-स्तर बंगाल की तुलना में काफी ऊँचा है। भारत में ही जनसंख्या का घनत्व स्थान की भिन्नता के अनुसार विभिन्न प्रकार का है। गंगा की घाटी, पूर्वी पंजाब और दक्षिण भारत (मालाबार का किनारा) में जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक है तो पहाड़ी प्रदेश और मरुभूमि में सबसे कम। एक तरफ हम देखते हैं कि बंगाल के उत्तरी भाग में १००० प्रति वर्गमील आबादी का घनत्व है, तो दूसरी ओर आसाम में २ व्यक्ति प्रति वर्गमील ही है।

जनसंख्या का घनत्व भौगोलिक परिस्थिति, भरण-पोषण के साधन, आवागमन के साधन, स्वास्थ्यकर जलवायु, जीवन की सुरक्षा आदि बातों पर निर्भर करता है। यही कारण है कि हर स्थान का घनत्व एक नहीं होता। जहाँ लोगों को विशेष सुविधा प्रतीत होती है वहाँ जनसंख्या का घनत्व स्वभावतः बढ़ जाता है। जहाँ की भौगोलिक परिस्थिति अच्छी होती है, जहां वर्षा अच्छी होती है, जहां आने-जाने में विशेष सुविधा रहती है, जहाँ की भूमि में उपजशक्ति विशेष होती है, जहाँ उद्योग-व्यवसाय अच्छे चलते हैं, ऐसे स्थानों में रहने की प्रायः

सभी की इच्छा होती है। अतः जहाँ ये सब सुविधाएँ हैं, वहाँ आबादी का घनत्व बहुत ही अधिक है।

भारत की कुल जनसंख्या ३५६८२९४८५ है, जिसमें १८३३०५६५४ पुरुष तथा १७३५२३८३१ स्त्रियां हैं। पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। देहात में रहने वालों की संख्या २९५००४२७१ तथा शहरों में रहने वालों की संख्या ६१८२५२१४ है। देहात में रहने वालों की संख्या यहाँ अधिक हैं। स्त्रियों की कमी यहाँ सदा से दिखाई पड़ती है। यहाँ कभी भी स्त्री-पुरुष की संख्या में समता नहीं रही है। नीचे दिये गये आंकड़ों से यह और भी स्पष्ट हो जयगा :—

सन्	प्रति १००० पीछे स्त्रियों की संख्या	स्त्रियों की कमी
१८९१	९५८	—
१९०१	९६२	५५ लाख
१९११	९५४	७५ लाख
१९२१	९४५	९० लाख
१९३१	९४०	१ करोड़ १० लाख
१९४१	९३४	—
१९५१	९४७	९७ लाख ८२ हजार

इस तरह हम देखते हैं कि पुरुष की तुलना में स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। परन्तु यह कमी सभी समुदायों में एक-सी नहीं है। किसी समुदाय में अधिक कमी है तो किसी में कम। सिक्खों में प्रति १०० पुरुष पीछे ७८ स्त्रियां, हिन्दू और क्रिश्चियनों में ९५, जैन और पारसी में ९४ और मुस्लिम में ९० है। इसी प्रकार सभी राज्यों में स्त्री और पुरुष के अनुपात में एक-सी विषमता नहीं है। उड़ीसा, मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन, कच्छ और मनिपुर में तो स्त्रियों की ही अधिकता है। इसके विपरीत पंजाब, पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पटियाला संघ, कुर्ग,

दिल्ली और अन्डमन-निकोबार में स्त्रियों की बहुत ही कमी है। विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ स्त्रियों की इतनी कमी है। यूरोपीय देशों में तो स्त्रियाँ की ही अधिकता है। नीचे दिये गये आंकड़ों से यह और भी स्पष्ट हो जायगा :—

देश	प्रति हजार पुरुष पीछे स्त्रियों की संख्या
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	९९३
इंगलैंड और वेल्स	१०८८
फ्रांस	१०७१
जर्मनी	१०५०
इटली	१०३७
स्वीडन	१०२२
भारत	९४७

भारत में अधिक स्त्री-मृत्यु के कारण यहाँ की स्त्रियों की कमी है। निम्नलिखित कारणों से यहाँ स्त्रियों की मृत्यु बहुत अधिक होती है :—

(१) सामाजिक कुरीतियाँ
(२) दक्ष दाइयों का अभाव
(३) स्त्री-जीवन की उपेक्षा
(४) गरीबी
(५) अधिक बच्चे पैदा होना

पर्दा प्रथा और बाल-विवाह के फलस्वरूप स्त्रियों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। परदे में सदा रहने के कारण स्त्रियां कमजोर हो जाती हैं तथा तरह-तरह की बीमारियों का शिकार हो जाती हैं। फलतः अल्पायु में ही जीवन से हाथ धो बैठती हैं। बाल-विवाह के फलस्वरूप अल्पायु में ही यौन-सम्बन्ध होने लगता है, जिसका बुरा परिणाम स्वास्थ्य पर पड़ता है। तरह-तरह की बीमारियां भी आ घेरती हैं। इस तरह स्त्रियों की मृत्यु-संख्या बहुत अधिक होती है।

कम उम्र में गर्भ धारण के फलस्वरूप प्रसव का खतरा भी विशेष होता है। अधिकांश स्त्रियों की मृत्यु सन्तानोत्पत्ति के समय होती है। दक्ष दाइयों के अभाव में भी प्रजनन के समय स्त्रियों की मृत्यु अधिक होती है। मूर्ख दाई के उपचार में बड़ी गड़बड़ी होती है।

भारत में स्त्री-जीवन की बड़ी उपेक्षा होती है। लड़कियों के जन्म से कोई खुशी नहीं मनाता। लड़कियां एक भार के रूप में अपनाई जाती हैं। यहाँ स्त्री-जीवन को इतना सस्ता समझा जाता है कि उसके बीमार पड़ने पर चिकित्सा की भी व्यवस्था नहीं की जाती। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त स्त्रियों की उपेक्षा ही होती रहती है। कितने ही स्थानों में तो लड़कियों को जन्म लेते ही मार दिया जाता है।

गरीबी के फलस्वरूप भोजन, वस्त्र और दवा के अभाव में भी बहुत-सी स्त्रियां मर जाती हैं। भारत में गरीबी इतनी अधिक बढ़ गई है कि इसके फलस्वरूप प्रति वर्ष बहुत से लोग मरते हैं और इन मरनेवालों में स्त्रियों की संख्या विशेष रहती है, क्योंकि स्त्रियों की चिकित्सा तो और भी नहीं होती।

यहाँ की स्त्रियों में प्रजनन शक्ति अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक है। मध्यप्रदेश में हिसाब लगा कर देखा गया तो ज्ञात हुआ कि वहाँ २ करोड़ १० लाख की जनसंख्या में ४८१२४४ माताएं हैं, जिनकी अवस्था १० वर्ष से लेकर १०० वर्ष से ऊपर है। इन माताओं में १५०० तो १०० वर्ष के लगभग की अवस्थावाली है और ५५१ उससे अधिक अवस्थावाली। इन माताओं ने २ करोड़ १० लाख बच्चों को जन्म दिया, परन्तु उन बच्चों में प्रति १००० में केवल २७० जिन्दा रहे। माताओं में ५६ ऐसी हैं, जिनमें से प्रत्येक ने २२ या उससे भी अधिक बच्चे पैदा किये। २० और २१ बच्चोंको जन्म देनेवाली पांच-पांच सौ हैं और १५ से १६ बच्चे पैदा करनेवाली ६००० हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भारत में स्त्रियां बहुत अधिक बच्चे पैदा करती हैं। अधिक

बच्चे पैदा करने के फलस्वरूप स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है और मृत्यु अधिक होती है। एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान पैदा होने में कम से कम २½ वर्ष का अन्तर रहना चाहिये, परन्तु यहाँ तो अधिकांश स्त्रियां ऐसी हैं जो प्रति वर्ष गर्भ धारण करती हैं।

विश्व की जनसंख्या में ५% लड़के-लड़कियों से अधिक पैदा होते हैं परन्तु बाल-मृत्यु के फलस्वरूप लड़के अधिक मर जाते हैं। इस तरह लड़कियों का औसत बढ़ जाता है। १५ वर्ष की उम्र तक तो यह अवस्था रहती है, पर उसके बाद उलटा दृश्य देखने को मिलता है। १५ से ४५ वर्ष के बीच स्त्रियों की मृत्यु अधिक होती है और इस तरह स्त्रियों की संख्या यहां कम है। उत्पादन काल में प्रजनन के समय अधिकांश मृत्युसंख्या पाई जाती है। इसके अतिरिक्त प्रजनन के फलस्वरूप उससे सम्बन्धित बीमारियों के कारण स्वास्थ्य की खराबी से बहुत-सी स्त्रियाँ मर जाती हैं। प्रजनन काल में अधिक स्त्रियों के मरने का कारण पूर्व तथा पश्चात् देख-रेख की कमी तथा असावधानी भी है।

यहाँ शहरों में स्त्रियों की बहुत कमी है। यूरोपीय देशों में बड़े-बड़े शहरों में स्त्रियों की ही अधिकता रहती है। परन्तु भारत में इसके विपरीत बातें पाई जाती हैं। १९४१ की जनगणना के अनुसार यहां के बड़े शहरों में स्त्रियों की संख्या इस प्रकार थी :—

कलकत्ता	४६४	प्रति	१०००
बम्बई	५८१	”	”
हावड़ा	५५०	”	”

इस कमी का एक प्रधान कारण है कि स्त्रियों को शहर में काम मिलता नहीं और परिवार को शहर में रखने में इतना अधिक खर्च पड़ता है कि साधारण आयवालों के लिए स्त्रियों को साथ रखना संभव नहीं है। यूरोपीय देशों में १०-२० वर्ष की उम्र में लड़कियाँ शहरों में घरेलू नौकरियों, क्लर्क, टाइपिस्ट आदि कामों में विशेष जाती हैं। इसके

अतिरिक्त ५० वर्ष से ऊपर के पुरुष अक्सर गांवों को लौट जाते हैं। इससे वहाँ शहरों में स्त्रियों की संख्या अधिक रहती है। भारत के शहरों में स्त्रियों की कमी से वेश्यावृत्ति, शराबखोरी और जूआ को अधिक प्रश्रय मिला है।

जनसंख्या, खाद्य-सामग्री, वस्त्र और मकान

पहले कहा जा चुका है कि यहां जनसंख्या का घनत्व कोई अधिक नहीं है। पाकिस्तान को छोड़ अन्य अन्नत देशों की जनसंख्या के घनत्व से यहाँ की जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है। परन्तु आर्थिक विकास को देखते हुए हमें कहना पड़ता है कि यहाँ जनसंख्या वृद्धि की समस्या है। वास्तविक मानी में समस्या तो है खाद्य सामग्री के अभाव की। खाद्य-सामग्री का ही नहीं वरन् वस्त्र और मकान की कमी की भी समस्या है। गत तीस वर्षों के भीतर यहाँ की जनसंख्या में १०६०००००० की वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के फलस्वरूप देश पर बहुत अधिक आर्थिक दबाव पड़ा है। अर्थ-व्यवस्था डाँबाडोल हो रही है और आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही लोगों ने जनसंख्या की समस्या को स्वीकार कर लिया है। इसके अलावा भारतीय सरकार के आगे कोई चारा नहीं था। बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भोजन, वस्त्र और मकान देना सम्भव नहीं है।

१९५१ की जनगणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या का ७०% प्रतिशत कृषि पर अवलम्बित है। प्रतिशत् के हिसाब में कोई वृद्धि नहीं हुई है। १९०१ की जनगणना में भी यही अवस्था थी। उस समय भी ७०% ही कृषि पर अवलम्बित था। प्रतिशत में कोई अन्तर न होते हुए भी आज भूमि पर अत्यधिक भार आ गया है, क्योंकि जनसंख्या में काफी अन्तर आ गया है, पर भूमि में कोई बृद्धि न हुई जिससे प्रति व्यक्ति भूमि का भाग बहुत कम रह गया है। प्रति व्यक्ति खाद्योत्पादन के लिए कम-से-कम २½ एकड़ अच्छी भूमि होनी चाहिए, परन्तु आज

यहां सिर्फ एक एकड़ भूमि प्रति व्यक्ति रह गई है। इस एक एकड़ में भी कृषि योग्य भूमि .७७ एकड़ ही प्रति व्यक्ति होती है। दिनोंदिन जन-संख्या की वृद्धि होती जा रही है और भूमि का औसत कम होता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में खाद्य-सामग्री का अभाव होना स्वाभाविक ही है। अब सरकार करे तो क्या ? खाद्य-सामग्री के अभाव में तरह-तरह की और समस्याएं भी बढ़ती जा रही हैं और लोगों में खलबली मची हुई है। सरकार स्वयं इससे परेशान है क्योंकि वह खाद्य-व्यवस्था में असफल हो रही है। सरकार ने अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन भी चलाया, परन्तु फिर भी असफलता ही हाथ लगी। इसबार पंच-वर्षीय योजना में खाद्य-सामग्री को बढ़ाने पर पूरा ध्यान दिया गया है। खाद्य-सामग्री ही नहीं वरन वस्त्र और मकान की समस्या को भी हल करने की काफी व्यवस्था की गई है। पाठकों की सुविधा के लिए पंच-वर्षीय योजना के अनुमानित व्यय का आंकड़ा यहां दिया जाता है। योजना में २०६९ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान लगाया गया है, जो इस प्रकार है :—

(रुपये करोड़ों में)

	१९५१-५६ में लागत		कुल लागत का प्रतिशत	
	पंचवर्षीय योजना	प्रारूप	पंचवर्षीय योजना	प्रारूप
कृषि और सामूहिक विकास	३६०.४३	१९१.६९	१७.४	१२.८
सिंचाई आर बिजली	५६१.४१	४५०.३६	२७.२	३०.२
यातायात और संवाद वाहन	४९७.१०	३८८.१२	२४.०	२६.१
उद्योग	१७३.०४	१००.९९	८.४	६.७
सामाजिक सेवाएं	३३९.८१	२५४.२२	१६.४	१७.०
पुनस्संस्थापन	८५.००	७९.००	४.१	५.३
विविध	५१.९९	२८.५४	२.५	१.९
	२०६८.७८	१४९२.९२	१००.०	१००.०

इस योजना के अनुसार कृषि में काफी वृद्धि की आशा की गई है। योजना के लागू होने पर उत्पादन में काफी वृद्धि होगी, क्योंकि इसमें सिंचाई, रासायनिक और देशी खाद, अच्छे बीज आदि की व्यवस्था की गई है। साथ ही किसानों को टेकनिकल सुधारों की जानकारी कराने की भी व्यवस्था की गई है। योजना में उत्पादन का अनुमान इस प्रकार किया गया है :—

	१९५०-५१	१९५५-५६
अन्न (लाख टनों में)	५२७	६१६
रुई (लाख गांठों में)	२९.७	४२.२
जूट (लाख गांठों में)	३३.०	५३.९
गन्ना (लाख टनों में)	५६	६३
तेलहन (लाख टनों में)	५१	५५

उत्पादन में अतिरिक्त वृद्धि की आशा इस प्रकार की गई है :—

		प्रतिशत वृद्धि
अन्न (लाख टनों में)	७६	१४
रुई (लाख गांठों में)	१२६	४२
जूट (लाख गांठों में)	२०.९	६३
गन्ना (लाख टनों में)	७.०	१२
तेलहन (लाख टनों में)	४.०	८

७६ लाख टन अन्न में चावल ४० लाख टन, गेहूं २० लाख टन, चना और दलहन १० लाख टन, ज्वार और बाजरा ५ लाख टन और शेष १ लाख टन अन्य अन्न उत्पादनका अनुमान किया गया है। गन्ने का उत्पादन गुड़ के रूप में तौल आंका गया है।

खाद्य समस्या के हलके लिये योजना में मत्स्य-पालन पर भी अधिक जोर दिया गया है। मछली की पैदावार में ५० प्रतिशत वृद्धि की आशा की गई है। १९५०-५१ में मछली की पैदावार सिर्फ १० लाख

टन है। इसे बढ़ाकर १९५५-५६ में १५ लाख टन करने की व्यवस्था की गई है। इस तरह पञ्चवर्षीय योजना से आशा की जाती है कि बहुत कुछ खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी। १९४८ से यहाँ प्रतिवर्ष ३० लाख टन खाद्य पदार्थ आयात करना होता है और इस पर सरकार को ५५० करोड़ रु० व्यय करना पड़ता है। योजना के अनुसार यह आशा की जाती है कि अब यह आयात नहीं करना पड़ेगा। पाँच वर्ष के अन्दर भारत कम से कम खाद्य के मामले में तो स्वतंत्र हो ही जायगा। भूमि सुधार तथा कृषि सुधार के अच्छे-अच्छे कार्यक्रम इस योजना में रखे गये हैं। दूषित भूमि-व्यवस्था को ठीक करने पर भी जोर डाला गया है। सबसे अधिक महत्व की बात जिस पर योजना में व्यवस्था सोची गई है, वह है दोषपूर्ण भूस्वामित्व के निराकरण के लिये एक विशेष गणना कराना तथा नई-नई व्यवस्था करना। इसके लिये कुछ उद्देश्य भी स्थिर किये गये हैं यथा—(१) भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करना (२) स्वयं खेती करने वाले जमीन के मालिकों के लिये सुविधाओं की व्यवस्था करना (३) निश्चित सीमा पर उत्पादन बनाये रखने के लिये कानून बनाना और (४) छोटे तथा मध्यम श्रेणी के भूस्वामियों को सहकारी कृषि के लिये प्रोत्साहित करना। इस तरह पर्याप्त भूमि सुधार हो जाने पर खाद्य-समस्या बहुत कुछ हल हो जायगी. साथ ही रुई का उत्पादन भी बढ़ेगा और १५ लाख गांठ रुई विदेशों से न मंगाना पड़ेगा। आज यहाँ रुई की खपत ४७ लाख गांठ है, जिसमें ३५ लाख गांठ यहीं हो जाती है तथा शेष १२ लाख गांठ रुई के लिये विदेशों का मुँह ताकना पड़ता है।

योजना में मकानों के बनाने की भी व्यवस्था की गई है। बहुत से मकान बनेंगे और आशा की जाती है कि १० वर्ष के अन्दर मकानों की समस्या भी हल हो जायगी। भोजन, वस्त्र और मकान की समस्या हल हो जाने पर जनसंख्या वृद्धि की समस्या नहीं अखरेगी। परन्तु

भारतीय सामाजिक समस्याएँ

लेखक
प्रोफेसर लक्ष्मीनारायण शास्त्री "समाज-विज्ञान-वेत्ता"
हिन्दी विद्यापीठ, देवघर

भूमिका लेखक
प्रोफेसर राजाराम शास्त्री
श्री काशी विद्यापीठ, बनारस

प्रकाशक
हिन्दी विद्यापीठ, वैद्यनाथ-देवघर

प्रथम संस्करण] संं० २०१० [मूल्य ५)